गीताविज्ञानभाष्य—भूमिका

लेखकः—

मोतीलालशर्म्मा-गौड़ः

जयपुरीयः

वैदिकविज्ञान सूर्य की तृतीय-
किरण
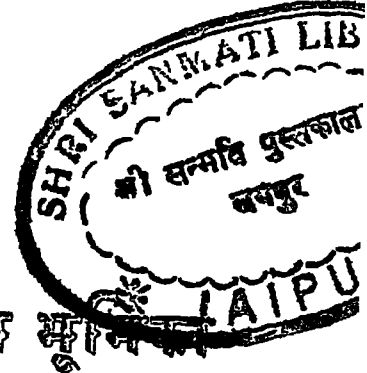
हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्य भूमिका
प्रथमखण्ड
१

भाष्यकार

वेदवीथीपथिक—
मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाज (गौड़)

श्रीवैदिकविज्ञानपुस्तकप्रकाशनफण्डद्वाराप्रकाशित

एवं

श्रीनवलकिशोरशर्म्मा काङ्कर (हैडपण्डित पी० पी० हाइस्कूल जयपुर,
भू० पू० प्रधानाध्यापक राजकीय राजगढ संस्कृत
पाठशाला, अलवर) द्वारा सम्पादित

मुद्रकः—
श्रीबालचन्द्रइलेक्ट्रिकप्रेस किशनपोलबाज़ार जयपुर, सीटी. (राजपूताना)

प्रथमसंस्करण १०००
वि०सम्वत् १९९६
मूल्य सजिल्द ४) डाकव्यय पृथक्

* सम्पादकीय वक्तव्य और प्रस्तावना

श्रीः

सम्पादकीयवक्तव्य

प्रिय पाठक गण !

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि आज हम एक अपूर्वदृष्ट, एवं अद्भुत पुस्तक आप लोगों के समक्ष उपस्थित कर रहे हैं। चिरकाल से हमारा यह संकल्प था कि "जयपुर के ही नहीं, अपितु भूमण्डल के प्रसिद्ध विद्वान् सर्वशास्त्र पारङ्गत परम श्रद्धेय श्रीमधुसूदनजी ओझा के प्रिय एवं प्रधान शिष्य सुहृद्वर पण्डित श्रीमोतीलालजी शास्त्री द्वारा लिखित श्रीमद्भगवद्गीता-हिन्दी-विज्ञानभाष्य प्रकाशित करें"। अपने इस संकल्प को कार्यरूप में परिणत करने के लिए जब जब शास्त्रीजी से प्रस्ताव किया गया, तब तब ही उनकी ओर से अर्थसमस्या की महा विभीषिका सामने आती रही, अतः हमें अद्यावधि मन मसोस कर ही रह जाना पड़ा।

ईश्वरेच्छा वास्तव में अघटित घटना पटीयसी है। लगभग चार महीने पहिले शास्त्री-जी की ओर से हमें यह शुभ सन्देश मिला कि "कलकत्ते के कुछ एक साहित्यप्रेमियों के आयो-जन से वहां के माननीय धनिकों ने थोड़ासा द्रव्य संग्रह किया है, और उनकी यह प्रेरणा हुई है कि हिन्दी-गीताभाष्य प्रकाशित किया जाय"। इस प्रकार शीघ्र ही यह सुअवसर येन केन प्रकारेण हाथ आ ही गया, और अविलम्ब उस भाष्य का प्रकाशन आरम्भ हो गया परिणाम स्वरूप भाषाभाष्य की भूमिका का यह प्रथमखण्ड आप लोगों के करकमलों में विराजित है।

यह किसी से भी तिरोहित नहीं है कि गुरुवर श्री ओझाजी महाराजने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिकतत्त्वान्वेषण में लगा कर शताब्दियों से नहीं, सहस्राब्दियों से जो वैदिकविज्ञान-तत्त्व अज्ञान की तमोमय गुहा में विलीन होरहे थे, उन्हें आलोक पहुंचाने के लिए द्विशताधिक ग्रन्थ रच कर प्रचण्ड मार्त्तण्ड का सा प्रखर प्रकाश फैला दिया है, और विज्ञानजगत् को सजग कर दिया है।

परन्तु हिन्दी संसार के लिए यह भी परम खेद का विषय है कि उक्त सब ग्रन्थ उच्च कोटि की संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं, जिनमें भी कई एक ग्रन्थ तो विशुद्ध पद्यमय बनते हुए

और भी अधिक दुरूह बन रहे हैं। फलतः आज का हिन्दी संसार उन से सर्वथा वञ्चित रह कर अधिक लाभ उठाने में असमर्थ ही बन रहा है।

हां संस्कृत साहित्य की इससे अवश्य ही परमोन्नति है। पर जो संस्कृतज्ञ हैं, वे भी इससे विशेष लाभ उठाते नहीं दीखते। कारण इस का यही है कि जो संस्कृतज्ञ हैं, उन्हे दैव-दुर्विपाक वश उदराराधना से ही समय नहीं मिलता। हां अवश्य ही कुछ एक एसे भी संस्कृतज्ञ विद्वान् हैं जो इस चिन्ता से विमुक्त रहते हुए इस कार्य में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु हम देखते हैं कि ऐसे विद्वान् कामिनी के विभ्रम विलास और लावण्यलहरी की कविता के रसास्वादन में हीं लगे रहते हैं। कुछ एक पुराने ढर्रे के एसे विद्वान् हैं, जो काव्य–नाटकों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए मौलिक साहित्यान्वेषण में प्रवृत्त रहते हैं। कहना न होगा कि इनका यह अन्वेषण कार्य्य व्याकरण–न्याय-वेदान्त आदि पर ही विश्राम किए हुए है। जिस वैदिकसाहित्य की तात्त्विक खोज के लिए अङ्गरूप इन व्याकरणादि शास्त्रों का उपयोग हुआ है, वह मौलिक वेद तो सर्वथा असंस्पृष्ट ही रह जाता है वैदिक विषयों की ओर दृष्टि डालना एवं ऐसे वैज्ञानिक जटिल विषयों का पढ़ना, और उनका प्रचार कर तद्द्वारा जनता को सत्य-मार्गानुगामिनी बनाना तो इन तीसरी कोटि के विद्वानों के लिए भी एक जटिल समस्या ही बन रहा है।

इधर आधुनिक संसार में हिन्दी ही सर्वत्र अबाध रूप से प्रचलित एवं सर्वमान्य, तथा लोकप्रिय बन रही है। द्रुतवेग से बढ़ते हुए इस प्रवाह ने उपकार कहां तक किया है, यह बतलाना कठिन है। हां यदि हिन्दी संसार बुरा न माने तो इसके सम्बन्ध में बिना किसी संकोच के यह कहा जासकता है कि हिन्दी साहित्य, एवं हिन्दीसाहित्य के विद्वान् भी मौलिकता से वञ्चित ही हो रहे हैं। हिन्दी ने चटकीले, रसीले सर्वथा कल्पित उपन्यासों को हमारे सामने रखते हुए आज आभ्यन्तर जगत् के उत्थान के स्थान में सर्वसाधारण का मस्तिष्क विकृत कर दिया है। अवश्य ही सर्वश्रीलोकमान्य तिलक का गीतारहस्य, चन्द्रकान्तवेदान्त, ज्ञानेश्वरीगीता आदि उच्चकोटि के वेदान्त ग्रन्थ भी हिन्दी का गौरव बढा रहे हैं, स्वर्गीय श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी द्वारा लिखित "कालिदास और भवभूति" "साहित्यसीकर" आदि ग्रन्थ काव्य-साहित्य

को भी उन्नत बनाने का प्रयास कर रहे हैं, श्रीरामदास गौड़ की "वैज्ञानिकी" "प्राच्य-पाश्चात्यविज्ञान" "भौतिकविज्ञान" आदि कृतियों ने विज्ञानजगत् में भी कुछ सनसनाहट पैदा की है, श्रीश्यामसुन्दरदास बी ए द्वारा भी "भाषाविज्ञान" "साहित्यालोचन" ये दो सुन्दर कृतिएं उपलब्ध हुई हैं, इस के अतिरिक्त सर श्रीराधाकृष्णा (नाबिलपुरस्कारप्राप्तकर्त्ता), श्रीभगवानदासकेला, श्रीहीराचन्द गौरीशङ्कर ओझा, श्रीजायसवाल, श्रीरामचन्द्र वर्म्मा, कॅवर रघुराजसिंह, मुन्शी देवीप्रसाद, श्रीजादूनाथ सरकार, श्रीरामचन्द्रशुक्ल, श्रीईश्वरीप्रसाद आदि महाभागों के द्वारा भी इतिहास, भाषाविज्ञान, दर्शन, आदि की खोज के सम्बन्ध में हिन्दीसाहित्य को विकास का अवसर मिला है। यह सब कुछ ठीक मानते हुए भी हमें यह स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि जिस मौलिक (वैदिक) साहित्य पर आर्य्यजाति का जीवन अवलम्बित है, उस ओर से अभी तक हम उदासीन ही हैं। फिर बतलाइए, ऐसे वातावरण में श्रीओझाजी महाराज के ग्रन्थों का प्रचार कैसे सम्भव होसकता है?

यद्यपि इस उलझन को सुलझाने के लिए आप के कतिपय उच्चकोटि के सुप्रसिद्ध शिष्यों ने अनेक यत्न भी किए, भाषा में समय समय पर इनकी ओर से कुछ निबन्ध भी लिखे गए, परन्तु अनन्यनिष्ठा से रहित इन का यह प्रयास भी पूर्णरूप से सफल न हो सका, और फिर सांसारिक कार्य्यों में अनवरत व्यस्त रह कर कौन किस कार्य्य में पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकता है।

विश्वेश्वर का नियतिचक्र सचमुच अगम्य है। पूज्य श्रीओझाजी के जिस वार्धक्यने हमें निराश कर दिया था, नियतिचक्र के अनुग्रह से वह निराशा आगे जाकर प्रतीक्षामयी एक सत्य आशा के रूप में परिणत हो गई, और आज तो उस प्रतीक्षा ने प्रत्यक्ष का ही रूप धारण कर लिया है। सम्भवतः दस पंद्रह वर्ष के पहिले की घटना है, जयपुर के सुप्रतिष्ठित विद्वान् स्व० श्रीबालचन्द्रजी शास्त्री के सुयोग्य पुत्र श्रीमोतीलालजी शास्त्री ने श्रीओझाजी से वैदिक विषयों का अध्ययन आरम्भ किया, और साथ ही में उनके प्रचार का कार्य्यभार अपने ऊपर लेते हुए हिन्दी में उन जटिल विषयों की विस्तृत विवेचना लिखना भी प्रारम्भ कर दिया।

जैसा कि हमने कई बार स्वयं शास्त्रीजी के मुख से भी सुना है, संस्कृत वाङ्मय साहित्य का गुप्तरहस्य हिन्दी में यथावत् कभी प्रकट नहीं किया जा सकता। फिर भी मित्रवर्ग की विशेष प्रेरणा से एवं "लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि" इस भगवदादेश की प्रेरणा से वर्त्तमान जगत् की भाषाप्रवृत्ति को लक्ष्य में रखते हुए शास्त्रीजी ने हिन्दीभाषा का ही आश्रय लेना आवश्यक समझा।

परिणाम स्वरूप कुछ समय पीछे ही आपनें वैदिक साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "शतपथ-ब्राह्मण" का "हिन्दीविज्ञानभाष्य" मासिक पुस्तकरूप से प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया, जो कि अर्थसमस्या की जटिलता से निरन्तर प्रकाशित न होता हुआ भी सुविधानुसार आज तक अपनी सत्ता सुरक्षित रख रहा है। इस के अतिरिक्त आपने विभिन्न वैदिक *विषयों पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिन में से विगत सवत्सर में हीं बम्बई की कमेटी की ओर से दो खण्डों में विभक्त, एक सहस्रपृष्ठात्मक "ईशोपनिषत्–हिन्दी–विज्ञानभाष्य" प्रकाशित होकर अपनी अपूर्वता प्रदर्शित कर चुका है। प्रकृत इस गीताविज्ञानभाष्य का स्थान आपकी प्रकाशित कृतियों में से (शतपथ एवं माण्डूक्यभाष्य को छोड़ कर) तीसरा है।

प्रस्तुत गीताभाष्य तीन खण्डो में संपन्न हुआ है। पहिला **भूमिकाकाण्ड**, दूसरा **श्रीकृष्णतत्त्वकाण्ड** एवं तीसरा **मूलभाष्यकाण्ड** है। पहिला भूमिकाकाण्ड भी त्रिखण्डात्मक है—बहिरङ्गपरीक्षात्मक, अन्तरङ्गपरीक्षात्मक, एवं सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक। प्रथमखण्ड में १५ प्रकरणों के द्वारा श्रीमद्भगवद्गीता के बाहिरी ऐतिहासिक स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। द्वितीयखण्ड में इस के अन्तरङ्ग विषयस्वरूप के प्रदर्शन के लिए दार्शनिक और वैज्ञानिकदृष्टि से आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा, इन विषयों का समावेश हुआ

* शास्त्रीजी की ओर से हिन्दीभाषा मे जो जो ग्रन्थ लिखे गए है, हम उनका संक्षिप्त परिचय हिन्दी एवं इंग्लिश की "परिचयपत्रिका" द्वारा शीघ्र ही अपने वेदप्रेमी पाठको के सम्मुख उपस्थित करने वाले हैं-- सम्पादक.

है। एवं तीसरे खण्ड में भक्तियोगपरीक्षा, बुद्धियोगपरीक्षा, गीतासारपरीक्षा, इन तीन विषयों के द्वारा गीता के सर्वान्तरतम गुह्य विषयों का स्पष्टीकरण हुआ है।

श्रीकृष्णतत्त्वकाण्ड नामक दूसरा काण्ड भी तीन खण्डों में ही विभक्त हुआ है। इस में अनेक प्रकरणों के द्वारा गीताचार्य श्रीकृष्ण का वैज्ञानिक स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। सर्वान्त में मूलभाष्य नामक तीसरा काण्ड हमारे सामने आता है। २४ खण्डों में विभक्त इस तृतीय मूलभाष्यकाण्ड में २४ उपनिषदों में विभक्त १६० उपदेशों का मौलिक रहस्य निरूपित हुआ है।

यद्यपि संसार में अबतक गीताशास्त्र पर अनेक टीकाएं, एवं भाष्य लिखे जाचुके हैं। जिन में कोई **कर्मयोग** का पाठ पढ़ाने वाला है, कोई **ज्ञानयोग** की शिक्षा दे रहा है, तीसरा कोई **भक्तियोग** का ही उपदेष्टा बन रहा है। इसके अतिरिक्त कई एक व्याख्याता युक्तियुक्त तीनों का समन्वय ही गीता का मुख्य उद्देश्य माने बैठे हैं उनका कहना है कि—

"गीताशास्त्र हमें ज्ञान, कर्म्म, एवं भक्तियोग का समानरूप से पाठ पढ़ाता है। हम यह प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि ज्ञान और भक्ति के बिना हमें अपने कर्म (काम) से चित्त को शान्ति नहीं मिलती। प्रत्येक कार्य में आलोक और उत्साह की आवश्यकता होती है। ज्ञान आलोक प्रदान करता है, आगे का मार्ग सूचित करता हुआ हमारे कार्य्य का पथ-प्रदर्शक बनता है, एवं श्रद्धामयी भक्ति ईश्वरीय बलप्रदान द्वारा कर्ममार्ग में हमारा उत्साह बढ़ाती है। अत ज्ञान और भक्ति के साथ कर्म्म करने वाला ही सफलता पा सकता है। यद्यपि वह जानता है कि इस क्रियमाण कार्य मे अमुक फल की प्राप्ति होगी, पर ज्ञानयोग के कारण उसे ईश्वर पर पूरा भरोसा रहता है, अत· वह सानन्द कर्म्म में निरन्तर प्रवृत्त रहता हुआ भी निर्लिप्त बनता हुआ मोक्ष क अधिकारी बन जाता है"।

यह तो हुआ पुराने व्याख्याताओं का विचार। अब प्रकृत भाष्य के मूल उद्देश्य का विचार कीजिए। हमारा यह गीताविज्ञानभाष्य ज्ञान-भक्ति-कर्म्म इन तीनों प्रचलित योगों में से

किसी एक का भी निरूपण न कर, तीनों से सर्वथा अपूर्व, एवं कालदोष से विलुप्तप्राय चौथे "बुद्धियोग" की ही अथ से इति तक शिक्षा दे रहा है।

गीताशास्त्र का यह अपूर्व बुद्धियोग वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य्य, धर्म्म इन चार भागों में विभक्त है। वैराग्यबुद्धिप्रतिपादिनी **राजर्षिविद्या**, ज्ञानबुद्धिप्रतिपादिनी **सिद्धविद्या**, ऐश्वर्यबुद्धिप्रतिपादिनी **राजविद्या**, एवं धर्म्मबुद्धिप्रतिपादिनी **आर्षविद्या** ही गीता का मुख्य विषय है। अस्तु. इस भाष्य में क्या विलक्षणता है, यह तो पाठक भाष्यावलोकन से ही निश्चय कर सकेंगे—**"न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते"**। वक्तव्य अधिक होगया है। अब हमारे प्रिय पाठकों पर ही इसकी उपादेयता, किंवा अनुपादेयता का भार डालते हुए इसे हम यहीं समाप्त करते हैं।

प्रस्तुत भूमिकाप्रथमखण्ड में सम्पादन, संशोधन, एवं प्रकाशन आदि के सम्बन्ध में हम से जहां तक होसका है, सावधानी रक्खी है। तथापि कमेटी के द्वारा होने वाली त्वरा से, प्रेस के प्रमाद से, हमारे बुद्धिदोष से जो त्रुटिएं रह गईं हैं, उनके लिए सम्पादक के अतिरिक्त और कोन उत्तरदायी होसकता है? और वह सिवा क्षमा-प्रार्थना के कर भी क्या सकता है। अतः हम भी तदर्थ इसी लोकप्रचलित अकर्त्तव्यात्मक कर्त्तव्य का अनुसरण किए लेते हैं।

इति शम्।

पी०पी०हाईस्कूल
जयपुर, २०—६—३६

विनम्रः—
सम्पादकः
नवलकिशोरशर्म्मा—काङ्करः

प्रस्तावना

थय कृष्णावतार पूर्ण पुरुष के अनुग्रह से ही आज हम अपने गीताप्रेमियों के सम्मुख गीताविज्ञानभाष्यभूमिका का बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड उपस्थित करने में समर्थ होसके हैं। आशा है, नवीन दृष्टि को (नहीं ! नहीं !! सर्वथा प्राचीन दृष्टि को) अपना लक्ष्य बनाने वाली यह भाष्यभूमिका पाठकों के मनोरञ्जन के साथ साथ उन्हें गीता के किसी अपूर्व सिद्धान्त का अनुगामी बनावेगी।

जयपुर के प्रधान राजपण्डित, विद्यावाचस्पति, समीक्षाचक्रवर्त्ती गुरुवर श्री १०८ श्रीमधुसूदनजी ओझा के पवित्र नाम से, एवं उनकी विज्ञाननिधि से कोई भी भारतीय विद्वान् अपरिचित न होगा। आपने भारतीय साहित्य पर, विशेषतः वैदिक साहित्य पर संस्कृत वाङ्मय में लगभग २८८ स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं। १०—१२ ग्रन्थो को छोड़ कर शेष ग्रन्थ अप्रकाशित अवस्था में रहते हुए हमें अभिशाप ही दे रहे हैं।

पूज्य ओझाजी ने गीता पर एक स्वतन्त्र भाष्य लिखा है। यह भाष्य चार काण्डो में विभक्त हुआ है। रहस्य-शीर्षक-आचार्य-हृदय भेद से काण्डचतुष्टयात्मक इस भाष्य ने सचमुच गीता के सम्बन्ध में एक अपूर्व युग उपस्थित कर दिया है। जैसा कि आज सर्वसाधारण में गीता के सम्बन्ध में कर्म्म-भक्ति-ज्ञानयोग नामक तीनो सिद्धान्तो में परस्पर अहमहमिका चल रही है, इसके विरुद्ध भाष्यकार की ओर से सर्वथा अपूर्व, एवं एकान्तः रहस्यपूर्ण लुप्तप्राय बुद्धियोग सिद्धान्त स्थापित हुआ है। अद्वैतवादी गीता को ज्ञानयोगशास्त्र मान रहे हैं, साम्प्रदायिकों की दृष्टि में गीता भक्तियोगशास्त्र है एवं कल्पनात्मिक कुछ एक अर्वाचीन राष्ट्रवादियो ने इसे कर्म्मयोग शास्त्र मानने का

दुराग्रह किया है। भाष्यकार की दृष्टि में गीता लोकप्रचलित इन तीनों निष्ठाओं से सर्वथा भिन्न, भगवान् के-"एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः' इन शब्दों में महाभारतयुग से बहुत पहिले केवल विवस्वान् श्रद्धादेवमनु, भारतीयसम्राट् इक्ष्वाकु, मिथिलेश विदेह जनक इत्यादि राजर्षियो में ही गुरु-शिष्य परम्परा से सुरक्षित, किन्तु महाभारत समय में सर्वथा A नष्ट, पुनः उसी पूर्णावतार द्वारा (वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा) B अर्जुन के प्रति उपदिष्ट उस पुरातन योग (राजर्षिविद्यानुगत, वैराग्यलक्षण बुद्धियोग नामक योग) का प्रतिपादन करती है।

जिसप्रकार देवयुग के आरम्भ में अन्यशरीरावच्छिन्न अव्ययावतार द्वारा सर्वप्रथम C विवस्वान् के प्रति उपदिष्ट गीतायोग कालदोष से आगे जाकर सर्वथा नष्ट हो गया था, एवं महाभारत में उस का अर्जुन निमित्त से पुनरुद्धार हुआ था, एवमेव महाभारत और वर्त्तमानकाल के बीच में अधिक काल होजाने से वह योग पुनः नष्ट हो गया। पुनः उन्हीं लोकप्रचलित कर्म्म-भक्ति ज्ञाननिष्ठाओं ने गीता के उस पुरातन रहस्ययोग का आसन छीन लिया।

यही कारण है कि महाभारत से लगभग एक सहस्रवर्षों के पीछे से आरम्भ कर आजतक गीता पर जितने भाष्य, जितनीं व्याख्याएं, जितनीं टिपप्णिएं हुई हैं, उन सब में कर्म्म-भक्ति-ज्ञान तीनो में से किसी एक की ही प्रधानता उपलब्ध होती है। हां एक व्याख्याता ने अवश्य ही इस सम्बन्ध में अपने बुद्धियोग से काम लिया है। उसने किसी व्याख्याता का अनुगमन न कर, केवल गीता के अक्षरों को लक्ष्य बना कर स्वतन्त्ररूप से गीतार्थ का समन्वय करने की चेष्टा की है, और वह पुरुषपुङ्गव अपने इस प्रयास में आंशिकरूप से सफल भी हुआ है। गीताप्रेमी विद्वानों से हम आग्रह करेंगे कि वे "महामहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य"

A स कालेन महता योगो नष्टः परन्तप ! (गी० ४।२)।

B. स एवायं मयातेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ (गी० ४।३)।

C. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् (गी०४।१)।

विरचित "भगवद्गीतार्थसंग्रह" नाम की सबसे प्राचीन उस बुद्धियोगानुगामिनी गीताव्याख्या पर अवश्य ही एक बार दृग्पात करें।

पाठकों को यह जान कर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि गीतातत्त्व की उक्त दुर्दशा से क्षुब्ध बने हुए जगदीश्वर की प्रेरणा से ही श्रीओझाजी के द्वारा वह विलुप्त योग पुनः हमारे सामने आया है। महापुरुषों के परिमार्ज्जित ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली भाषा स्वभावतः गभीरार्थ को अपने गर्भ में रखती हुई अति संक्षिप्त होती है। इसीलिए सर्वसाधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते। फिर श्रीओझाजी की कृतियों के सम्बन्ध में तो यह समस्या और भी जटिल बनी हुई है।

गीता उपनिषदों का सार है, उपनिषत् वेद का ही अन्तिम भाग है। अत एव जब तक वैदिकतत्त्वो का विज्ञानयुक्त ज्ञानदृष्टि से पूर्णतया आलोडन विलोडन नहीं कर लिया जाता, तब तक तत्सारभूता गीता का यथावद् समन्वय कर लेना कठिन ही नहीं, अपितु नितान्त असम्भव है। इधर विगत शताब्दियों से वैदिकसाहित्य के प्रति भारतीय विद्वानों की जो उपेक्षा चली आ रही है, उससे तो हमारी समस्या और भी अधिक जटिल बन जाती है जहां उपलब्ध भाष्य, एवं व्याख्याएं ज्ञानप्रधाना दर्शनदृष्टि को लिए हुए अनुपयुक्त बन रहे हैं, वहां श्री ओझाजी का *विज्ञानभाष्य संस्कृतभाषा से (वह भी अतिसंक्षिप्त), एवं वैदिकविज्ञानप्रधाना वैज्ञानिकदृष्टि से युक्त बनाता हुआ सर्वसाधारण की कौन कहे, विद्वानों तक के लिए एक समस्या बन रहा है।

---

* पूज्य ओझाजी के चतुष्काण्डात्मक भाष्य के शीर्षककाण्ड, रहस्यकाण्ड जयपुरराज्य की सहायता से (लॉ जनरल प्रेस इलाहाबाद में) क्रमशः १०४, १ ६ पृष्ठों में प्रकाशित होगए हैं। तीसरा आचार्यकाण्ड प्रकाशित हो रहा है। सम्भवतः यह २०० पृष्ठो मे सम्पन्न होगा। चौथा हृदयकाण्ड अभी अप्रकाशित ही है, साथ ही मे अभीतक इसे ग्रन्थ का रूप भी नहीं मिला है। इधर कुछ समय से श्रीओझाजी अस्वस्थ रहते हैं। अतएव हृदयकाण्ड (मूलकाण्ड) का काम अभी रुका हुआ है।

लेखक को श्रीओझाजी के अन्तेवासी होने का सौभाग्य प्राप्त है। उसी सौभाग्य के बल पर उसने उक्त समस्या सुलझाने का संकल्प किया। फलस्वरूप तीन काण्डों में हिन्दीविज्ञानभाष्य बहिर्जगत् की वस्तु बना। कृष्णतत्त्वविवेचन-परीक्षाकाण्ड-मूलकाण्ड भेद से तीन काण्डों में विभक्त यह हिन्दीभाष्य, क्रमशः १५०० पृष्ठों में निरूपित कृष्णतत्त्वविवेचन नामक प्रथमकाण्ड, १५०० पृष्ठों में निरूपित परीक्षाकाण्ड एवं ४००० पृष्ठों में निरूपित मूलकाण्ड (मूलभाष्य), संभूय ७००० पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। प्रथमकाण्ड ३ खण्डों में, द्वितीयकाण्ड ३ खण्डों में, एवं तृतीयकाण्ड २४ खण्डों में (पाठकों की सुविधा के लिए) विभक्त हुआ है।

गीता एक उपनिषत् नहीं है, अपितु २४ उपनिषदों का संग्रहशास्त्र है, जैसा कि गीता के "इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु" इस अध्यायोपसंहार वाक्य से स्पष्ट है। सम्पूर्ण गीता में अव्यय के विद्याभाग से सम्बन्ध रखने वाली **राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या** इन चार विद्याओं का क्रमशः (आरम्भ से ६—२—४—६ इस अध्याय क्रम से) निरूपण हुआ है, एवं विद्याओं के साथ साथ अव्ययात्मा के कर्म से सम्बन्ध रखने वाले राजर्षिविद्यानुगत **वैराग्यबुद्धियोग**, सिद्धविद्यानुगत **ज्ञानबुद्धियोग** राजविद्यानुगत **ऐश्वर्यबुद्धियोग**, एवं आर्षविद्यानुगत इन **धर्मबुद्धियोग** चार बुद्धियोगों का निरूपण हुआ है।

योगप्रतिपादिकात्मिका चारो विद्याओं में क्रमशः ८—२—३—७ इस क्रम से २० उपनिषदें एक उपनिषत् चातुर्विद्योपक्रम प्रकरण में, तीन उपनिषदें चातुर्विद्योपसंहार प्रकरण में, सम्भूय गीता में २४ उपनिषदें प्रतिष्ठित हैं। एक उपनिषदात्मक उपक्रमप्रकरण में २ उपदेश अष्टोपनिषदात्मिका राजर्षिविद्या में उपनिषत् क्रम से ७-७-७-३-३-५-९—सम्भूय ५० उपदेश, द्व्युपनिषदात्मिका सिद्धविद्या में उपनिषत् क्रम से १९—९—सम्भूय १९ उपदेश, त्र्युपनिषदात्मिका राजविद्या में उपनिषत् क्रम से ११—१५—६, सम्भूय ३२ उपदेश, सप्तोपनिषदात्मिका आर्षविद्या में उपनिषत् क्रम से ६—५—७—४—२ —२—२—सम्भूय ४९ उपदेश, त्र्युपनिषदात्मक उपसंहार प्रकरण में उपनिषत् क्रम से ४—२—२—सम्भूय ८ उपदेश, इसप्रकार सम्पूर्ण गीताशास्त्र की २४ उपनिषदों में १६० स्वतन्त्र उपदेश हुए हैं। इन ६ ओ प्रकरणों में गीतासप्त-

शती (गीता के ७०० श्लोक) क्रमशः-६४-२१६-५८-१५१-१८१-१७-५ इस श्लोक क्रम से विभक्त है। यह तो हुआ चार-सहस्रपृष्ठात्मक, चौबीस खण्डों में विभक्त स्वयं विज्ञान-भाष्य का रूपरेखाप्रदर्शन। अब पन्द्रह सहस्र पृष्ठात्मक, एवं तीन खण्डों विभक्त **परीक्षा-काण्ड** के विषयों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

परीक्षाकाण्ड के प्रथम खण्ड में बहिरङ्गदृष्टि से गीता की परीक्षा हुई है, जैसा कि पाठक आगे की विषयसूची में देखेंगे। आगे के दोनो खण्ड अन्तरङ्गदृष्टि एवं सर्वान्तरतमदृष्टि से सम्बन्ध रखते हैं। सात सौ पृष्ठात्मक द्वितीयखण्ड में **आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्म-योगपरीक्षा** इन तीन प्रकरणों का समावेश हुआ है, एवं यही अन्तरंगपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड है। पान्सौ पृष्ठात्मक तृतीयखण्ड में **ज्ञानयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा, बुद्धियोगपरीक्षा, गीतासारपरीक्षा,** इन चार प्रकरणों का समावेश हुआ है। यही सर्वान्तरमपरीक्षात्मक तृतीय खण्ड है। इस प्रकार खण्डत्रयात्मक परीक्षाकाण्ड सोलहसौ पृष्ठो में सम्पन्न हुआ है।

श्रीकृष्णतत्त्वनिरूपणात्मक प्रथमकाण्ड के प्रथमखण्ड में **पुरुषकृष्णरहस्य, अव्यक्तकृष्ण-रहस्य, परमेष्ठीकृष्णरहस्य, वैहायसकृष्णरहस्य** इन चार प्रकरणो का, द्वितीयखण्ड में **परात्परकृष्णरहस्य, ईश्वरकृष्णरहस्य, चाक्षुषकृष्णरहस्य, सत्यकृष्णरहस्य** इन चार प्रकरणों का, एवं तृतीयखण्ड में **प्रतिष्ठाकृष्णरहस्य, ज्योतिःकृष्णरहस्य, गीताकृष्णरहस्य, मानुपोत्तमकृष्णरहस्य,** इन चार प्रकरणों का समावेश हुआ है। तीनों खण्ड लगभग १५०० पृष्ठो में सम्पन्न हुए हैं।

गीताभाष्य के अतिरिक्त **शतपथब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य, दशोपनिषद्धि-न्दीविज्ञानभाष्य, ऋषिरहस्य, श्राद्धविज्ञानादि** इतर ग्रन्थों की पृष्ठसंख्याओं का यदि संकलन किया जाता है तो वैदिक विज्ञान की मूलभित्ति पर प्रतिष्ठित इस साहित्य की संख्या लगभग ४८-५० सहस्र पृष्ठों पर पहुँच जाती है। यह निर्विवाद है कि एक साहित्यसेवी अहोरात्र अध्ययन लेखनादि में व्यस्त रहता हुआ स्वय इसका प्रकाशन करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। इसी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए दो वर्ष पहिले हमनें बम्बई की यात्रा की

थी । वहां जो कुछ प्रयत्न हुआ, वह **"शाकाय वा स्यात्, लवणाय वा स्यात्"** को ही चरितार्थ कर सका । बम्बई में पांच सहस्र का आयोजन हुआ । इसका उपयोग वहीं की कमेटी द्वारा प्रकाशन सम्बन्धी सामान (मशीनरी-टायप आदि) में हुआ । इस भार का वहन कर उस ऋण के परिशोध की आवश्यकता प्रतीत हुई । जैसे तैसे करके विगत दो संवत्सरों में इसी परिशोध के लिए एक सहस्र पृष्ठात्मक, दो खण्डों में विभक्त **ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य** प्रकाशित हुआ । बम्बई कमेटी के शेष ऋण के परिशोध के लिए सहस्रपृष्ठात्मक, दो खण्डों में विभक्त **"उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका"** का प्रकाशन हो रहा है । प्रथमखण्ड लगभग समाप्त है । सम्भवतः पौष मास तक यह कार्य पूरा हो जायगा ।

पुनः हमारे सामने वही अर्थविभीषिका उपस्थित हुई । फलत. गतवर्ष हमें कलकत्ते जाना पड़ा । वहां कैसे, कितना आयोजन हुआ यह बतलाने का अवसर नहीं है । हां वहां जो कुछ आयोजन हुआ है, वह यदि सफल होजाय तो कम से कम गीता के दो काण्ड अवश्य ही कलकत्ते की कमेटी की ओर से प्रकाशित होसकते हैं । परन्तु मित्रों के द्वारा समय समय पर हमें जो समाचार मिलते रहते हैं, उन्हे देखते हुए अभी इस सम्बन्ध में निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता । पहिले तो वहां का आयोजन ही न के समान है, फिर अभी उसकी भी पूरी सम्भावना नहीं, ऐसी दशा में हमें अवश्य ही प्रकाशन की सुव्यवस्था के लिए निकट भविष्य में और कोई मार्ग निकालना पड़ेगा। अस्तु. प्रस्तुत गीताभाष्यभूमिका प्रथमखण्ड के प्रकाशन का श्रेय कलकत्ते की कमेटी को ही है । **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्"** के अनुसार इस स्वल्पतम आयोजन के लिए भी कमेटी हृदय से अभिनन्दनीय है । द्वितीयखण्ड का प्रकाशन कब होगा? इसका उत्तर कालपुरुष पर निर्भर है, अथवा उन महानुभावों पर अवलम्बित है, जो कि वचनात्मक आश्वासनो के साथ इस साहित्य के अनुगामी बने हुए हैं ।

प्रस्तुत प्रयास लोकरुचि के अनुकूल उपादेय होगा कि नहीं ? इस प्रश्न का समाधान करने में हम असमर्थ हैं । जनता इसे अपनावे, अथवा उपेक्षा करे, इस में कोई हानि लाभ नहीं है । **"स्वान्तः सुखाय"** सम्पत्ति सुरक्षित है, और यह क्या कम लाभ है । इसी लाभ को

लक्ष्य बनाते हुए, उसी आत्मदेवता के प्रति समर्पणभाव आगे करते हुए यह संक्षिप्त प्रस्तावना समाप्त की जाती है ।

गच्छतः स्खलनं वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥
प्रीयतामनेनात्मदेवतेति-शम् ।

विधेयः—

द्वि॰ श्रा॰ शु॰ पूर्णिमा
वि॰ सं॰ १९९६

मोतीलालशर्म्मा-भारद्वाजः (गौड़ः)
जयपुर-राजधानी

※ विषयसूची

❀श्रीः❀

हिन्दी-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका प्रथमखण्ड की

संक्षिप्त— विषयसूची

* श्रीः *

विषयसंग्रह

* श्रीः *

हि० गी० वि० भा० भूमिका प्र० की

विस्तृत विषय सूची

आत्मनिवेदन समाप्त

१—विषयोपक्रम १—६

* कर्म्मचारियो की असावधानी से पृष्ठसंख्या में गड़बड़ होगई है। ५८ से आगे ५९ न आकर ५१ आगया है। पाठक सुधारलें।

च—(गीताशब्दनिरुक्ति) १४४ से १४७

विषय	पृष्ठसंख्या

६

१०–संख्यारहस्य २१७ से २४४ पर्य्यन्त

—०—

*** बुद्धियोग का स्वरूपनिर्वचन**

-११-

१२—गीता का बुद्धियोग-२७७ से ३०८ पर्यन्त

—०—

*** (१)—वैराग्यबुद्धियोग**

——१——

—४—

—१२—

१३—विद्या एवं योग के सम्बन्ध में भगवद्गीता-२०९ से २५४ पर्यन्त

—०—

(१)—विद्याविभाग

—१३—

१४—महाभारत और गीता
(ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति)
३५५ से ३८७ पर्य्यन्त

—*—

—०—

-१४-

समाप्ता चेयं भाष्यप्रथमखण्डस्य

विस्तृतविषयसूची

आत्मनिवेदन

❀ श्रीः ❀

* कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् *

———o———

❀ आत्मनिवेदन ❀

लोकसंग्रह में थोड़ा भी विरोध न आवे, यह सिद्धान्त एक सामान्य मनुष्य के लिए अवश्य ही एक जटिल समस्या है। आज हम भी इसी समस्या के लक्ष्य बन रहे हैं। हम जानते है कि वर्त्तमान युग भूमाभाव को किसी भी दृष्टि से पसन्द नहीं करता। प्रत्येक कर्म्म में, प्रत्येक विषय में संकोच, एवं शीघ्रता ही आज का मुख्य युगधर्म्म है। "काम थोड़ा करै, लाभ अधिक हो। परिश्रम न करना पड़े तो सबसे अच्छा, यदि अवसर आ भी जाय तो परिश्रम परिश्रम की दृष्टि से न किया जाय। अध्यन कम करना पड़े, ज्ञान विशेषरूप से प्राप्त हो। पढ़ना थोड़ा पड़े, अनुरञ्जन विशेष हो।" यह है कुछ एक मूलमन्त्र, जिनके अव्यर्थ प्रयोगो से भारतीय प्रजा आज व्यामोह में पड़ी हुई है।

प्रजा की इस मनोवृत्ति के मूल कारण का जब हम अन्वेषण करने चलते हैं तो इसके मूल में हमें "अर्थसमस्या" रूप विषवीज उपलब्ध होता है। और भी अधिक गहराई में जाने पर इस विषवीज के भी बीज "आवश्यकतावृद्धि" के दर्शन होते है। सर्वान्त में आविष्कारो पर विश्राम करना पड़ता है। सिद्धान्तवादी कहा करते हैं कि "आवश्यकता आविष्कार की जननी है"।

उक्त सिद्धान्त का तात्पर्य यही है कि संसार में नित्यप्रति जो अद्भुत अद्भुत आविष्कार हो रहे हैं, वस्त्र-गृह-पात्र-आदि उपयोग में आने वाले पदार्थों का जो दिन दिन नवीन विन्यास हो रहा है, इसका एकमात्र कारण आवश्यकता है। जनसमाज ज्यो ज्यो सभ्यता में आगे वढ़ता जा रहा है, त्यों त्यों उसकी आवश्यकताएं वढ़तीं जारहीं हैं। संसार क्रमशः विकास की ओर जारहा है। फलतः उसका बौद्धजगत् भी क्रम क्रम से उन्नति की ओर अग्रेसर हो रहा है।

इस उन्नति क्रम के साथ साथ आवश्यकताओं की वृद्धि भी स्वाभाविक है। इस के साथ ही उपयोग में आने वाली आवश्यक सामग्री में सभ्यता विकास के अनुरूप संशोधन भी परम आवश्यक है। सभ्यता को मूल में रखने वाली आवश्यकता जब आविष्कारों की जननी है तो आविष्कारों को कोई दोष नहीं दिया जासकता। अपनी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए आविष्कारों से लाभ उठाना भी आवश्यक है। यह तभी संभव है, जब कि हम अपनी आर्थिक परिस्थिति में विकास करें। जब हम असभ्य थे तो हमारी आवश्यकताएं भी कम थीं। इस कमी से आविष्कारों का द्वार भी अवरुद्ध था। फलतः परिमित अर्थ से ही हमारे जीवन की समस्याएं हल होजातीं थीं। जब हम सभ्य बन गये हैं, अथवा बनते जारहे हैं, तो ऐसी दशा में उस असभ्य दशा में जीवन निर्वाह करना हमारे लिए असम्भव है। अवश्य ही आवश्यकतानुसार हमें आर्थिक समुन्नति करनी पड़ेगी। यह तभी सम्भव है, जब कि हम अर्थ को ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य बनालेंगे। इस में भी यह शर्त है कि अर्थ के द्वार सर्वथा सुगम हों। सिनेमा, नाटक, रेडियो, चोपाटी का भ्रमण, लेक की घुड़दौड़ें, शालामार बाग की स्वच्छ हवा, विदेशयात्रा, होटलों में शान्ति पूर्वक भोजन, बाथरूम की चिरन्तन उपासना, केश-वेश संवरण यह सब भी तो सभ्यता के ही अत्यावश्यक अङ्ग हैं। भला यदि हम दिन रात अर्थोपार्ज्जन में ही अपना समय लगा देंगे तो यह सभ्यता किस के नाम पर आंसू बहायेगी।

हां ठीक तो है। आज हमारी बुद्धि विकसित है। हम अपने बुद्धिबल से बिना श्रम किए ही सब कुछ कर सकते हैं। सभ्यता की रक्षा के लिए मिथ्याभाषण, जालसाजी, बनावटी ढोंग, धूर्त्तता आदि आविष्कार पर्य्याप्त हैं। इन के सहारे थोड़े श्रम से हम अर्थसञ्चय में पूर्ण सफलता प्राप्त करते हुए, उन आविष्कारों के द्वारा अपनी सभ्यता को पूर्णरूप से सुरक्षित रखते हुए अपने जीवन को धन्य बना सकते हैं।

कहना न होगा कि आज ऐसे ही महानुभावों का इस देश में प्राचुर्य्य है। देश के और ओर मौलिक भावों पर इस प्राचुर्य्य का आक्रमण कैसा हुआ, किस प्रकार इन अर्थलालसामूलक सभ्यतारक्षक आविष्कारों से शान्तिसंवाहक भारत देश का कला-कौशल जीर्ण शीर्ण बन गया?

इन सब परिस्थितियों की मीमांसा करने का न तो प्रकृत में अवसर ही है, एवं न इस घातक नीति के विवेचन की हम योग्यता ही रखते हैं। इन प्रवृत्तियों से देश की जो नग्न दशा होरही है, वही इस सभ्यता, शिक्षा, अर्थसञ्चयलालसा, एवं आविष्कारों की उपयोगिता में ज्वलन्त प्रमाण है। कहना है हमें केवल अपने साहित्य के सम्बन्ध में।

आरम्भ में "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" यह सिद्धान्त वतलाया गया है। यह सिद्धान्त एक आस्तिक की दृष्टि से सर्वथा नगण्य है। कारण स्पष्ट है। आवश्यकता की वृद्धि का मूल कारण भौतिक प्रपञ्च है। क्षणिकविज्ञानवाद भौतिक विज्ञानवाद है। इस से विश्व के भौतिक पदार्थों को प्रोत्साहन मिलता है। पदार्थ का स्वरूप क्षणिक क्रिया से संपन्न हुआ है। क्षणिक-क्रिया अव्यक्त-व्यक्त अव्यक्त इन तीन भावों से युक्त रहती हुई नास्तिरूपा है। अस्तितत्व शान्ति की परम प्रतिष्ठा है। यह विशुद्ध सत्ताभाव ही ब्रह्म है, जैसा कि वर्तमान सभ्यता के अन्यतम शत्रु भारतीय ऋषि कहते हैं —

*प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम् ॥ (पञ्चदशी)

इसी सत्ता ब्रह्म के आधार पर नास्तिरूप भौतिक प्रपञ्च प्रतिष्ठित है। अस्ति ब्रह्म का उपासक एक आस्तिक सत्ता को मूल में रखता हुआ ही अपनी आवश्यकताओं का अन्वेषण करने के लिए आगे बढ़ता है। परिणाम इस सत्तामूलाश्रय का यह होता है कि वह भौतिक विश्व इस के अन्तर्जगत् में विशेष प्रभाव नहीं जमा सकता। शरीरयात्रा निर्वाह के लिए कम से कम संख्या में जितने साधन अपेक्षित होते हैं, वह उन्हीं से पूर्ण तुष्ट रहता हुआ अस्तिब्रह्म की उपासना के बल पर शान्ति से अपना जीवन व्यतीत कर देता है। अस्तिब्रह्म जहां शान्ति, तुष्टि, तृप्ति की मूलभित्ति है, वहां नास्तिरूप भौतिक विश्व अशान्ति, असन्तोष, एवं तृष्णा का मूलाधार है। आस्तिक की

*जो सम्पूर्ण भेदभावों से रहित है, जो विशुद्ध सत्तारूप है, जो वाणी से अगम्य है, वही शुद्ध सत्तारूप ज्ञान ब्रह्म कहलाता है।

सभ्यता जहां अस्तिब्रह्म से सम्बन्ध रखती है, वहां विश्वोपासक की सभ्यता का नास्तिरूप भौतिक विश्व से सम्बन्ध है।

भौतिक विश्व का स्वरूप क्रिया से संपन्न हुआ है, क्रिया क्षणिक है। इसी क्षण-भाव के कारण इसमें अणुमात्र भी प्रतिष्ठा नहीं है। जिसमें प्रतिष्ठा का आत्यन्तिक अभाव होता है, उसे "शून्य" कहा जाता है। अतएव नास्तिरूप विश्व के उपासक नास्तिकोंने विश्व का—"शून्यं शून्यं–दुःखं दुखं–स्वलक्षणं स्वलक्षणं–क्षणिकं क्षणिकं" यह लक्षण माना है। शून्यभाव सदा शून्य है। यह कभी पूर्ण बन जायगा, यह सर्वथा असम्भव है। तृष्णा को मूल में रखने वाले शून्य क्रियामय भौतिक पदार्थ, किंवा भौतिक आविष्कार कभी पूर्णतालक्षण संतोष, किंवा तृप्ति के कारण नहीं बनसकते। यही नहीं, जिसप्रकार शिकारी के जाल में तृप्ति की आशा से आया हुआ मृग जैसे जैसे उस जाल से निकलने का प्रयास करता है, वैसे वैसे ही वह अधिकाधिक उसमें फंस जाता है, ठीक उसी तरह शान्ति का इच्छुक मनुष्य शान्तिलालसा से इन भौतिक पदार्थों में आसक्त होता हुआ उत्तरोत्तर अशान्त ही बनता जाता है। दूसरे शब्दों में यह सांसारिक वैभव अशान्तिरूप अग्नि के लिए आहुति बनता हुआ उत्तरोत्तर इस की वृद्धि का ही कारण बनता है। जैसा कि भौतिक विषयों से संत्रस्त महाराज ययाति ने कहा है—

×न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

अस्तिब्रह्म का रूप जहां भूमा है, नास्तितत्व वहां अल्पता से सम्बन्ध रखता है। आस्तिक दर्शन के अनुसार भूमा ही सच्चा सुख है, एवं अल्पता ही दुःख है। जैसा कि

×-सांसारिक भौतिक कामनाएं उपभोग से कभी शान्त नहीं होतीं। अपितु जिसप्रकार अग्नि हवि (आहुति) से उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रज्वलित होता है, इसी प्रकार यह भौतिक कामनाएं उपभोग से समृद्ध ही बनतीं हैं।

'यो वै भूमा तत् सुखं, यदल्पं तदु दुःखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमानमित्युपास्व" (छां०उप० ७।२३।१।) इत्यादि औपनिषद सिद्धान्त से स्पष्ट है। भूमा बहुत्व का नाम है, इस बहुत्व का एकमात्र अस्तिलक्षण आत्मा के साथही सम्बन्ध है। अल्पता कमी है, इस की प्रतिष्ठा का सम्बन्ध नास्तिलक्षणा विश्वसम्पत्ति के ही साथ है। ऐसी दशा में केवल भौतिक विश्व से भूमालक्षण वास्तविक सुख की आशा करना दुराशामात्र है। इसी भौतिक रहस्य के आधार पर ऋषियों के "नामृतत्वस्य तु–आशास्ति वित्तेन" "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय" यह सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं।

उक्त अस्ति–नास्तितत्वनिरूपण से निष्कर्ष यह निकलता है कि विश्व का मानव समाज अस्ति–नास्ति भेद से दो भागों में विभक्त है, विभक्त है क्या विभक्त था। आज तो दोनों का आसन एक ही व्यक्तिने ग्रहण कर रक्खा है। "इदमस्ति" (यह है) इस अस्तिज्ञान का परिचायक एकमात्र सूर्य देवता है। सूर्यसत्ता ही अस्तिभाव की प्रतिष्ठा है। जब सूर्य अस्त होजाता है तो सम्पूर्ण अस्तिप्रपञ्च नास्तिभाव में परिणत होजाता है। विश्वसत्ता की भी प्रतिष्ठा यही सूर्य्य है, एवं हमारी आत्मसत्ता का आश्रय भी यही सूर्य्य है, जैसा कि—"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इत्यादि श्रौत सिद्धान्तों से स्पष्ट है।

सचमुच यह बड़ा ही चमत्कार है कि जो आत्मा हमारे अस्तिलक्षण आत्मा की प्रतिष्ठा है, वही आत्मा नास्तिलक्षण शरीर, किंवा भौतिक पदार्थों की भी प्रतिष्ठा है। वही सूर्य अपने एकरूप से हमारा आत्मा बना हुआ है, वही सूर्य एक दूसरे रूप से भौतिक पदार्थों का प्रभव बनता हुआ हमारा शरीर बना हुआ है। सूर्य के यही दोनों विरुद्ध रूप क्रमशः मित्र-वरुण नाम से प्रसिद्ध हैं। मित्ररूप से वही हमारा आत्मा है, वरुणरूप से वही हमारा शरीर

१-भौतिक सम्पत्ति से नित्य सुखरूप अमृतभाव की आशा करना केवल दुराशा है।

उस आत्मदेवता को पहिचान लेने से ही मनुष्य मृत्युरूप दुःख से छुटकारा पासकता है। सुखप्राप्ति के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है। सूर्य जड-चेतन पदार्थों का आत्मा है।

है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि मित्ररूप से वह आत्मसृष्टि का प्रवर्त्तक है, एवं वरुणरूप से भूतसृष्टि, किंवा अर्थसृष्टि का जनक है।

उत्तर-दक्षिण ध्रुव से सभी पाठक परिचित हैं। इन दोनों ध्रुवों से स्पर्श करती हुई जो रेखा दक्षिणोत्तर जाती है, वही मध्यान्हरेखा कहलाती है। इसी को याम्योत्तरवृत्त कहा जाता है, यही ध्रुवप्रोतवृत्त नाम से भी प्रसिद्ध है। यद्यपि यह वृत्त संख्या में ३६० होते हैं। परन्तु यहां हमें उस वृत्त से प्रयोजन है, जो मध्यरात्रि, एवं मध्यान्ह से सम्बन्ध रखता है, जो कि मध्यवृत्त आख्यानरहस्यभाषा में 'उर्वशी अप्सरा' नाम से प्रसिद्ध है। यही मध्यान्हवृत्त सूर्य के उक्त मित्र--वरुणभावों का विभाजक है। यही वृत्त पूर्व--पश्चिम दिक् का विभाजक है। मध्यान्ह एवं मध्यरात्रि के इधर इधर का भाग (जिसके क्षितिज पर सूर्योदय होता है) पूर्वादिक् है, उधर उधर का भाग (जिसके क्षितिज पर सूर्यास्त होता है) पश्चिमादिक् है। पूर्वादिक् पूर्वकपाल है, इसी में सूर्य का मित्ररूप प्रतिष्ठित है। पश्चिमादिक् पश्चिम कपाल है, इसी में सूर्य का वरुणरूप प्रतिष्ठित है।

वैदिक परिभाषानुसार शत्रु को **वरुण** कहा जाता है, एवं स्नेही को **मित्र** कहा जाता है। स्वयं मित्र--वरुण शब्द ही इस अर्थ को प्रकट कर रहे हैं। स्नेहनार्थक **"ञिमिदा"** (ञिमिदा स्नेहने--पा०भ्वादि०७४३धा०) धातु से मित्र शब्द संपन्न हुआ है। जो व्यक्ति, अथवा जो तत्व हमारे साथ मिलता रहे, हमारी ओर आता रहे, हमारे अनुकूल रहे, उसी का नाम मित्र है। पूर्वकपाल में रहने वाला सौरतत्व हमारी ओर आता रहता है, हमारे साथ स्नेह करता रहता है--(हमसे मिलता रहता है), अतएव एतत्कपालावच्छिन्न स्नेही सौरतत्व को हम अवश्य ही मित्र कहने के लिए तय्यार हैं। रात्रि के बारह बजे बाद से दिन के १२ बजे तक इस सौरतत्व की यही दशा रहती है। यही तत्वसत्ता हमारे लिए ज्योति है, ज्योति प्रकाश है, प्रकाश ही अहःकाल का सूचक माना गया है। इसी रहस्य के आधार पर वैज्ञानिक अहोरात्र (दिन--रात) विभाग के अनुसार रात के १२ बजे से दिन के १२ बजे तक अहःकाल माना जाता है। इसी को शब्दशास्त्रवेत्ता **"अद्यतन"** (आज का दिन) शब्द से सम्बोधित करते हैं।

संवरणार्थक वृञ् धातु से (वृञ् वरणे–पा०क्र्यादि० १.४८७धा०) से वरुण शब्द निष्पन्न हुआ है। जो व्यक्ति, अथवा जो तत्व हमसे वियुक्त होता रहे, हमसे सिमटता रहे, हमारे प्रतिकूल रहे, वही तत्व, किंवा व्यक्ति वरुण है। पश्चिम कपाल में रहने वाला सौरतत्व हम से पृथक् होता रहता है, हमसे दूर भागता रहता है, अतएव तत्कपालावच्छिन्न शत्रुमूर्त्ति इस सौर तत्व को हम अवश्य ही वरुण कहने के लिए तय्यार हैं। दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे तक इस सौरतत्व की यही दशा रहती है। यह तत्वसत्ता हमारे लिए तम है, तम ही अन्धकार है, अन्धकार ही रात्रिकाल का सूचक माना गया है। इसी आधार पर दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजे तक का काल रात्रिकाल माना गया है। वैय्याकरण लोग इसी को "अनद्यतन" (आगामी दिन) कहते हैं।

मित्रतत्व ही इन्द्र है। "रूप रूपं मघवा बोभवीति" इस ऋक्सिद्धान्त के अनुसार इन्द्र ज्योति का अधिष्ठाता है, वरुणदेवता पानी के देवता माने गए हैं। दूसरे शब्दो में ज्योतिर्मय प्राण का नाम इन्द्र है, एवं आप्यप्राण का नाम वरुण है। इन्द्र देवसृष्टि के मूलाधार हैं, वरुण असुरसृष्टि के प्रवर्तक हैं। दोनों में परस्पर अश्वमाहिष्य (सहजवैर) है। इन्द्र पूर्वदिशा के दिक्पाल हैं तो वरुण पश्चिम दिशा के दिक्पालमाने गए हैं। जहा पूर्व दिशा में सूर्य्योदय होता है, वहां पश्चिम दिशा में सूर्य्यास्त है।

इन्द्रतत्व आत्मा की प्रतिष्ठा है, वरुणतत्व शरीर की प्रतिष्ठा है। शरीर वही उत्तम माना जाता है, जिस में पानी अधिक होता है। आबूदार शरीर का ही कुछ मूल्य है। जिस के शरीर का पानी उतर गया, वह शरीर निकम्मा है। आत्मा वही श्रेष्ठ माना जाता है, जिस में प्रकाश लक्षण विकास अधिक रहता है। विकसित आत्मा का ही कुछ मूल्य है। जिस के आत्मा में से विकास निकल गया, वह जड़ है। इस प्रकार लोकसृष्टि वरुण पर निर्भर है, एवं लोकी की सृष्टि इन्द्र पर निर्भर है। कारण स्पष्ट है। पानी के अध्यक्ष वरुण ही पानी से लोक निर्म्माण करते हैं। सातो लोक *आपोमेय हैं। जिस

*अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः।
आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत्॥ (महाभारत)।

पृथिवी में हम रहते हैं, वह भी "अद्भ्यः पृथिवी (तै०उ०२।१।)" इस तैत्तिरीय सिद्धान्त के अनुसार पानी का ही पिण्ड है। उधर हमारा शरीर भी पानी का ही रूपान्तर है। शुक्र-शोणित दोनों अप्प्रधान हैं। इन्हीं के मिथुनभाव से शरीर बना है, जैसा कि—"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" (छा०उप०५।९।१।) इस पञ्चाग्निविद्यासिद्धान्त से स्पष्ट है। लोक, किंवा शरीरसृष्टि अर्थसृष्टि है। सूर्य्यदेवता आपोमय वरुणरूप से ही इस भौतिकसृष्टि के भाग्य विधाता बनते हैं, एवं अपने उसी इन्द्रप्राण से वे इस भौतिक प्रपञ्च के आत्मा बनते हैं। वे ही विश्वात्मा हैं, वे ही विश्वरूप है, जैसा कि निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट होजाता है—

१—विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः **प्राणः** प्रजानामुदयत्येष **सूर्य्यः** ॥

(प्रश्नोपनिषत्)

२—दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरे अर्थस्तरणिर्भ्राजमानः।
नूनं जनाः सूर्य्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि ॥

(ऋक् सं०७।६३।४।)

३—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्म्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं **सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** ॥

(यजुःसं०७।४।२।)।

अहोरात्रस्वरूपसंधाता, देवासुरप्रवर्त्तक, आत्म–लोक प्रभव, ज्योतिः–तमोरूप इन्हीं मित्र-वरुणों, किंवा इन्द्र–वरुणों का स्पष्टीकरण करते हुए निम्न लिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं।

अहोरात्रे — मित्रावरुणौ —

१—अहर्वै मित्रः (ऐ०ब्रा०४।१०)।
२—मैत्रं वा अहः (तै०ब्रा०१।७।१०।१)।
→ मित्रः—अहः

१—रात्रिर्वरुणः (ऐ०ब्रा०४।१०।)।
२—वारुणी रात्रिः (तै०ब्रा०१।७।१०।१)
→ वरुणः—रात्रिः

१—अहर्वै देवा अश्रयन्त, (ऐ०ब्रा०४।५)
२—रात्रीमसुराः (अश्रयन्त), (")
१—दिवा देवानसृजत, तद्देवानां देवत्वम् (षड्विंशब्रा०४।१) ।
२—नक्तमसुरान् (असृजत) तदसुराणामसुरत्वम् (") ।
१—अथ यत् पुरस्ताद्वासीन्द्रो राजा भूतो वासि । (जै०उ०३।२१।२)।
२—अथ यत् पश्चाद्वासि वरुणो राजा भूतो वासि । (जै०उ०३।२१।२)।
१—आपो वरुणस्य पत्न्य आसन् । (तै०ब्रा०१।१।३।८) ।
२—इमे वै लोकाः सरिरम् (सलिलम्) । (श०७।५।२।३४) ।
१—असौ वाव ज्योतिः, तेन सूर्य्यं नातिशंसति । कौ०२।३,९) ।
२—संज्योतिषा-अभूमेति, संदेवैरभूमेत्येवैतदाह । (श० १।९।३।१४) ।
३—एष एवेन्द्रः, य एष (सूर्य्यः) तपति । (शत०२।३।४।१२) ।

एक चमत्कार और देखिए । इन्द्र का रूप ज्योतिःप्रधान होने से शुक्ल है—'यत्-शुक्लं, दैन्द्रम्" (शत० १२।९।१।१२) । वरुण का रूप तमःप्रधान होने से कृष्णवत् है—"अथ यत् कृष्णं, तदपां रूपम्" (जै०उ० १।२५।९) । दोनो क्रमशः दिव्य, एवं आसुरी सृष्टि के, दूसरे शब्दों में आत्मा, एवं शरीर के प्रभव हैं । जिस के आत्मा में वरुण की प्रधानता होती है, उस का हृदयस्थ आत्मेन्द्र आत्मस्थान को छोड़ कर शरीर में प्रतिष्ठित होजाता है । वरुण का साम्राज्य अन्तस्तल में, इन्द्र की सत्ता बहिःस्तल में, यह वारुणी सृष्टि का स्वरूप है । इन का आत्मा कृष्ण आपोमय वरुण के कारण मलिन रहता है, उधर शरीर शुक्ल इन्द्र के कारण शुक्ल रहता है । साथ ही में ये वारुण मनुष्यों की प्रधानदृष्टि शरीर पर ही रहती है । आत्मा चाहे और भी अधिक मलिन बन जाय, परन्तु शरीर साफ सुथरा चिकना चुपड़ा रहना चाहिए ।

ठीक इस के विपरीत जिस के आत्मा में इन्द्र की प्रधानता रहती है, उस के शारीरवरुण भाग को अन्तःप्रवेश करने का अवसर नहीं मिलता। अन्तस्तल में इन्द्र का साम्राज्य, बहिःस्तल में वरुण की सत्ता रहती है। इन का आत्मा शुक्ल इन्द्र के कारण निर्म्मल रहता है, उधर शरीर कृष्ण वरुण की सत्ता से कृष्ण, अथवा गेंहुएं वर्ण का होता है। साथ ही में ऐसे ऐन्द्र मनुष्यों की प्रधान दृष्टि आत्मा पर रहती है। शरीर स्वस्थ रहे, इस के अतिरिक्त इन का शरीरचिन्ता से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जो पदार्थ शरीर को बल देते हैं (अण्डे-मांस आदि), किन्तु आत्मा को मलिन बना देते हैं, उन की यह उपेक्षा कर देते हैं।

यद्यपि उक्त नियम का यत्र तत्र देशविशेषों में आंशिक रूप से अपवाद अवश्य ही रहता है। परन्तु सामान्य रूप से पश्चिम दिशा में वारुणमनुष्यों की ही प्रधानता है, एवं पूर्वीय देशों में ऐन्द्र मनुष्यों की ही प्रधानता है। वे शरीर से गौर, परन्तु आत्मा से मलिन हैं। यह शरीर से कृष्ण, किन्तु आत्मा से निर्मल हैं। उन का उपास्य भौतिक वैभव है, इन का उपास्य आत्मवैभव है। वे रात्रि के अनुयायी हैं, अन्धकार (अज्ञानरूप क्षणिक विज्ञान) के उपासक हैं, यह अहःकाल के अनुयायी हैं, प्रकाश (ज्ञान) के उपासक हैं। वे वरण बनते हुए वरुण हैं।

पानी का ही तो नाम वरुण है। वस्तुतः इस का नाम वरण है। यह जहां जिस स्थान पर आक्रमण करता है, उस स्थान को चारों ओर से घेर कर अपनी सत्ता जमा लेता है। पानी अपनी सत्ता के आगे दूसरे का अभ्युदय सहन नहीं कर सकता। क्योंकि यह सब का संवरण कर व्याप्त हो जाता है, अतएव इस पानी को वरण कहा जाता है। वरण शब्द ही परोक्षप्रिय वैज्ञानिकों की परोक्षभाषा में वरुण कहलाता है। वरुण शब्द के इसी रहस्य का उद्‌घाटन करती हुई श्रुति कहती है—

"(आपः)-यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभवत्। तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण-मित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः" (गो. पू. १।७)।

पानी स्पर्श में बड़ा ही ठंढा है, आवश्यकता से अधिक नम्र है। परन्तु जो इससे स्नेह करता हूं, उसे अपने गर्भ में लेता हुआ यह भोला भाला पानी उसका सदा के लिए

नाम निशान मिटा देता है । पानी सत्यमर्यादा से च्युत है, ऋतप्रधान है । इसका कोई नियत मार्ग नहीं है । अपने स्वाभाविक ऋतभाव के कारण यह अपने लिए कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेता है । वारुणी प्रजा का भी तो यही स्वभाव है ।

इन्द्रतत्व ही मित्र है । मित्रतत्व अनुकूल होता हुआ भी सत्यमार्ग में प्रतिष्ठित है । सौर रश्मियों को देखिए न, कैसा नियत मार्ग है । एक तिल आगे रख दीजिए, क्या मजाल जो रश्मि अपना नियत मार्ग छोड़कर इधर उधर चली जाय । तिल से टकराकर वह उसी मार्ग से वापस लौट जायगी । साथ ही में अपने ज्योतिर्भाव के कारण यह स्वभाव में भी उग्र है, इसीलिए तो इस सत्यसूर्य को तपन (तपता हुआ) कहा गया है । परन्तु यह अपनी इसी सत्य शक्ति से दोषों को निकाल देता है, आत्मा निर्मल कर देता है, सर्वत्र अपनी विभूति का प्रदान किया करता है । वरुण की तरह यह अन्धकार में, धोके में नहीं डालता, अपितु सब का विकास कर देता है । ऐन्द्रीप्रजा का भी तो यही स्वरूप है ।

दोनों दल क्रमशः पूर्व-पश्चिम दिक् में विभक्त हैं । पश्चिमी देश अन्तःकृष्ण, बहिः-शुक्ल हैं । पूर्वीय देश अन्तःशुक्ल बहिःकृष्ण हैं । पाश्चात्य देश भौतिकवाद, किंवा जड़वाद का उपासक है । पूर्वदेश आत्मवाद, किंवा चैतन्यवाद का अनुगामी है । वे साम्राज्य लोलुप हैं । इसी अभिप्राय से एक स्थान पर पश्चिमी राजाओं की मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

+"तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानोयेऽपाच्यानां स्वाराज्यायैव ते ऽभिषिच्यन्ते। स्वराडित्येनानभिषिक्तानाचक्षते" (ऐ० ब्रा० ३।१४।)

+—"पुरोडाशं दशकपालं निर्वपत् कृष्णानां व्रीहीणाम्' (तै० ब्रा० ३।१।५।६)–तद्धि वारुणं यत् कृष्णम्'-खलतेर्विक्लिधस्य शुक्लस्य पिङ्गाक्षस्य मूर्द्धन् जुहोति । एतद्वै वरुणस्य रूपम् ।" (तै० ब्रा० ३।६।।५।३।) इत्यादि श्रुतिए इसी रहस्य का स्पष्टीकरण कर रही हैं । वरुण के लिए कृष्ण व्रीहि का विधान है । वारुणयज्ञ में कालावस्त्र दिया जाता है । अन्तिम श्रुतिने तो स्पष्टरूप से ही वारुण

ठीक इस के विपरीत जिस के आत्मा में इन्द्र की प्रधानता रहती है, उस के शारीरवरुण भाग को अन्तःप्रवेश करने का अवसर नहीं मिलता। अन्तस्तल में इन्द्र का साम्राज्य, बहिःस्तल में वरुण की सत्ता रहती है। इन का आत्मा शुक्ल इन्द्र के कारण निर्म्मल रहता है, उधर शरीर कृष्ण वरुण की सत्ता से कृष्ण, अथवा गेंहुएं वर्ण का होता है। साथ ही में ऐसे ऐन्द्र मनुष्यों की प्रधान दृष्टि आत्मा पर रहती है। शरीर स्वस्थ रहै, इस के अतिरिक्त इन का शरीरचिन्ता से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जो पदार्थ शरीर को बल देते हैं (अण्डे-मांस आदि), किन्तु आत्मा को मलिन बना देते हैं, उन की यह उपेक्षा कर देते हैं।

यद्यपि उक्त नियम का यत्र तत्र देशविशेषों में आंशिक रूप से अपवाद अवश्य ही रहता है। परन्तु सामान्य रूप से पश्चिम दिशा में वारुणमनुष्यों की ही प्रधानता है, एवं पूर्वीय देशों में ऐन्द्र मनुष्यों की ही प्रधानता है। वे शरीर से गौर, परन्तु आत्मा से मलिन हैं। यह शरीर से कृष्ण, किन्तु आत्मा से निर्मल हैं। उन का उपास्य भौतिक वैभव है, इन का उपास्य आत्मवैभव है। वे रात्रि के अनुयायी हैं, अन्धकार (अज्ञानरूप क्षणिक विज्ञान) के उपासक हैं, यह अहःकाल के अनुयायी हैं, प्रकाश (ज्ञान) के उपासक हैं। वे वरण बनते हुए वरुण हैं।

पानी का ही तो नाम वरुण है। वस्तुतः इस का नाम वरण है। यह जहां जिस स्थान पर आक्रमण करता है, उस स्थान को चारों और से घेर कर अपनी सत्ता जमा लेता है। पानी अपनी सत्ता के आगे दूसरे का अभ्युदय सहन नहीं कर सकता। क्योंकि यह सब का संवरण कर व्याप्त हो जाता है, अतएव इस पानी को वरण कहा जाता है। वरण शब्द ही परोक्षप्रिय वैज्ञानिकों की परोक्षभाषा में वरुण कह लाता है। वरुण शब्द के इसी रहस्य का उद्घाटन करती हुई श्रुति कहती है—

> "(आपः)-यच्च वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरणोऽभवद् । तं वा एतं वरणं सन्तं वरुण-मित्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः" (गो. पू. १।७)।

पानी स्पर्श में बड़ा ही ठंढा है, आवश्यकता से अधिक नम्र है। परन्तु जो इससे स्नेह करता हूं, उसे अपने गर्भ में लेता हुआ यह भोला भाला पानी उसका सदा के लिए

नाम निशान मिटा देता है । पानी सत्यमर्य्यादा से च्युत है, ऋतप्रधान है । इसका कोई नियत मार्ग नहीं है । अपने स्वाभाविक ऋतभाव के कारण यह अपने लिए कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेता है । वारुणी प्रजा का भी तो यही स्वभाव है ।

इन्द्रतत्व ही मित्र है । मित्रतत्व अनुकूल होता हुआ भी सत्यमार्ग में प्रतिष्ठित है । सौर रश्मियों को देखिए न, कैसा नियत मार्ग है । एक तिल आगे रख दीजिए, क्या मजाल जो रश्मि अपना नियत मार्ग छोड़कर इधर उधर चली जाय । तिल से टकराकर वह उसी मार्ग से वापस लौट जायगी । साथ ही में अपने ज्योतिर्भाव के कारण यह स्वभाव में भी उग्र है, इसीलिए तो इस सत्यसूर्य को तपन (तपता हुआ) कहा गया है । परन्तु यह अपनी इसी सत्य शक्ति से दोषों को निकाल देता है, आत्मा निर्मल कर देता है, सर्वत्र अपनी विभूति का प्रदान किया करता है । वरुण की तरह यह अन्धकार में, धोखे में नहीं डालता, अपितु सब का विकास कर देता है । ऐन्द्रीप्रजा का भी तो यही स्वरूप है ।

दोनों दल क्रमशः पूर्व-पश्चिम दिक् में विभक्त हैं । पश्चिमी देश अन्तःकृष्ण, बहिः शुक्ल हैं । पूर्वीय देश अन्तःशुक्ल बहिःकृष्ण हैं । पाश्चात्य देश भौतिकवाद, किंवा जड़वाद का उपासक है । पूर्वदेश आत्मवाद, किंवा चैतन्यवाद का अनुगामी है । वे साम्राज्य लोलुप हैं । इसी अभिप्राय से एक स्थान पर पश्चिमी राजाओं की मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

> +
> "तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो येऽपाच्यानां स्वाराज्यायैव ते ऽभिषिच्यन्ते। स्वराडित्येनानभिषिक्तानाचक्षते" (ऐ० ब्रा० ३।१४।४)

+—"पुरोडाशं दशकपालं निर्वपत् कृष्णानां व्रीहीणाम्' (तै० ब्रा० १।१।५।६)–तद्धि वारुणं यत् कृष्णम्'-खलतेर्विक्लिधस्य शुक्लस्य पिङ्गाक्षस्य मूर्द्धन् जुहोति । एतद्वै वरुणस्य रूपम् ।' (तै० ब्रा० ३।६।५।३) इत्यादि श्रुतिएं इसी रहस्य का स्पष्टीकरण कर रही हैं । वरुण के लिए कृष्ण व्रीहि का विधान है । वारुणयज्ञ में कालावस्त्र दिया जाता है । अन्तिम श्रुतिने तो स्पष्टरूप से ही वारुण

निष्कर्ष यही हुआ कि सूर्य के देवप्रधान ऐन्द्र, किंवा मित्ररूप से आर्यप्रजाकी उत्पत्ति हुई है, एवं सूर्य्य के असुरप्रधान वरुणरूप से अनार्यप्रजा का विकास हुआ है। इसी आधार पर वेदरहस्यवेत्ता मनुने देश को आर्य—अनार्य भेदों से दो भागों में विभक्त किया है। "हम काले हैं, असभ्य हैं। वे गौर हैं, सभ्य हैं" इस कृष्ण गौर का यही सङ्क्षिप्त इतिहासहै।

अब उन भौतिक आविष्कारों पर, एवं उनसे सम्बन्ध रखने वाली सभ्यता-आवश्यकताओं पर दृष्टि डालिए। वरुणदेवता से सम्बन्ध रखने वाले पश्चिमी देश यदि "आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है" इस सिद्धान्त के समर्थक बनें तो कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि उनकी दृष्टि पूर्व कथनानुसार भौतिक प्रपञ्च पर ही है, जोकि भौतिक प्रपञ्च, किंवा जड़विज्ञान कुछ समय के लिए विनोद का कारण बनता हुआ भी अन्ततो गत्वा विनाश का ही कारण बनता है। आवश्यकताओं की उत्तरोत्तर वृद्धि ही पश्चिमी देशो का आदर्श है।

इधर ऐन्द्र पूर्वीय देशों का आदर्श इनसे सर्वथा भिन्न है। इन की दृष्टि प्रधानरूप से आत्मा पर ही है। आत्मा स्वयं समृद्ध है। उस के सामने भौतिक प्रपञ्च तुच्छ है। फलतः इस आदर्श में आवश्यकता एवं बनावटी सभ्यता को प्रवेश करने का अवसर ही नहीं मिलता। आवश्यकताओं की उत्तरोत्तर कमी ही यहां का मुख्य ध्येय है। यही कारण था कि आत्मानुयायी महर्षियों को इन घातक आविष्कारों की आवश्यकता न हुई। उन्होंनें प्रकृति को ही अपनी जीवनयात्रा का आलम्बन माना। आवश्यकता के अभाव से वे अर्थलिप्सा से दूर रहे। फलतः वे इस चिन्ता से विमुक्त रहे। अन्य वर्णोंनें इनकी परिमित आवश्यकताओं का भार अपनें कन्धों पर लिया। इस प्रकार से सर्वचिन्ताविमुक्त महर्षियोनें प्रत्युपकार में आत्मशास्त्र

मनुष्य का स्वरूप हमारे सामने रख दिया। गंजीखोपडी के लिए- खलत्तेः कहा है। जिसके शिरःप्रदेश में बाल न हों, मूंछ, दाढी, का अभाव हो, थोड़े से परिश्रम से जिसके शरीर से पसीने निकलने लगें, सफेद जिसका चमडा हो, आखें जिसकी भूरी हों, ऐसा मनुष्य साक्षात् वरुण की प्रतिकृति है। इसके मस्तक पर आहुति देने का ही पूर्वश्रुतिने विधान किया है। ऐसे मनुष्य को पापात्मा माना गया है। यजमान इस आहुति से अपने पापों को ही इसके मत्थे मंढता है।

हमारे सामने रक्खा। ऋषियों की इस अमूल्य देन के सामने त्रैलोक्य का वैभव भो नगण्य है। वही वैभव गीताभाष्य के द्वारा आज वर्तमान जगत् के सामने आने वाला है।

परन्तु !!!

न पूंछिए! इस परन्तु का उत्तर हमारे पास नहीं है। जैसा कि आरम्भ में कहा जा चुका है, इस सम्बन्ध में हम लोकसंग्रह की रक्षा नहीं कर सकते। आज का भारतवर्ष भारतवर्ष न रहकर *केतुमालवर्ष बनगया है। पूर्व पश्चिम बन गया है। भारतका भाग्य सूर्य्य पश्चिममें जाकर अस्त होगया है। वही सभ्यता, वही विज्ञान, वही अर्थलिप्सा, वही क्षणिक भाव, वही असन्तोष, वही शरीर चिन्ता, इस प्रकार यह आज सर्वात्मना वह बन गया है। आज हम भारतीय अपना आदर्श खो बैठे हैं। पूर्वोक्त आविष्कार सिद्धान्त का अनुगमन करते हुए आज हमने एकमात्र अर्थ को ही अपना लक्ष्य बना लिया है। धर्म्म–कर्म्म–शास्त्र–देव–द्विज–गुरू–पूज्य आदि का आज हमारी दृष्टि में कोई महत्व नहीं है।

ब्राह्मण समाज ने इसी अर्थलिप्सा से वेदगुप्ति का परित्याग कर दिया है। क्षत्रियवर्ण अपने स्वार्थों की चिन्ता में निमग्न होता हुआ–"क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः" इस आदर्श से वञ्चित होगया है। वैश्यवर्ग एकमात्र अर्थपरायण बनता हुआ सब ओर से विमुख बन गया है। वैश्य समझता है कि यदि मैं अर्थ का समाज में उपयोग करने लगूंगा तो मेरी आवश्यकताएं पूरी न होंगी। साथ ही मैं मेरा व्यक्तित्व भी जाता रहेगा। स्वधर्म्मच्युत शूद्र महाभाग भी कम उच्छृङ्खलता नहीं कर रहे। दुर्भाग्य से कुछ समय से सुधारक नाम का एक वर्ग और उत्पन्न होगया है। इस ने तो सभी पर हाथ साफ किया है। इस अद्वैतवादी की दृष्टि में पशु और मनुष्य की सभ्यता में भी कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार हमारा यह पवित्र देश आज द्रुतवेग से नाश की ओर अग्रेसर होरहा है, यह जान कर, एवं देख कर कौन सच्चा भारतीय दो आसू न बहावेगा।

*पौराणिक वर्षभुवनकोश के अनुसार इग्लैन्ड केतुमालवर्ष की सीमा में प्रविष्ट है।

आर्य सन्तानो !

आवश्यकता आविष्कार की जननी नहीं है, अपितु आज यह आविष्कार आवश्यकता के जनक बन रहे हैं। राजनिति विशारद कुटिल नैतिकों नें आपके सामने ऐसी सामग्री रख दी है, जिसके प्रलोभन में पड़े विना आप नहीं रह सकते। भारत की जिन मंढियों में अन्नसम्पत्ति प्रचुरमात्रा में निहित रहती थी, आज उन्हीं मंढियों मे हमारी शान्तभावनाओ को उत्तेजना देने वाले वे भड़कीले पदार्थ सजकर सर्वनाश के लिये हमें निमन्त्रण देरहे हैं। इस निमत्रण को दृढ बनाने के लिए वही समाजनेता हमारे साम्ने आते हैं। "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" के अनुसार समाज के धनिक, मुखिया जिस ओर जारहे हैं, साधारण जनता मन्त्रमुग्ध होती हुई उसी भयानक पथका अनुगमन कर रही है। इसी महामारी ने हमारी आत्मसम्पत्ति (शास्त्र) को जर्ज्जरित कर डाला है। ऐसे भयावह युग में एक वड़ासा पोथा लेकर (सो भी उपन्यास का नहीं, अध्यात्मशास्त्र का) जव हम कार्यक्षेत्र में उतरते हैं तो चारों ओर से "लौट जाइए, हमें समय नहीं, इसमें तो पुनरुक्ति है, इतना कौन पढ़ेगा" इस पुरस्कार ध्वनिको सुननेका सौभाग्य प्राप्त होता है। ऐसी दशा में हम लोकसंग्रह की रक्षा करें तो कैसे करें? यही जटिल समस्या हमारे क्षोभका कारण वन रही है। और हम समझते हैं कि हमारा यह क्षोभ इस युग में शान्त भी नहीं हो सकता। यह समझते हुए भी एकमात्र इसी आशा से कि भूमि वहुत वड़ी है, साथ ही में कालपुरुष भी अनन्त है। इस समय भी पृथिवी के किसी स्थल में आज ही कोई हमारी सम्प्रदाय का अनुगामी मिल सकता है, अथवा कालान्तर में पैदा हो सकता है, इसी आशा से प्रेरित होकर यह प्रयास किया है, जो कि आशा-विश्वासमय प्रयास कवि की निम्न सूक्ति से स्पष्ट है—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां।
जानन्तु ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः॥
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्म्मा।
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी ॥१॥

"न्याय एवं धर्म्म पूर्वक ऐहलौकिकसम्पत्ति का उपभोग करते हुए हम पारलौकिक

आत्मानन्द प्राप्त करना चाहिए। उसकी प्राप्ति के अमुक उपाय हैं" ऋषियों के उपदेश का यही संक्षिप्त निदर्शन है। केवल इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए, वाणी के प्रयोग में संयम से काम लेने वाले उन मितभाषी, एवं हितभाषी महर्षियों की ओर से कितना विशाल शब्द प्रपञ्च हमारे सामने आया है, यह देखकर हमें थोड़ी देर के लिए स्तब्ध हो जाना पड़ता है। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्—(कुल *४५२४—चारहजार पान्सौ चौवीस ग्रन्थ) इन चार भागों में विभक्त वेदग्रन्थ, ८-व्याकरण, ८ निरुक्त, अनेक शिक्षाएं, अनेक छन्दोग्रन्थ, कल्प, १८-पुराण, १८-उपपुराण, ६४-तन्त्र, महाभारत, सिद्धान्त, संहिता, डामर, जामल, दर्शन, आदि २ ग्रन्थों से युक्त आर्यसाहित्य सचमुच ब्रह्म के भूमाभाव को सिद्ध कर रहा है। थोड़ी सी वात कहने के लिए, इतना विस्तार। फिर भी तो संतोष नहीं है। भाषान्तर हो तव इन का वक्तव्य विषय समझ आवे, वह भी अनेक भाषाओं में। भाषान्तर का प्रश्न जब हमारे सामने आता है तो विस्तारभय से हम स्वय कम्पित हो जाते हैं। यदि—'मक्षिकास्थाने मक्षिकापातः" का आश्रय लिया जाता है तो भाषान्तर करना व्यर्थ है। यह तो एक प्रकार से इन्द्र का भाषान्तर विडौजा है। यदि स्पष्टीकरण करना चाहते हैं तो एक एक शब्द के रहस्य वतलाने के लिए आवश्यकता से अधिक विस्तार करना पड़ता है। इस विस्तार क्रम में पुनरुक्ति दोष का आजाना अनिवार्य है। एक ही विषय १० स्थानों में रूपान्तर से कहा जायगा। परन्तु विना इस पुनरुक्ति के हम विषय का समन्वय नहीं कर सकते। उधर 'विस्तार भय से कोई इसे यदि न देखेगा तो क्या होगा" यह प्रश्न भी हर घड़ी सामने उपस्थित रहता है। इन सब अड़चनों को देखते हुए अन्त में हमें इसी निश्चय पर पहुंचना पड़ता है कि यह सारा प्रयास महात्मा तुलसी की—"स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ-गाथाभाषानिवन्धमतिमञ्जुलमातनोति" इस सूक्ति के अनुसार हमारे अध्ययन की ही,

*ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १०००, अथर्व की ९ ममृय संहिताग्रन्थ ११३१ (ग्यरहसौ इकतीस) होजाते हैं। प्रत्येक शाखा के साथ एक ब्राह्मण, एक आरण्यक, एक उपनिषत् है। इस प्रकार इन तीनों की भी प्रत्येक की ११३१ ही संख्या होजाती है। इस गणना से वेद ग्रन्थ ४५२४ संख्या में विभक्त होजाते हैं।

आत्मपरितोष की ही सामग्री है। गुरुकृपा से गीताशास्त्र के सम्बन्ध में अध्ययनकाल में जो जो विचार उद्भूत हुए हैं, उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया है। प्रवाह के अनुसार उसी अस्तव्यस्त लिपि-संग्रह को गीताभाष्य नाम दे डाला गया है।

अब एक प्रश्न इस सम्बन्ध में शेष रह जाता है। उसी का समाधान कर आत्मनिवेदन समाप्त किया जाता है। पूर्व में मित्रावरुण के सम्बन्ध से जिन दो सृष्टिविवर्त्तों का दिग्दर्शन कराया गया था, उन के आधार पर सहसा हम यह मान लेने के लिए बाध्य होजाते हैं कि हमें भारतीय आदर्श के अनुसार सांसारिक वैभव का सर्वथा तिरस्कार कर, समय पर जो रूखा सूखा मिले उसे खाकर अहोरात्र आत्मज्ञानचिन्तन में ही निमग्न रहना चाहिए, केवल आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए। कर्म्ममय विश्व अशान्ति का कारण है। फलतः कर्म्ममार्ग का एकान्ततः परित्याग ही कर देना चाहिए।

यदि सचमुच भारतवासियों का यही आदर्श है तो वह दूर से ही प्रणम्य है। यदि थोड़ी देर के लिए कर्म्मत्यागलक्षण इस विशुद्ध आत्मवाद को उपादेय भी मान लिया जाय तो कर्म्म (सञ्चित कर्म्म) की कृपा से कर्म्ममय विश्व में उत्पन्न होने वाला, एवं कर्म्मसाधक कर्मेन्द्रियों को जन्म से ही साथ रखने वाला पुरुष सांसारिक कर्म्मों का एकान्ततः परित्याग करदे, यह सर्वथा असम्भव है। राज्यवैभव, समाज संगठन, सामाजिक नियन्त्रण, सुव्यवस्था आदि के बिना संसार में शान्ति नहीं रह सकती। उधर आत्मवादी की दृष्टि से यह सब अशान्ति के मूल हैं। ऐसी दशा में हमें कहना पड़ता है कि कर्म्मत्यागलक्षण आत्मवाद केवल पुस्तक की ही वस्तु है। उसे व्याव-हारिकरूप कथमपि नहीं दिया जासकता। अन्ततोगत्वा हमें उसी पश्चिम के आदर्श पर विश्राम करना पड़ता है।

इसी विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए गीताशास्त्र हमारे सामने आया है। गीता शास्त्र की दृष्टि में अवश्य ही विशुद्ध आत्मवाद, किंवा ज्ञानवाद अनुपादेय है, जैसा कि—"न च संन्य-सनादेव सिद्धिं समधिगच्छति"—"न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" इत्यादि गीतासिद्धान्तों से स्पष्ट है। कर्म्मत्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा के भगवान् महाशत्रु है।

दुर्भाग्य से कुछ शताब्दियों से भारतीय विद्वानों ने विशुद्ध ज्ञानयोग का ही प्रतिपादन किया है। कल्पित जगन्मिथ्यावाद के व्यामोह में डाल कर हमें कर्म्मसम्पत्ति से शून्य कर दिया गया है। उसी साम्प्रदायिक दुरुपदेश से आर्य्यसन्तान ने कर्म्म से मुख मोड़ लिया। सभी आत्म-नित्यता का बेसुरा राग आलापने लगे। सब के अन्त:करणों में "संसार मिथ्या है, कर्म्म छोड़ो" इस विष वीज ने अपना घर कर लिया। परिणाम इस का यह हुआ कि इस देश ने अपना सारा वैभव कर्म्मठ जातियो के भेट चढ़ा दिया। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भारत अपनी इसी भयङ्कर भूल से सदियों के लिए परतन्त्रता की जञ्जीरो से जकड़ दिया गया। व्याख्याता विद्वानों की लीला यहीं समाप्त नहीं हुई। शास्त्रों में भी उन्हों ने यही छाप लगा दी। कुछ व्याख्याताओं नें तो गीता जैसे बुद्धियोग-शास्त्र तक को ज्ञानयोग के रंग में रंगने में कोई कमी न की। अस्तु, व्याख्यादोष से किस प्रकार हमारे सच्छास्त्र विकृत होगए हैं, यह मीमांसा करने का प्रकृत में अवसर नहीं है। पाठको को इस का उत्तर तो स्वयं गीताभाष्य ही देदेगा। हमें यहां केवल यही कहना है कि गीताशास्त्र की दृष्टि में कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानमार्ग का कोई महत्व नहीं है।

तो क्या गीता कर्म्मपरिग्रहलक्षण विज्ञानवाद का प्रतिपादन करती है? क्या गीता ने हमें यह आदेश दिया है कि हम दिन दिन नए नए घातक आविष्कार करते जांय, एवं उन के द्वारा अपनी आवश्यकताएं पूरी करते जांय? क्या गीता पूर्व से हमें पश्चिम की ओर लेजाना चाहती है? क्या गीता ने आत्मलक्षण ज्ञान से वञ्चित रखते हुए हमें विश्ववैभव की ओर आकर्षित किया है? नहीं! कभी नहीं!! सर्वथा नहीं!!!

जिस प्रकार कर्म्मत्यागलक्षण विशुद्ध ज्ञानमार्ग गीता की दृष्टि में हेय है, उसी प्रकार कर्म्मपरिग्रहलक्षण विशुद्धविज्ञान मार्ग भी तुच्छ वस्तु है। जिस विज्ञान (कर्म्म) के मूल में ज्ञान नहीं रहता, वह विज्ञान क्षणिक बनता हुआ हमारे नाश का ही कारण बन जाता है। विशुद्ध विज्ञान यथार्थ में भूतभाग की समृद्धि का कारण बनता हुआ भी शान्तिलक्षण आत्मा के अनुग्रह से वञ्चित रहता हुआ अन्त में क्रान्ति का जनक बन जाता है। फलतः यह कर्म्मलक्षण विशुद्ध विज्ञानवाद भी कल्याणपथ में महाप्रतिबन्धक सिद्ध होजाता है।

ज्ञान-कर्म्म भेद से उन्नति के दो ही स्वतन्त्र मार्ग हैं, एवं पूर्व कथनानुसार गीता दोनों का ही विरोध करती है। ऐसी अवस्था में जिज्ञासा होती है कि गीता कहती क्या है ? उत्तर गीता से ही पूंछिए। गीता चाहती है, ज्ञान-कर्म्म का समन्वय, ज्ञान-विज्ञान का एकीकरण, आत्म-विश्व का सम्मिश्रण। विश्वविज्ञान उत्तम, परन्तु जब मूल में आत्मा प्रतिष्ठित रहे। आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ, परन्तु विज्ञानमूला विश्वविभूति का उच्छेद न हो तब। ऐसा विज्ञान जो आत्म अशान्ति, किंवा विश्व अशान्ति का कारण है, सर्वथा त्याज्य है। ऐसा आत्मज्ञान जो विश्वसम्पत्ति का विरोधी है, त्याज्य है। हम आत्ममूलक पारलौकिक सुख चाहते हैं, और अवश्य चाहते हैं। दूसरे शब्दों में वही हमारा परमपुरुषार्थ भी है। परन्तु हम यह कभी नहीं चाहते कि उस परमपुरुषार्थ के साथ अपना ऐहिलौकिक स्वार्थ सर्वथा खो बैठें।

उत्तम भोजन, सुन्दर वेशभूषा, प्रजावृद्धि, समृद्ध वैभव, राजसत्ता, साम्राज्य सुखोपभोग, ग्राम, नगर, राष्ट्र, शिल्प कला, वाणिज्य, आदि सभी कुछ हमें चाहिए। पहिले ऐहिलौकिक सम्पत्ति, फिर पारलौकिक पुरुषार्थ। पहिले यहां समृद्धि, फिर वहां आनन्द। हम आनन्द के उपासक हैं। हम यहां भी दुःखी क्यों रहें। आनन्द हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है, साम्राज्य सुख हमारी वपौती है, स्वतन्त्रता हमारा आराध्यमन्त्र है। हमारी आत्मभावना से अनुचित लाभ उठाते हुए यदि कोई नराधम हमारी स्वतन्त्रता पर, हमारे साम्राज्य पर, हमारे ऐहलौकिक सुखों पर, हमारी शान्ति में, हमारी उपासना में, हमारी ज्ञानचर्चा में, हमारे वाणिज्य में, हमारे कला-कौशल में, हमारी सभ्यता में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करेगा तो हम थोड़ी देर के लिए ज्ञान-उपासना सब कुछ छोड़ देंगे। उस समय सब से पहिला, एवं मुख्य कर्त्तव्य हमारा वही होगा, जो कि कर्त्तव्य राजवैभव के स्वाधिकार से वञ्चित अर्जुन के सामने भगवान् के द्वारा आया था, एवं जिस कर्त्तव्य के वल पर योगी अर्जुन ने पुनः अपना राज्यवैभव प्राप्त किया था। उस समय हमें हमारी- "युद्धाय कृतनिश्चयः" इस शास्त्राज्ञा से कोई भी न डिगा सकेगा।

क्योंकि हम जानते हैं, परतन्त्र राष्ट्र का कोई धर्म नहीं, कोई शास्त्र नहीं। उसे क्षण भर भी सुख नहीं। गुलाम का क्या धर्म, क्या शास्त्र, क्या सभ्यता, क्या आवश्यकताएं। यदि

नाम मात्र के लिए कुछ हो भी तो इन से हम लाभ क्या उठा सकते हैं। स्वतन्त्र-परतन्त्र की यही मीमांसा शास्त्रकारों नें हमारे सामने रक्खी है। देखिए भगवान् मनु इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं--

यद्यद् परवशं कर्म्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेद् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तद् सेवेत यत्नतः ॥
सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुख-दुःखयोः ॥ (मनुः ४।१५८-१५६)

जब सुखी रहना हमारा उद्देश्य है तो फिर हम यहां भी दुःखी क्यों रहें। ब्रह्म जब आनन्द स्वरूप है, जब वह विश्वकर्म्म में निरन्तर रत रहता हुआ भी नित्यसुखी है तो उसी के अंशरूप हम क्यों विश्व से ग्लानि करें। अवश्य ही हमें उस उपाय का अन्वेषण करना पड़ेगा, जिसके प्रभाव से विश्वासक्तिमूल दुःख तो आक्रमण करे नहीं, एवं विश्वसंपत् सम्बन्धी सुख हटे नहीं। वह उपाय है **एकमात्र ज्ञान-विज्ञान की समष्टिरूप बुद्धियोग**। उस का **प्रवर्त्तक है-एकमात्र गीताशास्त्र**।

हम जानते हैं कि हमारी मोहनिद्रा से परवञ्चकोंनें पर्य्याप्त लाभ उठाया है। हम यह भी समझ गए हैं कि हमरे अतीत साम्राज्य वैभव को साम्राज्य विस्तार को, सभ्यता को, जगद्गुरुत्व को कल्पना के काले अक्षरों से ढका गया है। हम यह समझने में भी अब पीछे नहीं है कि हमारे अतीत का जो इतिहास हमारे सामने रक्खा गया है, जो भौगोलिक परिस्थिति बतलाई गई है, वह साम्राज्यलिप्सा की कल्पित छाया है। परन्तु इस समझ के साथ साथ हमनें यह भी प्रतिज्ञा करली है कि अपने इस बुद्धियोगशास्त्र (गीताशास्त्र) के बल से उन मिथ्याप्रचारकों से चुन चुन कर बदला लेंगे। समय आने पर आर्यसन्तान कभी प्रतिशोध से पीछे न हटेगी। पहिले वह ऐहलौकिक अभ्युदय को अपने अधिकार में करेगी, पीछे पारलौकिक सुख की चिन्ता करेगी। उसी शुभमुहूर्त्त को शीघ्र से शीघ्र उपस्थित करने के लिए राष्ट्रप्रेमियों के सामने राष्ट्र-भाषा में ही यह विज्ञानभाष्य नए कलेवर से नया सन्देश सुनाने के लिए उपस्थित हुआ है। राजपूताने के एक कोने में बैठकर इस संदेश को लिपिबद्ध कर देना जहां ईश्वरीय प्रेरणा है,

वहां यह राष्ट्र के कोने कोने में व्याप्त होजाय, इसके लिए ईश्वरीय प्रेरणा का धरातल राष्ट्रप्रेमी ही वनेंगे।

हमारा विश्वास है कि यह भाष्य भारतीय संस्कृति को सुरक्षित रखने में पूर्ण सफल होगा। कारण इसमें केवल प्रमाणवाद का ही आश्रय नहीं लिया गया है। अपितु प्रमाण प्राचुर्य्य के साथ साथ युक्तिवाद, तर्कवाद, विज्ञानवाद, दर्शनवाद आदि का भी समन्वय करने की चेष्टा गई है। अब संक्षेप से यह भी जान लेना आवश्यक होगा कि इस भाष्य की नवीनता का दृष्टिकोण क्या होगा ? दूसरे शब्दों में यह प्राचीन व्याख्याताओं की अपेक्षा क्या नवीन बात वतलावेगा ?

प्राचीन व्याख्याताओं नें गीताशास्त्र के १८ अध्यायों को ६-६-६ इस क्रम से तीन भागों में विभक्त करते हुए गीता को ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग का निरूपक माना है। कुछ एक प्राचीनों की दृष्टि में गीता विशुद्ध ज्ञानयोगग्रन्थ है, कुछ एक साम्प्रदायिक इसे विशुद्ध भक्तियोगशास्त्र मानते हैं, एवं कुछ एक राष्ट्रप्रेमी इसे कर्म्मयोगशास्त्र मानने का अभिमान करने लगे हैं। दार्शनिक दृष्टि से सभी प्राचीनमत सुव्यवस्थित हैं। परन्तु गीता विशुद्ध दर्शन (ज्ञान) ग्रन्थ नहीं है, अपितु ज्ञानयुक्त विज्ञानग्रन्थ है। विज्ञानदृष्टि से उक्त तीनों हीं योग अयोग हैं। पाठकों को विश्वास करना चाहिए कि गीता ज्ञान--भक्ति--कर्म्म तीनों में से एक का भी निरूपण नहीं करती। अब तक जो बुद्धियोग व्याख्याताओं की दृष्टि से परोक्ष रहा है, गीताशास्त्र उसी का, हां निश्चयरूप से एकमात्र उसी का निरूपण कर रहा है। अतएव हम यह ज्ञान-भक्ति-कर्म्म किसी नाम से व्यवहृत न होकर '**बुद्धियोगशास्त्र**'' नाम से ही सम्बोधित होगा।

वुद्धियोगदृष्टि से गीता को चार भागों में विभक्त माना जासकता है। कारण इस का यही है कि वुद्धितत्व वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म भेद से चार भागों में विभक्त है। इन चारों का स्वरूप वतलाने वाली चार विद्याएं क्रमशः **राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या** इन नामों से प्रसिद्ध है। आरम्भ के ६ अध्यायों मे वैराग्यवुद्धियोगप्रवर्त्तिका **राजर्षिविद्या** का, आगे की २ अध्यायों (७-८) में ज्ञानबुद्धियोगप्रवर्त्तिका **सिद्धविद्या** का, आगे की ४ अध्या-

यों (९-१०-११.१२) में ऐश्वर्यबुद्धियोगप्रवर्त्तिका राजविद्या का, एवं अन्त की ६ अध्यायो में धर्म्मबुद्धियोगप्रवर्त्तिका आर्षविद्या का निरूपण हुआ है। इन विद्याओं के रहस्य बतलाने वाली २४ उपनिषद् इस शास्त्र की महाविशेषता है। इन २४ उपनिषदो में १६० उपदेश हुए है। यही गीताशास्त्र का विषयदिग्दर्शन है।

गीताशास्त्र हमें सुखी बनाना चहता है। इस सुख के प्रतिबंधक, एवं क्लेश के प्रवर्त्तक गिने गिनाए चार ही शत्रु हैं। वे चारों आसक्ति, मोह, अस्मिता, अभिनिवेश इन नामो से प्रसिद्ध हैं। आसक्तिभाव रागासक्ति, द्वेषासक्ति भेद से दो भागो में विभक्त है। यदि इनकी पृथक् विवक्षा की जाती है तो चार के स्थान में पांच क्लेश होजाते हैं, जैसा कि—"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाःपञ्चक्लेशाः" (पा० यो० सू० २।३।) इस योगदृष्टि से स्पष्ट है। परन्तु विज्ञानदृष्टि से राग-द्वेष दोनो एक हैं। अनुकूलबन्धन राग है, प्रतिकूलबन्धन द्वेष है। बन्धनता दोनो में समान है। बन्धनता ही आसक्ति है। अतएव गीताशास्त्रने दोनो का आसक्तिशब्द से ही ग्रहण कर लिया है। आसक्तिक्लेश की चिकित्सा वैराग्यबुद्धियोग है, मोहक्लेश की चिकित्सा ज्ञानबुद्धियोग है, अस्मिताक्लेश की चिकित्सा ऐश्वर्यबुद्धियोग है, एव अभिनिवेशक्लेश की चिकित्सा धर्म्मबुद्धियोग है। चारो में से एक के भी अनुष्ठान से शेष तीनों क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। यही सम्पूर्ण गीताशास्त्र का रहस्यार्थ है।

आत्मनिवेदन आवश्यकता से अधिक विस्तृत हो गया है। अस्तु अब पाठक यह आशा कर रहे होगे कि इस निवेदन के अव्यवहितोत्तरकाल में ही गीताभाष्य उनके सामने आ जायगा। परन्तु अभी उन्हे और थोडी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इस प्रतीक्षा का कारण यही है कि गीता एक विज्ञानशास्त्र है। विज्ञानशास्त्र की कुछ एक स्वतन्त्र परिभाषाएं हुआ करतीं हैं। विना उन परिभाषाओं का ज्ञान प्राप्त किए शास्त्रमर्म सर्वथा अविज्ञात बना रहता है। इस परिभाषा के परिचय के लिए भाष्य से पहिले कुछ लिखना और आवश्यक बन गया है।

इस परिभाषा प्रकरण को यों तो अनेक भागो में विभक्त किया जासकता है, परन्तु प्रधानरूप से इसके तीन ही अधिकरण बनते हैं। पहिला अधिकरण तो ग्रन्थकर्त्ता प

सम्बन्ध रखता है, शेष दोनों अधिकरण मूलग्रन्थ से सम्बन्ध रखते हैं । मूलग्रन्थ की कुछ परिभाषाएं तो स्वय मूलविषय से सम्बन्ध रखतीं हैं, एवं कुछ परिभाषाएं ऐतिहासिकभाव से सम्बन्ध रखतीं हैं । इस प्रकार ऐतिहासिकपरीक्षा, विषयपरीक्षा भेद से मूलग्रंथ की परिभाषाओं के दो अधिकरण बन जाते हैं । इसी दृष्टि से हमने इस परिभाषा प्रकरण को दो भागों में विभक्त करना आवश्यक समझा है। गीता का मूल विषय जितना दुरूह है, उससे अधिक दुर्विज्ञेय गीतोपदेष्टा श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण के जीवन में हम अत्यन्त विरुद्ध भावों का समन्वय पाते हैं। एक ओर व्रजयुवतियों के साथ रास विहार, दूसरी ओर गीता का उपदेश । एक ओर मृत्तिका भक्षण, दूसरी ओर विश्वरूप प्रदर्शन। एक ओर अध्यात्मवाद की पराकाष्ठा, दूसरी ओर वंशीवादन। सचमुच कृष्ण कोई अलौकिक तत्व है । यों तो गीता अपने विषय की महत्ता से ही एक अलौकिक ग्रन्थ है, परन्तु गीता की ख्याति का प्रधान श्रेय एकमात्र अलौकिक श्रीकृष्ण को ही है। जिसका थोड़े समय का उपदेश अलौकिक है, उसका पूर्ण स्वरूप कैसा अद्भुत होगा? यह एक विजिज्ञास्य विषय है । इसी जिज्ञासा को पूरी करने के लिए विशुद्ध विज्ञान दृष्टि से श्रौत प्रमाणों के आधार पर सर्वप्रथम गीताचार्य का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। खण्डत्रयात्मक श्रीकृष्णतत्वनिरूपण नामका यही प्रथमकाण्ड है । खण्डत्रयात्मक यह प्रथमकाण्ड लगभग १५०० पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। भूमिका प्रथमखण्ड प्रकाशन के अनन्तर क्या प्रकाशित होगा? इस प्रश्न का भार स्वय गीताचार्य की इच्छा पर ही निर्भर है।

ग्रन्थकर्त्ता के अनन्तर हमारी दृष्टि शास्त्र की सामान्य परिभाषाओं पर, नाम पर, रचनाकाल पर, स्थूलरूप से प्रतिपाद्य विषय पर, ऐतिहासिक घटनाओं पर जाती है । इसके अनन्तर मूलविषय से सम्बन्ध रखने वालीं अन्तरङ्ग परिभाषाओं पर दृष्टि जाती है। इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ही दूसरा परीक्षाकाण्ड हमारे सामने आता है। एवं इसे हमने "गीताविज्ञानभाष्यभूमिका" नामसे सम्बोधन किया है। परीक्षाकाण्ड नाम की यह भूमिका लगभग १६०० पृष्ठों में सम्पन्न हुई है, एवं इसे तीन खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथमखण्ड बहिरङ्गदृष्टिप्रधान बनाता हुआ ऐतिहासिकपरीक्षात्मक है । आगे के दोनो खण्ड अन्तरङ्गदृष्टिप्रधान होते हुए विषयपरीक्षात्मक हैं ।

बहिरङ्गपरिभाषात्मक भूमिका प्रथमखण्ड में जिन विषयों का निरूपण हुआ है, उन की विस्तृत सूची खण्ड के आरम्भ में ही उद्धृत हो चुकी है। पाठकों के परिचयार्थ अन्तरङ्ग परिभाषात्मक दूसरे-तीसरे खण्डों की भी संक्षिप्त विषयसूची उद्धृत कर दी जाती है—

गी०वि०भा०द्वि०खं० की संक्षिप्त विषयसूची

❀ विषयप्रवेश

१—दार्शनिक दृष्टि से आत्मपरीक्षा

क—भारतीयषड्दर्शनवाद (६)
ख—भारतीयद्वादशदर्शनवाद (१२)
ग—भारतीयअष्टादशदर्शनवाद (१८)
घ—भारतीयषट्त्रिंशद्दर्शनवाद (३६)
ङ-सर्वदर्शनसमन्वय
च—शारीरक(व्यास)तन्त्रसम्मतआत्मपरीक्षा
छ—प्राधानिक(कपिल)सम्मतआत्मपरीक्षा
ज—वैशेषिक(कणाद)तन्त्रसम्मतआत्मपरीक्षा
झ—दर्शन सम्मत आत्मा का मौलिकरहस्य

———०———

२—वैज्ञानिक दृष्टि से आत्मपरीक्षा

क—आत्मप्रतिपादक गीताशास्त्र
ख—आत्मानन्दमीमांसा
ग—निर्गुण—सगुणमीमांसा
घ—अमृतात्मपरीक्षा
ङ—ब्रह्मात्मपरीक्षा
च—शुक्रात्मपरीक्षा
छ—ईश्वरात्मव्यूहरहस्य
ज—जीवात्मव्यूहरहस्य
झ—अद्वैतोपसंहार

———०———

३—ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा

क—सृष्टिमूलविषयकदशवादरहस्य
ख—त्रिसत्यवाद(ब्रह्मकर्म्मअभ्ववाद)परीक्षा
ग—द्विसत्यवाद(सदसद्वाद)परीक्षा
घ—असद्वादपरीक्षा
ङ—सद्वादपरीक्षा
च—सिद्धान्तवादपरीक्षा

१—कर्म्मयोगपरीक्षा—

भाष्यभूमिका—द्वितीयखण्ड समाप्त

२

—०—

२—ज्ञानयोगपरीक्षा—

क—लोकप्रचलित सांख्यनिष्ठा
ख— " योगनिष्ठा
ग— " भक्तिनिष्ठा
घ—निकृष्टकर्म्म भक्ति-ज्ञाननिष्ठा (कल्पिता)
ङ—हेयकर्म्म-भक्ति-ज्ञाननिष्ठा (शास्त्रीया)
च—उपादेयकर्म्म-भक्ति-ज्ञाननिष्ठा (संशोधिता)
छ—आराध्या बुद्धियोगनिष्ठा (भगवत्सम्मता)
ज—निष्काम-सकाममीमांसा
झ नैष्कर्म्यलक्षण ज्ञानयोग

—o—

३—भक्तियोगपरीक्षा—

क—भक्ति का प्रचलितरूप
ख—देवयुगकालीन भक्तिमार्ग
ग—वेदयुगकालीन भक्तिमार्ग
घ—हिरण्यगर्भसम्मत भक्तिमार्ग
ङ-पौराणिक भक्तिमार्ग
च—दार्शनिक भक्तिमार्ग
छ—रूढिवादसम्मत भक्तिमार्ग
ज—उपासना के विविध लक्षण
झ—सत्यवती उपासना
ञ—अङ्गवती उपासना
ट—अन्यवती उपासना
ठ—प्रतीकोपासना
ड—प्रतिरूपप्रतिमोपासना
ढ—भावमयी प्रतिमोपासना
ण—निदानोपासना
त—मूर्तिनिर्म्माण रहस्य
थ—गीता का संशोधित भक्तियोग

—o—

४—बुद्धियोगपरीक्षा—

क—बुद्धियोग का स्वरूप निर्वचन
ख—बुद्धियोग के आविर्भावक
ग—बुद्धियोग का प्रभवकाल
घ—बुद्धियोग की परम्परा
ङ—बुद्धियोग का उदय-तिरोभाव
च—धर्म्मलक्षण बुद्धियोग

छ–ऐश्वर्य्यलक्षण बुद्धियोग
ज–ज्ञानलक्षण बुद्धियोग
झ–वैराग्यलक्षण बुद्धियोग
ञ–गीतासिद्धान्तविमर्श

५—गीतासारपरीक्षा—

भाष्यभूमिका तृतीयखण्ड समाप्त

३

वहिरङ्ग–अन्तरङ्गपरिभाषानिरूपणात्मक (भूमिकारूप) तीन खण्डों में विभक्त इस दूसरे परीक्षाकाण्ड के अनन्तर मूलकाण्ड हमारे सामने आता है। २४ उपनिषदों की अपेक्षा से यह मूलभाष्य २४ खण्डों में विभक्त किया है। इन २४ उपनिषदों के नाम, उपनिषदों में प्रतिपादित विषय, सबका प्रस्तुत भूमिका खण्ड के विषयविभागप्रकरण में दिग्दर्शन करा दिया गया है। सब मिलकर यह विज्ञानभाष्य लगभग ७००० पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है, जो कि भूमानन्दोपासक भारतवर्ष की दृष्टि में संक्षिप्त ही कहा जायगा। यही हमारे आत्मनिवेदन की विश्रामभूमि है।

उक्त आत्मनिवेदन लिखने का एक विशेष कारण है। उस कारण के परिचय से पाठक स्वयं इस निवेदन की आवश्यकता का अनुभव करेंगे। कितनें हीं महानुभावों नें साक्षात् रूप से, एवं कितनें हीं सहयोगियों नें पत्रद्वारा हमें यह सूचित किया है कि तुम्हारे लेख में विस्तार आवश्यकता से अधिक रहता है। साथ ही में विषय अनेक वार (पद पद पर) दोहराया गया है। ऐसी पुस्तकें लोकरुचि का कारण नहीं वन सकती।

सन्मित्रों का सुझाव अवश्य ही सामयिक है, इसीलिए उपादेय भी कहा जासकता है। परन्तु इस सम्बन्ध में हम उन के इस अनुशासन को न मानने की धृष्टता कर रहे हैं। फुटनोटों की शिक्षा हमें विद्यासम्पत्ति से वञ्चित रखती है। यदि हमें आर्यसाहित्य का स्वरूप आर्यसन्तान के सामने रखना है तो इस के लिए हमें आर्षपद्धति का ही अनुगमन करना पड़ेगा। हमें अपने मस्तिष्क से फुटनोटों की बदबू निकाल कर उसे स्मृति–मेधा–मनीषा–प्रज्ञा आदि दिव्य संस्कारों से युक्त करना पड़ेगा। मधुकरवृत्ति का एकान्ततः परित्याग करना पड़ेगा। ' सेकिण्ड लेंगवेज (Second Lengvage) संस्कृत थी" केवल यह कहने भर से काम न चलेगा। अर्थोपार्ज्जन के लिए समयको नियन्त्रित करना पड़ेगा। इस के लिए अपनी आंवश्यकताएं कम करनी होंगीं। स्वाध्याय को मुख्य वनाना पड़ेगा। तभी आर्य्यसाहित्य के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त होसकेगा। अहोरात्र दूसरे दूसरे कार्यों में संत्रस्त रहते हुए, सभा, सोसाइटी, टीपार्टी, गार्डनपार्टी आदि में सतत सलग्न रहते हुए साहित्यज्ञान से कभी लाभ नहीं उठाया जासकता। आप तो विस्तार और पुनरुक्ति की कहते हैं, हमारा तो यह भी विश्वास है कि आर्यसाहित्य को हिन्दीभाषा का रूप देना भी एक बहुत वड़ा पाप है। परन्तु क्या करें, परिस्थितिवश ऐसा करना पड़ रहा है। अन्यथा हिन्दीभाषा द्वारा शास्त्र का वास्तविक मर्म्म जान लेना भी हमारी दृष्टि में असम्भव सा ही है।

मधुकरवृत्ति के अनुयायी अवश्य ही छोटे छोटे ट्रेक्टों से समाज की कण्डू (खाज) मिटा सकते है। परन्तु हम से ऐसी आशा करना व्यर्थ है। जिसे स्वाध्याय से प्रेम होगा, उस के लिए यह विस्तार और पुनरुक्ति उपादेय सामग्री होगी। यह हमारा सौभाग्य है कि ऐसे वातावरण में भी

एक व्यक्ति हमें ऐसा मिला है, जो जीवनभर पश्चिमी शिक्षा का अनुगमन करता हुआ भी हमारे इस विस्तार को और भी अधिक विस्तृत देखना चाहता है। मथुराम्यूजियम के क्यूरेटर सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीवासुदेवशरणजी एम. ए. एल्.-एल्. वी. नें शथपथभाष्य के दो अङ्क प्राप्त करने पर हमें लिखा था—

"........करते हैं कि वे प्रतिपाद्यविषय का और भी अधिक विस्तार करें। कारण ऐसा आयोजन शताब्दियों में कहीं एक बार ही होता है"।

थोड़ी देर के लीए मानलीजिए, हम इस कार्य में अयोग्य हैं। हमें संक्षेप से लिखना नहीं आता, भाषा भी अशुद्ध है, पुनरुक्ति की भी भरमार है। परन्तु क्या एक ही व्यक्ति से सब आशाएं करना उचित है। अहोरात्र श्रम करके वैदिक विषयोंका संकलन करें, अर्थसमस्या से द्वन्द्व करते हुए जैसे तैसे प्रकाशन का आयोजन करें। उस पर भी सारा दोष हमारे ही हिस्से में। क्या समाज का कोई कर्त्तव्य नहीं है। क्या एक कृषक खेती के साथ साथ पीस कर, छानकर रोटी बनाकर अपनें हाथों आपके मुख में डाल सकेगा? असम्भव! आप भोक्ता हैं, हम कृषक हैं। हमने अन्न उत्पन्न कर दिया, अब उसे परिष्कृत बनाकर भोग्य योग्य बनाना आपका कर्त्तव्य है। पढ़ें, लिखें, सम्पादन करें, द्वार द्वार भटकते फिरें, छोटे छोटे ट्रेक्ट लिखें, सभाओं में चीत्कार करते रहें, क्या एक अल्पशक्तियुत मनुष्य के लिए यह सब कुछ सम्भव है?

कितने हीं मित्रोंने यह भी संकेत किया है कि तुम इंग्लिश पढ़लो, साथ ही में संन्यासी बन जाओ, तब काम होसकता है। स्वागतम् !!! दोनो के लिए हम तो समय आनेपर अवश्य ही प्रयास करेंगे। परन्तु"""यह सब कुछ कर लेने पर तो सन्तोष होजायगा। इससे पहिले क्या अपनी ग्राम्यपद्धति को भी छोड़ दिया जाय? क्या बिना इंग्लिश पढ़े, और कपडे रंगे साहित्योद्धार का कोई अन्य मार्ग नहीं है? "न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्"। इंग्लिश पढ़ना जैसे हमारे लिए आप आवश्यक समझते हैं, जैसे हमें संन्यासी बनाने में आप उत्सव मना

रहे हैं, वैसे आपका भी तो कुछ कर्त्तव्य होजाता है। क्या संस्कृत साहित्य आपकी बपौती नहीं हैं? क्या आप द्विजाति नहीं हैं? क्या आप अर्थन्यास नहीं कर सकते। अस्तु वर्त्तमान में तो हम और हमारी यह साधारण लिपि जैसी है, वैसी है। जिनकी रुचि हो वे अपनावें, नहीं तो नास्तिवाद (नास्तिकवाद) का मूलमन्त्र है ही। इसी मूलमन्त्र के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक निवेदन करने की आवश्यकता हुई। आशा है साहित्य प्रेमी हमारी स्पष्टवादिता के लिए हमें क्षमा करेंगे।

विनीत—
मोतीलालशर्मा-गौड़ः
जयपुरीयः
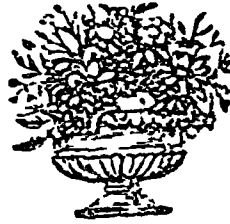
१—विषयोपक्रम

पुञ्जीभूतं प्रेमगोपाङ्गनानां मूर्त्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् ।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥

गीता, उपनिषत्, व्याससूत्र (वेदान्तदर्शन) इन तीन शास्त्रों का समुच्चय विद्वत्-समाज में "प्रस्थानत्रयी" नाम से प्रसिद्ध है। श्रुति-स्मृति-पुराणमूलक सनातनधर्मसम्राट् की छत्रछाया में सुप्रतिष्ठित जितनीं भी सम्प्रदाएं भारतवर्ष में प्रचलित हैं, उन सब की मूलप्रतिष्ठा यही प्रस्थानत्रयी है। इसीलिए प्रायः सभी सम्प्रदायाचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर अपने अपने स्वतन्त्र भाष्य लिखे हैं। बिना प्रस्थानत्रयी का आश्रय लिए कोई भी अपनी सम्प्रदाय को सुरक्षित नहीं रखसकता। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना होगा कि जिन आचार्यों नें प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे हैं, उन की दृष्टि तात्कालिक परिस्थिति की ओर ही विशेषरूप से रही है। देश–काल–पात्र की योग्यता को लक्ष्य में रखते हुए, दूसरे शब्दों में सामयिक परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही आचार्यों नें भाष्य लिखे हैं। यही कारण है कि हमारी दृष्टि में यह सम्प्रदायवाद "*धर्म्म" शब्द से सम्बोधित न होकर "मत" शब्द से ही सम्बोधित हुआ है।

---

* प्रकृतिसिद्ध नित्य नियम धर्म्म है। यह त्रिकालाबाधित होने से शाश्वत है। इसीलिए "सदा भवः सनातनः" इस निर्वचन के अनुसार इसे सनातनधर्म्म कहा जाता है। सामयिक परिस्थिति के अनुसार केवल उस समय के लिए ही उपयुक्त व्यक्तिविशेष के द्वारा बनाए गए शास्त्रानुकूल नियमों की समष्टि "मतवाद" है। धर्म्म, एवं मत में यही अन्तर है। आज भारतवर्ष में जो धर्म्मकलह देखा जाता है, वस्तुतः वहं मतकलह समझना चाहिए। आज मतवाद ने ही धर्म्म का स्थान ग्रहण कर रक्खा है। इस विषय का विशद विवेचन "श्रेयान् स्वधर्म्मः" (गीता० ३।३५।) इत्यादि श्लोक भाष्य में देखना चाहिए।

मत का चूंकि मन्तव्य की कल्पना से सम्बन्ध है, अतएव मत प्रत्येक दशा में अनेक ही होते हैं। धर्म्म जहां अभिन्नभाव पर प्रतिष्ठित होता हुआ सदा एक है, वहां मत भिन्नभाव को अपना आधार बनाता हुआ नानावाद से ही सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि धर्म की मूल प्रतिष्ठा जहां प्रकृतिसिद्ध नित्य विज्ञान है, वहां मतवादों की आधारभूमि सामयिक दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाला दर्शन है। विज्ञान का ईश्वरीय जगत् से सम्बन्ध है, दर्शन का मानवबुद्धि से सम्बन्ध है। ईश्वरीय विज्ञान जहां सम्पूर्ण विश्व के लिए एक है, वहां मानवदर्शन प्रान्तीय भेदभिन्न मानवसमाज की परिस्थितियों के भेद से अनेक है। अपने अपने धरातल पर दोनों ही सुव्यवस्थित हैं*। भारतीय आचार्यों ने जहां सामयिक परिस्थिति के अनुसार विभिन्न पर्वों का अनुगमन करने वाली विभिन्न सम्प्रदायों का सञ्चालन किया है, वहां उन्होंनें नित्यविज्ञानसिद्ध धर्मतत्व को भी पूर्णरूप से सुरक्षित रक्खा है। अनेकत्व के साथ साथ एकत्व को अपनाए रहना ही भारतीय धर्म, एवं सम्प्रदायों की विशेषता है। इसी शाश्वतधर्म की कृपा से सर्वथा पृथक् २ जाने वाली भी सम्प्रदाएं भारतवर्ष में आदर की दृष्टि से देखी गई हैं।

सम्प्रदायों का यह आदर भाव उक्त प्रस्थानत्रयी पर ही अवलम्बित है। ठीक इसके विपरीत यदि किसी मन्दबुद्धिने प्रस्थानत्रयी का एकान्ततः निरादर करते हुए, अथवा मीमांसा संमत प्रसङ्ग. उपोद्घात, हेतुता, अवसर, निर्वाहकैक्य, उपक्रम, उपसंहार आदि तात्पर्यार्थनिर्णायक नियमों की उपेक्षा करते हुए, स्वकल्पना से मनमाना अर्थ करते हुए किसी सम्प्रदाय को चलाने की चेष्टा की है तो वह अपने इस प्रयास में सर्वथा विफल हुआ है। उदाहरण के लिए बौद्धमत को ही लीजिए। भगवान् बुद्ध उस समय की असामान्य विभूति थी, इसमें कोई सन्देह नहीं। साथ ही में वे अपने समय के महासुधारक थे, यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं। इनके इन्हीं लोकोत्तर गुणों से प्रभावित होकर सनातनधर्मियोंनें इनका अवतार शब्द से सम्मान भी किया। परन्तु इनकी यह सम्प्रदाय प्रस्थानत्रयी का निरादर करने वाली हुई, बुद्ध को वैदिक

*इस विषय का विशद विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत 'क्या उपनिषत् वेद है? इस मतमीमांसा में देखना चाहिए।'

साहित्य निरर्थक प्रतीत हुआ, इन्हों नें स्पष्ट शब्दो में वेद की निन्दा की। बस फिर क्या था। वेदभक्त आर्यजाति बुद्ध की इस उच्छृंखलता को सहन न कर सकी। परिणाम इसका यह हुआ कि अवतार-कोटि में प्रतिष्ठित रहने वाले यही बुद्ध आगे जाकर "नास्तिक" शब्द की उपाधि से अलङ्कृत कर दिए गए, आर्यजाति को उनका आदेश अणुमात्र भी मान्य न रहा। यही अवस्था परम सुधारक श्री-स्वामी दयानन्दजी के सम्बन्ध में घटित हुई। स्वामी दयानन्द वेदों के विद्वान् थे या नहीं, इस सम्बन्ध में हमें विशेष वक्तव्य नहीं है। हां स्वामीजी के सम्बन्ध में यह बात निःसंदिग्ध थी कि वे हिन्दू जाति के परम हितैषी थे। हिन्दुत्व की दुर्दशा से उनका अन्तस्तल क्षुब्ध था। रूढिवादों से जर्जरित मृतप्राय हिन्दुत्व को पुनरुज्जीवित करने के लिए स्वामीजी आगे बढे। अपनी इस नवीन सम्प्रदाय के निर्माण में स्वामीजीने बुद्ध की तरंह प्रस्थानत्रयी की उपेक्षा तो न की, परन्तु अर्थ के सम्बन्ध में अपनी कल्पना का आश्रय लिया। चिरन्तन पद्धतियो की उपेक्षा कर अपनी कल्पना से नवीन पद्धतियो का निर्माण कर क्रियात्मक सनातनधर्म का गला घोट डाला। मृतपितृश्राद्ध जैसा वैदिककर्म भी इनकी दृष्टि में अवैदिक रहा। परिणाम इस उच्छृखलता का क्या हुआ? यह हमारे सामने है। आर्यसमाज को जन्म लिए आज एक शताब्दी भी नहीं हुई, और उसके सिद्धात उसी के अनुयायी विद्वानों की दृष्टि में खोखले जचनें लगे। और आगे बढ़िए। महात्मा गांधी भगवान् की देन है, इसमें कोई सन्देह नहीं। हिन्दू जाति को अपनी इस धरोहर पर पूर्ण अभिमान है। राजनैतिक क्षेत्र में हम महात्माजी को सर्वोच्च आसन देने के लिए तय्यार हैं। परन्तु धार्मिक क्षेत्र के सम्बन्ध में जब हम महात्मा जी का निर्णय देखते हैं तो सहसा हृत्कम्प होजाता है। प्रस्थानत्रयी में सर्वमान्य गीताशास्त्र महात्माजी का, एवं उनके अनुयायियो का परमाराध्य ग्रन्थ है। इस दृष्टि से महात्माजी पूरे शास्त्र भक्त, एवं पक्के ईश्वरवादी हैं। परन्तु गीतार्थ करने में उन्होनें भी अपने बुद्धिवाद का ही समाश्रय लेने की अनधिकार चेष्टा की है। फलतः इस सम्बन्ध में वे भी बुद्ध–दयानन्द की तरंह विफल मनोरथ ही रहे हैं। तात्पर्य कहने का यही है कि सम्प्रदाय निर्माण में मीमांसा समतार्थ-युक्त प्रस्थानत्रयी का अनुगमन प्रत्येक दशा में आवश्यक है। शंकर-रामानुज-वल्लभ-निम्बार्क

माध्व आदि सम्प्रदाएं इसी पथ का अनुगमन करने के कारण आज तक जीवित हैं।

पूर्व की पङ्क्तियों से पाठकों को यह विदित हुआ होगा कि प्रस्थानत्रयी पर आज जिन आचार्यों के भाष्य उपलब्ध होरहे हैं, उन सब का भिन्नभावमूलिका दार्शनिक दृष्टि से ही सम्बन्ध है। हमारे विचार से अवश्य ही इन ग्रन्थों पर विज्ञान भाष्य रहे होंगे। गीता और व्याससूत्रों को थोड़ी देर के लिए छोड़ भी दिए जांय, तब भी उपनिषत्, एवं इतर वेदभाग के सम्बन्ध में तो विज्ञानभाष्यों की सत्ता का किसी दृष्टि से अभाव नहीं माना जासकता। वे वेदभाष्य **रहस्यग्रन्थ, निदानग्रन्थ, गाथाग्रन्थ. कुम्ब्याग्रन्थ, निविद्ग्रन्थ** आदि नामो से प्रसिद्ध रहे होंगे, इस अनुमान को सर्वथा निर्मूल नहीं माना जासकता। यह आर्यजाति का दुर्भाग्य है कि आज उन वैज्ञानिक ग्रन्थों में से एक भी ग्रन्थ उसे उपलब्ध नहीं होरहा है। सम्भवतः साम्प्रदायिक युग से पहिले पहिले ही यह उपपत्तिग्रन्थ स्मृतिगर्भ में विलीन होगए होंगे। यही कारण है कि किसी भी साम्प्रदायिक आचार्य के साम्प्रदायिक भाष्य में दार्शनिक दृष्टि के अतिरिक्त विज्ञान-इतिहासादि अन्य भावों का विचार उपलब्ध नहीं होता। **उपनिषद्—गीता-व्याससूत्र** इस तीनों पर जितनें भी भाष्य हमें उपलब्ध होरहे हैं, उन सबका एकमात्र दार्शनिक दृष्टिसे ही सम्बन्ध है।

यह आरम्भ में ही निवेदन किया जाचुका है कि दार्शनिक दृष्टि का भेदवाद से सम्बन्ध है। ऐसी दशा में साम्प्रदायिक दृष्टि से अपने अपने दृष्टिकोण से अपनी अपनी सम्प्रदाय की पुष्टि के लिए सर्वथा उपयोगी होते हुए भी यह दार्शनिक भाष्य सार्वदेशिक नहीं बन सकते। वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में, किंवा आर्यसाहित्य के सम्बन्ध में भगवान् मनु का **"सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति"** यह वचन, एवं आर्यसाहित्यवेत्ता भारतवर्षीय ब्राह्मणों के महत्व को प्रकट करने वाला—'**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः. स्वं स्वं चरितं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वं मानवाः**' यह वचन प्रस्थानत्रयी को केवल दार्शनिक दृष्टि प्रधान मानने से कदापि चरितार्थ नहीं हो सकता। उक्त वचनों को चरितार्थ मानने के लिए हमें एकमात्र वैज्ञानिक दृष्टि का ही आश्रय लेना पड़ेगा। क्योंकि विज्ञान में सम्प्रदायवाद का समावेश नहीं है। वह विश्व की विमल विभूति है। उससे मनुष्यमात्र का कल्याण होसकता है। सम्प्रदायभाष्य साम्प्रदायिक

की तुष्टि कर सकता है। साथ ही में वह अपनी इस संकुचित दृष्टि से यथाकथंचित् अपना कल्याण भी कर सकता है। परन्तु विज्ञानभाष्य सर्वहित का सञ्चालक है। चूंकि वर्त्तमान में प्रस्थानत्रयी पर एक भी विज्ञानभाष्य नहीं है, अतएव इस पर विज्ञानदृष्टि से विचार करना आवश्यक समझा गया है। इसी आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए सर्वप्रथम **शतपथविज्ञानभाष्य** का कुछ अंश पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। अनन्तर **ईशोपनिषत् विज्ञानभाष्य** का प्रकाशन हुआ। यद्यपि लोकदृष्टि की प्रधानता के कारण सबसे पहिले गीताभाष्य का प्रकाशन ही न्यायप्राप्त था। परन्तु इस महाग्रन्थ के प्रकाशन में हम असमर्थ थे। अतएव अबतक यह काम रुका रहा। यह इस भाष्य का सौभाग्य है कि इसे कलकत्ते के कुछ धनिकों के द्वारा प्रोत्साहन मिला है, फल स्वरूप इस का श्रीगणेश कर दिया गया है।

भूमिका लिखना आजकल की प्रचलित प्रणाली है। इसी प्रणाली का अनुरोध मानते हुए हमने भी इस सम्बन्ध में कुछ लिखना आवश्यक समझा है। हमारे विचार से किसी भी ग्रन्थ की भूमिका में **शास्त्रोपदेष्टा आचार्य, शास्त्रप्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य, शास्त्रप्रतिपादित प्रधान प्रधान विषयों का सामान्यरूप से दिग्दर्शन, शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले भिन्न भिन्न व्याख्याताओं के विचार पूर्वक उन के विचारों की स्वतन्त्र समालोचना** इत्यादि विषयो का समावेश करना आवश्यक होजाता है। इन विषयो में से शास्त्रोपदेष्टा आचार्य के सम्बन्ध में भूमिका प्रकरण में कोई विचार न किया जायगा। इस के लिए हमने **"गीता के आचार्य श्रीकृष्ण"** नामसे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखना आवश्यक समझा है। अवसर मिलने पर वह भी पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने की चेष्टा की जायगी। अभी हमें शेष विषयों का ही दिग्दर्शन करना है। इस सम्बन्ध में आरम्भ में ही हम यह स्पष्ट कर देना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं कि प्रस्तुत भूमिका में जो विचार प्रकट किए जांयगे, उन का दार्शनिकभावो से विशेष सम्बन्ध न रहेगा। ऐसा करने का मुख्य कारण यही है कि दर्शन का ज्ञान से सम्बन्ध है। एवं ज्ञान को उद्देश्य मान कर गीता के सम्बन्ध में जितना विचार विमर्श अपेक्षित है, वह दर्शनभक्त प्राचीन भाष्यकारो, एवं व्याख्याताओं के द्वारा गतार्थ है। हमारी दृष्टि में गीताशास्त्र भगवान् के "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं

वक्ष्याम्यशेषतः" इन शब्दों में ज्ञानयुक्त विज्ञानशास्त्र है। इसीलिए गीताभाष्य का हमनें "भगवद्गीताविज्ञानभाष्य" नाम रखना अन्वर्थ समझा है। हमारा विश्वास है कि यह भूमिका गीताप्रेमियों के सम्मुख एक ऐसे सर्वथा नूतन, नहीं नहीं अतिपुरातनभाव को उपस्थित करेगी कि जिस के आधार पर वे-"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः" इस प्राचीन सूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ करने में समर्थ होसकेंगे।

इति भाष्यभूमिकायां-
विषयोपक्रमः

—१—

२—सिंहावलोकन

३—शास्त्रशब्दनिर्वचन

४—शास्त्र का सामान्य उद्देश्य

५—संस्कारस्वरूपनिर्वचन

——०——

२—सिंहावलोकन

मन्त्र—ब्राह्मणरूप अपौरुषेय वेदशास्त्र को छोड़कर और जितने भी शास्त्र हैं, उन सब का कोई न कोई वक्ता (कर्त्ता) अवश्य हुआ है। अपौरुषेय वेद से किसी दृष्टि में कम महत्व न रखता हुआ भी गीताशास्त्र **श्रीकृष्ण** द्वारा प्रवृत्त होने के कारण पौरुषेय कहलाता है। विश्व के सर्वश्रेष्ठ महापुरुष कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया है, इसलिए गीता का महत्व नहीं है। अपितु गीता वेद के, विशेषतः वेद के अन्तिम भागरूप उपनिषत् के ज्ञानसहकृत विज्ञान-तत्वों को बोधगम्य शब्दों द्वारा हमारे सामने रखती है, इसलिए गीता सर्वोच्च आसन पर प्रतिष्ठित है। औपनिषद तत्वों का जैसा विश्लेषण गीता में हुआ है, वैसा अन्यत्र देखने में नहीं आता। यही कारण है कि अपने अधिकारसिद्ध स्मृति शब्द की उपेक्षा कर गीता आज उपनिषत् नाम से प्रसिद्ध हो रही है। आर्यसाहित्य में जितने भी शास्त्र उपलब्ध होते हैं, उन सब के निर्म्माताओं की अपेक्षा गीताशास्त्र के निर्म्माता भगवान् कृष्ण का आसन सर्वोच्च है। इस धरातल पर सृष्टि के आरम्भ से अबतक जितने महापुरुष अवतीर्ण हुए हैं, उन सब में मुख्य स्थान गीताचार्य को ही दिया गया है। यही नहीं, अवतार पुरुषों में भी एकमात्र कृष्ण को ही "पूर्णावतार" शब्द से संबोधित किया गया है। इस प्रकार सर्वव्यापक सच्चिदानन्द ब्रह्म के पूर्णावतार, महामहिमशाली अच्युत भगवान् (कृष्ण) के मुखपङ्कज से विनिःसृत वेदतत्वप्रदर्शक गीताशास्त्र अवश्य ही वेदातिरिक्त इतर सर्वशास्त्रों की तुलना में सर्वोच्चस्थान प्राप्त करने का अधिकार रखता है।

हम यह मानते हैं कि मानवीसृष्टि की उत्पत्ति का जैसा प्राकृतिक नियम है, उसी के अनुसार कंस के कारावास में लौहशृंखलाओं से निगड़ित देवकी के गर्भ में कृष्ण ने जन्म लिया था। हमें यह मान लेने में भी कोई आपत्ति नहीं कि कृष्ण में बालप्रकृतिसुलभ मृत्तिका-भक्षण, माखनचोरी, कन्दुकक्रीड़ा, बालगोष्ठी में विचरण आदि बालोचित सभी धर्म विद्यमान थे। साथ ही में दाम्पत्यभाव, सन्तानोत्पत्ति, देव-द्विज-गुरु-शास्त्र आदि में पूर्ण निष्ठा, समयोचित नीतिमार्ग का अवलम्बन, आपत्तिकाल में बन्धुवर्ग की रक्षा, आश्रम

धर्म्म का यथाविधि परिपालन, समय समय पर सुख-दुःखादि द्वन्द्वभावों का उद्रेक, यथाकाल भौतिक शरीर का परित्याग, आदि मानव सुलभ धर्मों का भी कृष्ण के जीवन में समन्वय था। इस प्रकार मानवधर्म्मों के सर्वात्मना विद्यमान रहते हुए भी कृष्ण कैसे अमानव पुरुष मान लिए गए? किस आधार पर उन्हें अवतार कहा गया? क्यों उन्हे पूर्णब्रह्म नाम से सम्बोधित किया गया? "गीता के आचार्य श्रीकृष्ण" नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ में इन्हीं प्रश्नों की मीमांसा की गई है। अस्मदादि साधारण जनों की दृष्टि में श्रीकृष्ण एक लौकिक मनुष्य की भांति प्रतीत होते हुए भी किन्हीं गुप्त कारणों के कारण अलौकिक पुरुष थे। ऐसे अलौकिक पुरुष का यह ग्रन्थ गीता भी यदि विश्व में अलौकिक माना जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है।

३—शास्त्रशब्दनिर्वचन

श्रीमद्‍भगवद्गीता उपनिषत् शास्त्र है। शास्त्र के रहस्यार्थ (वैज्ञानिक अर्थ) को न जानने के कारण आज हमने इस शब्द को संस्कृत वाङ्मय भारतीय ग्रन्थों का ही वाचक मान रक्खा है। वस्तुतः देखा जायतो शास्त्र शब्द के निर्वचन विज्ञान के अनुसार आर्यसाहित्य की तरंह ग्रीक, लेटिन, अर्बी, फारसी, उर्दू, हिन्दी, तेलगू, कनाडी, गुजराती, बङ्गला, पश्तो, मारवाड़ी आदि सभी भाषाओं के साहित्यिक ग्रन्थों को "शास्त्र" शब्द से सम्बोधित किया जा-सकता है। "ऐसा करने से लाभ होगा, ऐसा न करने से हानि होगी"—"ऐसा करने से हानि होगी, ऐसा न करने से लाभ होगा"-'ऐसा करो, ऐसा मत करो"-"इस तरंह करो, इस तरंह मत करो" इस प्रकार के ×विधि एवं निषेधात्मक वचनों का संग्रह ही शास्त्र कहलाता है। तत्तद्विषयों की पूर्ण परीक्षा करने वाले जिन महापुरुषों नें अपने चिरकालिक अनुभव से (परीक्षा करने में असमर्थ हमारे जैसे साधारण व्यक्तियों के कल्याण के लिए) शब्द द्वारा जो पथ हमारे सामने रक्खा है, विधि-निषेधात्मक, पूर्ण परीक्षित, अतएव सर्वमान्य शब्दराशिरूप वही पथ हमारे लिए शास्त्र है।

×-आज्ञा, आदेश, हिदायत, आर्डर, हुकुम।

'शास्" का अर्थ है आदेश, आज्ञा, हिदायत। 'त्र" का अर्थ है, आदेश के पालन की विधि, मार्ग, पद्धति, तरीका। आदेश की पद्धति का प्रतिपादक शब्द संग्रह ही "शास्-त्रम्" के अनुसार "शास्त्रम्" है। उर्दू मुहावरे के मुआफिक आप को इस तरह समझना चाहिए कि- "एक नातजुर्बेकार की तरक्की के लिए, उस की वहबूदी के लिए, उसे जानवर से इन्सान बनाने के लिए, उसे पाक साफ करने के लिए एक तजुर्बेकार आकिल और आलिम खुदापरस्त शख्स के जरिए बतौर इलहाम के बतलाई गई काबिल व कामिल हिदायतों, व उन के इस्तेमाल के तरीकों का मजमुआ ही 'शरअ"(शास्त्र) है, हिदायतनामा ही शास्त्र है।

अब देखना यह है कि शास्त्र शब्द की उक्त व्याख्या में गीताशास्त्र कहां तक सफल हुआ है। इस धरातल पर जन्म लेने वाला प्राणी अपने जन्मकाल से, जन्मकाल से ही नहीं, अपितु गर्भकाल से ही आरम्भ कर मृत्युपर्य्यन्त निरन्तर सुख की कामना किया करता है। भूल कर भी वह कभी दुःखाक्रमण की इच्छा नहीं करता। परन्तु आश्चर्य है कि सर्वथा अनैच्छिक यह दुःख निमन्त्रण की कोई अपेक्षा न रखता हुआ पद पद पर इसे परिपीड़ित किया करता है। इस प्राकृतिक परिस्थिति के आधार पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि दुःख का अवश्य ही किसी प्राकृतिक यन्त्र से सम्बन्ध है। जब दुःखभोग में हम परतन्त्र हैं तो बिना किसी तर्क-वितर्क के हमें यह भी यह मान लेना चाहिए कि दुःख के साथ साथ समय समय पर क्षणभर के लिए जो हमें सुख का अनुभव हुआ करता है, वह भी प्रकृति देवी का ही अनुग्रह है। न हम हमारी इच्छा से दुःखी होते, एवं न हम हमारी इच्छा से सुखी बनते। यदि सुखप्राप्ति का हमारे इच्छास्वातन्त्र्य के साथ सम्बन्ध होता तो संसार में कोई भी प्राणी दुःखी न रहता। अनिच्छा से उपस्थित होने वाले दुःखों को सभी व्यक्ति इच्छा से प्राप्त होने की सम्भावना वाले सुखों के बल पर भगाने में समर्थ होजाते। इस दिग्दर्शन से कहना हमें यही है कि दुःखार्णव में निमग्न मनुष्य को विद्युच्छकटवत् जो क्षणिक सुख का अनुभव हुआ करता है, वह भी परमार्थकोटि में जाकर दुःख ही है। इसीलिए ऋषियों नें जहां दुःख को प्रतिकूलवेदना कहा है, वहां यह क्षणिक सुख (सांसारिक वैषयिक सुख) अनुकूल-वेदना शब्द से सम्बोधित हुआ है। उभयविध इस दुःख का मूल कारण क्या है? सतत

अभिलाषा करने पर भी शाश्वत सुख प्राप्त क्यों नहीं होता ? शाश्वत सुख की प्राप्ति का उपाय क्या है ? कौन से कर्म्म नित्य सुख के प्रतिबन्धक हैं ? हमें कौन से कर्म्म करने चाहिएं, एवं कौन से कर्म्म नहीं करने चाहिएं ? जो ग्रन्थ इन प्रश्नों का समुचित उत्तर देने में समर्थ है, वही शास्त्र कहलाता है। गीतोपनिषत् इस सम्बन्ध में पूर्ण सफल हुआ है। इस ने विधि-निषेधात्मक कर्म्म-अकर्म्म का पूरा विश्लेषण करते हुए शाश्वत सुख की प्राप्ति का उपाय बतलाया है, अतएव हम इसे अवश्य ही शास्त्र शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं।

चार प्रकार की विद्याबुद्धियोगनिष्ठा के विशद निरूपण के साथ साथ भगवान् ने सुखप्राप्ति के अन्यतम साधनरूप १६० उपदेश गीता द्वारा हमारे सामने रक्खे हैं। और और जितने भी शास्त्र हैं, वे ब्रह्म-कर्म्म के व्यतिक्रम के कारण अपूर्ण हैं। किसी में केवल ब्रह्म की प्रधानता है, एवं कोई कर्ममार्ग को ही उपादेय बतला रहा है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि किसी ने ज्ञानपक्ष को महत्व दिया है, तो किसी ने कर्म का पलड़ा भारी रक्खा है। परन्तु गीताशास्त्र जहां ज्ञान का सम्यक् निरूपण करता हुआ दर्शनशास्त्र है, वहां विज्ञान का भी इस में पूर्णरूप से विश्लेषण हुआ है। ब्रह्ममूलक दर्शन, एवं कर्म्ममूलक विज्ञान दोनो का सम्यक् निरूपण करता हुआ विधि-निषेधात्मक यह शास्त्र अवश्य ही सर्वोत्कृष्ट शास्त्र कहा जासकता है।

४-शास्त्र का सामान्य उद्देश्य

जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है, आदेश वाक्यों का संग्रह, एवं उनके परिपालन की विधि बतलाने वाले शब्दसग्रह का ही नाम शास्त्र है। इस सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि विधि-निषेधात्मक इस गीताशास्त्र का उद्देश्य क्या है ? अमुक काम करो, अमुक काम मत करो, यह शास्त्रादेश हमारा क्या उपकार कर सकता है ? इन प्रश्नों का समाधान यद्यपि यह भाष्य ही कर देगा, तथापि संदर्भ सङ्गति के लिए यहां भी संक्षेप से शास्त्र का प्रयोजन, किंवा शास्त्र के सामान्य उद्देश्य को जान लेना अनावश्यक न होगा। ईश्वरप्रजापति के अंश-

भूत जीवप्रजापति में वे सब कलाएं विद्यमान हैं, जो कि ईश्वर में नित्य प्रतिष्ठित हैं। "स वा एप आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" (शत० ब्रा० १४।७।२।६।) इस ब्राह्मण सिद्धान्त के अनुसार आत्मा में **मन–प्राण–वाक्** यह तीन कलाएं प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों आत्मकलाओं का अध्यात्मसंस्था में क्रमशः **कारणशरीर (मन), सूक्ष्मशरीर (प्राण), स्थूलशरीर (वाक्)** रूप से विकास हुआ है।

प्रज्ञामात्रामय मनोमय प्रपञ्च कारणशरीर है, देवमात्रामय प्राणप्रपञ्च सूक्ष्मशरीर है, एवं भूतमात्रामय वाक्प्रपञ्च स्थूलशरीर है। सब के उपर स्थूलशरीर का वेष्टन है, इस के भीतर सूक्ष्मशरीर प्रतिष्ठित है, इस के भीतर कारणशरीर की सत्ता है, सर्वान्त में सर्वान्तरतम विशुद्ध आत्मा प्रतिष्ठित है। आत्मदेवता के निरुपाधिक–सोपाधिक भेद से दो विवर्त माने गए हैं। विशुद्ध, निष्कल, एकल आत्मा निरुपाधिक है। इस के सम्बन्ध में शास्त्रोपदेश कुण्ठित है। कारण इस का यही है, कि शब्दातीत इस विशुद्ध आत्मा का शब्दात्मक शास्त्र न कोई उपकार कर सकता, न अपकार कर सकता। वह तो सदा ही नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त, एवं अनन्तकल्याणगुणाकर है। यही आत्मा माया, कला, गुण, विकार, अञ्जन, आवरण इन उपाधियों के कारण सोपाधिक बनता हुआ उक्त मन–प्राण–वाक्रूप तीन संस्थाओं में परिणत हो जाता है। आत्मा की यह तीनों संस्थाएं क्रमशः आत्मा–प्राण–पशु इन नामों से भी व्यवहृत हुई हैं। आत्मा मनोमय बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, यही कारण शरीर है। प्राण प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है, यही सूक्ष्मशरीर है। पशुभाग वाङ्मय बनता हुआ अर्थप्रधान है, यही स्थूलशरीर है। "आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्" (शत० १४।२।२।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार आत्मरूप कारणशरीर, प्राणरूप सूक्ष्मशरीर, एवं वाङ्मय स्थूलशरीर तीनों के समुच्चय को हम आत्मा शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। इसी आधार पर–"आत्मा वै तनूः (शरीरम्)" (शत० ६।७।२।६।),–'आत्मनो वा इमानि सर्वाण्यङ्गानि प्रभवन्ति" (शत० ४।२।२।५),–"प्राणो वै ब्रह्म (आत्मा)" (शत० १४।६।१०।१),–"आत्मा वै पशुः" (कौ० ब्रा० १२।७) इत्यादि निगम वचन प्रतिष्ठित

हैं। तनू (स्थूलशरीर), एवं ब्रह्म (सूक्ष्मशरीर) को भी श्रुतियों ने आत्मा शब्द से सम्बोधित किया है। इन तीनों की समष्टि एक आत्मा है, यही सोपाधिक आत्मा है। निरुपाधिक आत्मा जैसे निर्विशेष कहलाता है, एवमेव त्रिकल सोपाधिक वही आत्मा सविशेष कहलाया है। यही सविशेष-आत्मा वेद में प्रजापति शब्द से सम्बोधित हुआ है। आत्मा-प्राण-पशु की समष्टि ही प्रजापति है।

उक्त माया-कला आदि परिग्रहों के न रहने से जो निर्विशेष अमायी, निष्कल, निर्गुण अविकारी, निरञ्जन, एवं पाप्माओं से शून्य था, वही उक्त परिग्रहों से युक्त होकर सविशेष बनता हुआ प्रजापति नाम धारण कर मायी, सकल, सगुण, सविकारी, साञ्जन, एवं पाप्माओं से युक्त होजाता है। परिग्रहदशा में आत्मा की वास्तविक ज्ञानज्योति का तिरोभाव होजाता है। मलिन-सत्व युक्त आत्मा के इस मलिन प्रकाश से क्षेत्रज्ञ आत्मा (विज्ञानात्मा-बुद्धि), एव इन्द्रियसंचालक प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रियमन) दोनों मलिन होजाते हैं। फलतः कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक जाता रहता है। ऐसी दशा में या तो मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ बन जाता है, अथवा सुख की लालसा से दोलायमानान्तःकरण बनता हुआ, उत्पथमार्ग का आश्रय लेता हुआ और भी अधिक पङ्क में निमग्न हो जाता है। इस आपत्ति के निराकरण के लिए आत्मा पर आये हुए मायादि परिग्रह दोषो को हटाना नितान्त आवश्यक है। जिस प्रक्रिया (तरीके) से यह दोष परिमार्जित होते हैं, उस प्रक्रिया को ही शास्त्रों में "संस्कार" कहा जाता है। भारतवर्ष के सभी शास्त्रो का एकमात्र मुख्य उद्देश्य आत्मसंस्कार ही है। कहना न होगा कि इस उद्देश्य में गीताशास्त्र ने जैसी सफलता प्राप्त की है, वैसी सफलता में अन्य शास्त्र पीछे ही रहे हैं।

प्राचीन शास्त्रमर्य्यादा के अनुसार आत्मा की स्थूलकलारूप स्थूलशरीर के संस्कार के लिए अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेदशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। प्राणकलारूप सूक्ष्मशरीर के संस्कार के लिए मन्वादिधर्म्मशास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। एव मनोमय कारणशरीररूप आत्मा के संस्कार के लिए उपनिषच्छास्त्र, एवं तद्व्याख्यानभूत शारीरकशास्त्र (व्यासदर्शन) प्रवृत्त हुए है। इन तीनों शास्त्रों को क्रमशः तीनों शरीरों को मुख्य मानते हुए, इतर दोनो शरीरो की रक्षा का भी पुरा ध्यान रखना पड़ता है। आयुर्वेदशास्त्र सदा यह ध्यान रक्खेगा कि स्थूलशरीर के हित के साथ कहीं सूक्ष्म

एवं कारणशरीर पर आघात न होजाय। एवमेव सूक्ष्मशरीर के संस्कारक धर्म्मशास्त्र को संस्क्रियमाण व्यक्ति की शरीरदशा, एवं आत्मनिष्ठा को लक्ष्य में रख कर ही धर्म्मादेशों का विधान करना पड़ेगा। इसी प्रकार उपनिषच्छास्त्र, किंवा वेदान्तशास्त्र अधिकारी भेद से ही आत्मनिष्ठा का विधान करेगा। प्रत्येक शास्त्र को अपने मूलस्तम्भ की रक्षा के लिए इतर दोनो तूलस्तम्भों की रक्षा का पूरा ध्यान रखना पड़ता है यही तात्पर्य है।

यही कारण है कि कारणशरीरसंस्कारक वेदान्तशास्त्र साथ साथ ही में भावना की पवित्रता, एवं स्थूलशरीर की (स्नान-आहार विहार आदि रूप नियन्त्रण द्वारा) बहिःशुद्धि को आवश्यक समझता है। इसी प्रकार धार्मिक संस्कार भी आत्मसंस्कार-देवसंस्कार-भूतसंस्कार भेद से तीन ही भागो में विभक्त माने गए हैं। यही स्थिति आयुर्वेदशास्त्र की है। इस तरह यद्यपि तीनों ही शास्त्र तीनों शरीरो के उपकारक बनते हुए "प्रजापतिसंस्कारशास्त्र" नाम से व्यवहृत होसकते हैं। तथापि तीनों के समुच्चय की दृष्टि से हम इतर दोनों शास्त्रों की अपेक्षा गीताशास्त्र को ही प्रधानरूप से प्रजापतिसंस्कारशास्त्र कहना उचित समझते हैं। कारण इस का यही है कि वेदान्तशास्त्र प्रधानरूप से आत्मसंस्कारक है, शेष दोनो भावों में यह अप्रधान है। धर्म्मशास्त्र प्रधानरूप से प्राणसंस्कारक है, शेषभावो में गौण है, एवं आयुःशास्त्र प्रधानरूप से पशुसंस्कारक (भूतसंस्कारक) है, शेषभाव में गौण है। इधर हमारा गीताशास्त्र आत्मा-प्राण-पशु तीनों का समानरूप से संस्कारक बनता हुआ अवश्य ही तीनों से अधिक महत्त्व रखता है। गीताशास्त्र पर दृष्टि डालिए। वहां आप को बड़े विस्तार के साथ भूतमय स्थूलशरीर के संस्कारक आहार-विहारादि का परिपूर्ण विधान मिलेगा। प्राणमय सूक्ष्मशरीर के संस्कारक भावशुद्धि, सत्वसंशुद्धि, आस्तिक्य आदि का उपबृंहण उपलब्ध होगा। एवं मनोमय कारणशरीरात्मक आत्मोपयिक बुद्धियोगादि संस्कारों का प्राचुर्य मिलेगा। यही तो इस शास्त्र की सर्वशास्त्रापेक्षया उत्कृष्टता, महत्ता, एव अपूर्वता है। निष्कर्ष यही हुआ कि "आत्मा-प्राण-पशु समष्टिरूप (कारण-सूक्ष्म-स्थूलशरीररूप) सविशेष **आत्मा का संस्कार करना ही शास्त्र का सामान्य उद्देश्य है। एवं अपने इस उद्देश्य में-यह गीताशास्त्र इतर शास्त्रों की अपेक्षा सर्वात्मना सफल हुआ है।**

५-संस्कारस्वरूपनिर्वचन

किसी दोषयुक्त वस्तु को जिस प्रक्रियाविशेष से निर्दोष बनाया जाता है, वह प्रक्रिया-विशेष ही संस्कार है। बिना संस्कार के वस्तु का प्रातिस्विक स्वरूप विजातीय धर्मों (दोषों) के कारण विषम बना रहता है। विषमता कुटिलता है, इस कुटिलता से उसके एकत्वभाव का विनाश होजाता है, परमाणुसंघ छिन्न भिन्न होजाता है, नानाभावरूप मृत्यु (नाश) का उदय होजाता है। ठीक इसके विपरीत समता एकत्वभाव की प्रवर्त्तिका बनती हुई एकत्वमूलक अमृत भाव की स्वरूपसमर्पिका बनती हुई एकत्वमूलक अमृतभाव (वस्तुस्वरूपरक्षा) की साधिका बन जाती है। जिस प्रक्रिया से अभ्युदय एवं निःश्रेयसमूला इस समता का, दूसरे शब्दों में एकत्व का उदय होता है, वही प्रक्रिया 'सम्-कार" भाव की जननी बनती हुई संस्कार शब्द से सम्बोधित हुई है। "समित्येकीभावे" इस निरुक्त सिद्धान्त के अनुसार "सम्" शब्द एकत्व का द्योतक है। "सम्" एकत्व है, एकत्व ही समत्व है। इस समभाव को सम्पादित करने वाली प्रक्रिया ही संकार है। सुडागम से संकार ही संस्कार रूप में परिणत होगया है। वह ऐसी कौनसी प्रक्रिया है, जिससे पदार्थ की अवनतिमूला विषमता दूर होजाती है, एवं उन्नतिमूलक समत्वयोग का उदय होजाता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए **दोषमार्जन, गुणाधान, हीनाङ्गपूर्ति** इन कर्मों को ही सामने रखना पड़ेगा। इन्हीं तीनों प्रक्रियाओं से पदार्थों में उक्त अतिशय उत्पन्न होता है।

सबसे पहिले दोषमार्जन को ही लीजिए। दोष की कोई नियत परिभाषा बना डालना भी एक जटिल समस्या है। किसी की दृष्टि में एक धर्म दोष है, वही धर्म किसी अन्य की दृष्टि में गुण है। स्वयं शास्त्रों में भी **देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा** के तारतम्य से गुण-दोषों का परस्पर में संकर व्यवहार देखा गया है। उदाहरण के लिए सत्यभाषण गुण माना गया है। परन्तु-"**वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्**" इत्यादिरूप से इस नियम का भी यत्र तत्र अपवाद मिलता है। "**मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि**" के अनुसार अहिंसा गुण है, हिंसा दोष है। परन्तु-"**तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः**" इत्यादि रूप से यज्ञिय पशुहिंसा को गुण माना

गया है। ऐसी दशा में गुण-दोष का कोई व्यापक लक्षण बना डालना एक प्रकार से असंभव ही होजाता है।

यह सब कुछ होने पर भी प्रयास करने पर एक लक्षण अवश्य ही बन जाता है, जिसे कि हम गुण-दोषभावों का सामान्य लक्षण कह सकते हैं "जिन कारणों से अपने अन्तरात्मा में दुःख, ग्लानि, क्षोभ, अशान्ति आदि भावों का उदय होता है, एवं हमारे जिन कामों से दूसरे प्राणियों में दुःखादि भावों का उद्रेक होता है, वे सब कारण "दोष" शब्द से सम्बोधित किए जासकते हैं। कितनें हीं कर्म्म ऐसे हैं, जिनसे हमारी तो उन्नति होती है, परन्तु दूसरों को उनसे कष्ट होता है। ऐसे स्वार्थमूलक सभी कर्म वैयक्तिक सुख के कारण बनते हुए अघरूप दोष ही माने जांयगे, जैसा कि–"भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" (गीता० ३।१३।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। कारण इसका यही है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में रह कर ही अपनी जीवनयात्रा का निर्वाह करना है। ऐसी स्थिति में इसके लिए यह आवश्यक होजाता है कि यह अपनी शान्ति, सुख के साथ साथ समाज की शान्ति, सुख का भी पूरा ध्यान रक्खे। वैयक्तिक स्वार्थभावना ही आगे जाकर समाज की अशान्ति का कारण बन जाती है।

विचार करने से प्रतीत होगा कि व्यक्तियों के समूह का ही नाम समाज है, समाजसमष्टि ही राष्ट्र है, एवं राष्ट्रसमष्टि ही विश्व है। इन चारों में मूलधरातल व्यक्तिवाद ही है। यदि सभी व्यक्ति अपनें अपनें हितों को हीं प्रधानता देते जांय तो इन स्वार्थी व्यक्तियों का संघठित समाज भी स्वार्थी बनता हुआ राष्ट्र के नाश का कारण बन जाय। राष्ट्रविनाश अन्य राष्ट्रों की अशान्ति का कारण बनता हुआ अन्ततो गत्वा विश्व अशान्ति को अपनी विश्रामभूमि बनाले। इसप्रकार यह व्यक्तिस्वार्थ, किंवा व्यक्तिस्वातन्त्र्य परम अशान्ति का कारण बन जाता है। ऐसी दशा में केवल वैय्यक्तिक हितसाधक कारणों को कभी गुण नहीं माना जासकता। हमारे कार्यों से हम भी दुःखी न हों, दूसरे भी दुःखी न हों, प्रत्युत हमारे उपकार के साथ साथ दूसरे भी हमारे कार्यों से उपकृत हों, यही गुणभाव कहलावेगा। ठीक इसके विपरीत 'जिन कारणों से हम

भी दुःखी रहें, दूसरे भी दुखी रहें, वे सब कारण दोष मानें जांयगे" गुण–दोष का यही लक्षण शास्त्रसम्मत है। "यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः" (गीता–१२।१५।) "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ" (गीता० ३।११।) इत्यादि गीता सिद्धान्त उक्त लक्षणों का ही समर्थन कर रहे हैं।

उक्त दोष जिन कारणों से हमारी अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होगये हैं, उन कारणों को भविष्य के लिए रोकना, एवं साथ ही में पहिले से सञ्चित संस्काररूप दोषों को समूल नष्ट कर डालना ही पहिला, एवं मुख्य दोषमार्जनसंस्कार है। जिन कारणों से उक्त लक्षण गुणभाव पहिले से आत्मा में प्रतिष्ठित हैं, उन कारणों को सबल बनाते हुए, साथ ही में उन सबल कारणों के द्वारा ओर ओर नए गुणों का आत्मा में आधान करना ही दूसरा गुणाधानसंस्कार है। जिस पदार्थ का अङ्ग भङ्ग रहता है, उस की पूर्णता विच्छिन्न रहती है। यदि एक कुर्सी का पाया टूटा हुआ है तो सर्वथा निर्दोष होती हुई भी वह अपूर्ण है। लकड़ी साफ सुथरी है, दोषमार्ज्जन संस्कार हो रहा है। पालिस होरही है, गुणाधानसंस्कार भी विद्यमान है। परन्तु अङ्ग भङ्ग से दोनों संस्कारों के रहने पर भी कुर्सी अधूरी है, अपूर्ण है, निरर्थक है। यही दशा आत्मसंस्था की समझिए। आत्मा सर्वथा निर्दुष्ट है, साथ ही में उस में अच्छे गुण भी विद्यमान हैं। परन्तु यदि आत्मा का अङ्ग विकल है तो वह अपूर्ण है। सर्वधर्म्मोपपन्न प्रजापति (आत्मा) के अनेक अङ्ग होते हैं। जब तक वे सब अङ्ग पूर्ण नहीं रहते, तब तक प्रजापति अपूर्ण रहता है। अपूर्णता हृदयबल को उच्छिन्न कर देती है। पूर्णबल का आधान केन्द्र के आधीन है, एवं आत्मपूर्णता पर केन्द्रभाव का विकास अवलम्बित है। अङ्गहीन बन जाने से हृदयबल उच्छिन्न होजाता है, हृदयबल की उत्क्रान्ति से पूर्णता का उच्छेद होजाता है। यदि सर्वाङ्गपूर्त्ति है तो केन्द्रभाव के पूर्णोदय के साथ आत्मबल का पूर्ण उदय है। ऐसा बलवान् आत्मा ही महानात्मा, किंवा महात्मा कहलाता है। पूर्णतालक्षण महद्भाव ही इस का महा-आशय (बड़ा दायरा-महाशय) है, यही आत्मशक्ति (willpower) है। दोष भी नहीं हैं, आत्मोपयिक वहिरंग गुणों का भी आधान है। परन्तु इससे ही काम नहीं चल सकता। अभी क्षमा, दया, करुणा, निग्रह, अनुग्रह, तितिक्षा आदि स्वरूप-

धर्म्मस्थानीय आत्मा के अन्तरङ्ग अङ्गो की प्रतिष्ठा और अपेक्षित है। क्रोध, ईर्ष्या, पिशुनता, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, हिंसा, परनिन्दा, दोषान्वेषण आदि जिन कारणों से आत्मा के उक्त अन्तरङ्ग अङ्ग नष्ट होजाते हैं, उन कारणो को नष्ट करने के लिए इन के प्रतिद्वन्द्वी शान्ति, निःस्वार्थभाव, उदारता, मुक्तहस्तता, आत्मसंयम, निरभिमानिता, सर्वहितरति, अहिंसा, परगुणप्रशंसा, गुणदर्शन आदि अङ्गपूरक कारणों को उदित कर देना ही तीसरा हीनाङ्गपूर्त्ति-संस्कार है। इन तीनों संस्कारो से संस्कृत आत्मा सब तरह से परिपूर्ण, एव सुसमृद्ध वनता हुआ अपने पुरुपार्थरूप जीवन के मुख्य उद्देश्य को सफल वनाने में समर्थ वन जाता है।

निष्कर्ष यही हुआ कि आत्मा के पूर्ण अभ्युदय के लिए उक्त तीनों सस्कार, दूसरे शब्दों में त्रिपर्वा एक ही आत्मसस्कार का अनुगमन करना आवश्यक होजाता है। इन तीनों में दोषमार्जन संस्कार मुख्य माना गया है। कारण इसका यही है कि जब तक आत्मा के दोष नहीं हटा दिए जाते, तब तक न तो उस पर अन्य गुणों का आधान होसकता, एवं न हीनाङ्गपूर्त्ति संस्कार को ही प्रवेश करने का अवसर मिलता। मैले एवं चिकने वस्त्र पर रक्त-पीत-हरितादि रंगों का आधान तव तक सर्वथा असम्भव है, जब तक कि वस्त्र पर चढे हुए दोषरूप मैल एव चिकनाई को न हटा दिया जाय। यह दोष आत्मा के अन्तस्तल में प्रतिष्ठित गुणों के महाप्रतिवन्धक हैं। सात्विक प्रकाश के लिए यह तिमिर है। यह दोष आत्मा एव आत्मगुणो के अन्तः (मध्य में) प्रतिष्ठित होजाते हैं। अतएव इन्हे संस्कृत साहित्य में "अन्तः-अयति-गच्छति" इस निर्वचन के अनुसार अन्तराय कहा गया है। यह आत्म-प्रकाश को मलिन करते हुए बुद्धि-मन-इन्द्रियादि आत्मपरिग्रहों को भी मलिन कर डालते हैं। इसीलिए-"अन्तरायतिमिरोपशान्तये" इत्यादि रूपसे दोषरूप अन्तराय को तिमिर कहा गया है। विना इनके हटाए सब प्रयास व्यर्थ है। इसी आधार पर तीनों सस्कारों में शास्त्रोंने दोषमार्जन सस्कार को ही विशेष महत्व दिया है। यद्यपि शास्त्र इतर दोनो संस्कारों का भी प्रतिपादन करते हैं, परन्तु मुख्य लक्ष्य दोपमार्जन सस्कार ही है, एव अपने इस मुख्य उद्देश्य में हमारा गीताशास्त्र सब तरह सफल हुआ है। यह तो हुई सस्कार शब्द की सामान्य निरुक्ति।

अब हमारे सामने वे संस्कार बच जाते हैं, जिन्हें सनातनधर्म्मी श्रौत-स्मार्त्तसंस्कार कहा करते हैं।

उक्त श्रौत स्मार्त्त संस्कार ४८ भागो में विभक्त माने गए हैं। इन में ३२ श्रौत संस्कार हैं, एवं १६ स्मार्त्तसंस्कार हैं। इन संस्कारो से ही द्विजाति का द्विजातित्व सम्पन्न होता है। विना संस्कार के जो मूल्य एक काष्ठ के घोड़े का है, वही मूल्य असंस्कृत द्विजाति का है। आज जो भारतवर्ष में धर्म्मव्यतिक्रम देखा जाता है, इस का मूल कारण संस्कारों का अभाव ही है। संस्कारदोष से ही हम आज अधर्म्म को धर्म्म मान रहे हैं, एवं धर्म्म का तिरस्कार कर रहे हैं। अस्तु, इन सब श्रौत-स्मार्त्त संस्कारों का भूमिकाद्वितीयखण्डान्तर्गत कर्म्मयोगपरीक्षा नाम के प्रकरण में विस्तार से वैज्ञानिक निरूपण किया जाने वाला है, अतः प्रकृत में इस सम्बन्ध में विशेष कुछ न कह कर अन्त में यही बतला देना चाहते हैं कि आत्मसंस्कार करना ही शास्त्रों का मुख्य लक्ष्य है, एवं आत्मा के स्थूल-सूक्ष्म-कारण इन तीनों पर्वों का संस्कार करता हुआ गीताशास्त्र अवश्य ही इतर आत्मसंस्कारक शास्त्रों की अपेक्षा उत्कृष्ट है।

६—गीताकालमीमांसा

❀ श्रीः ❀
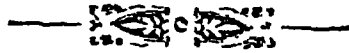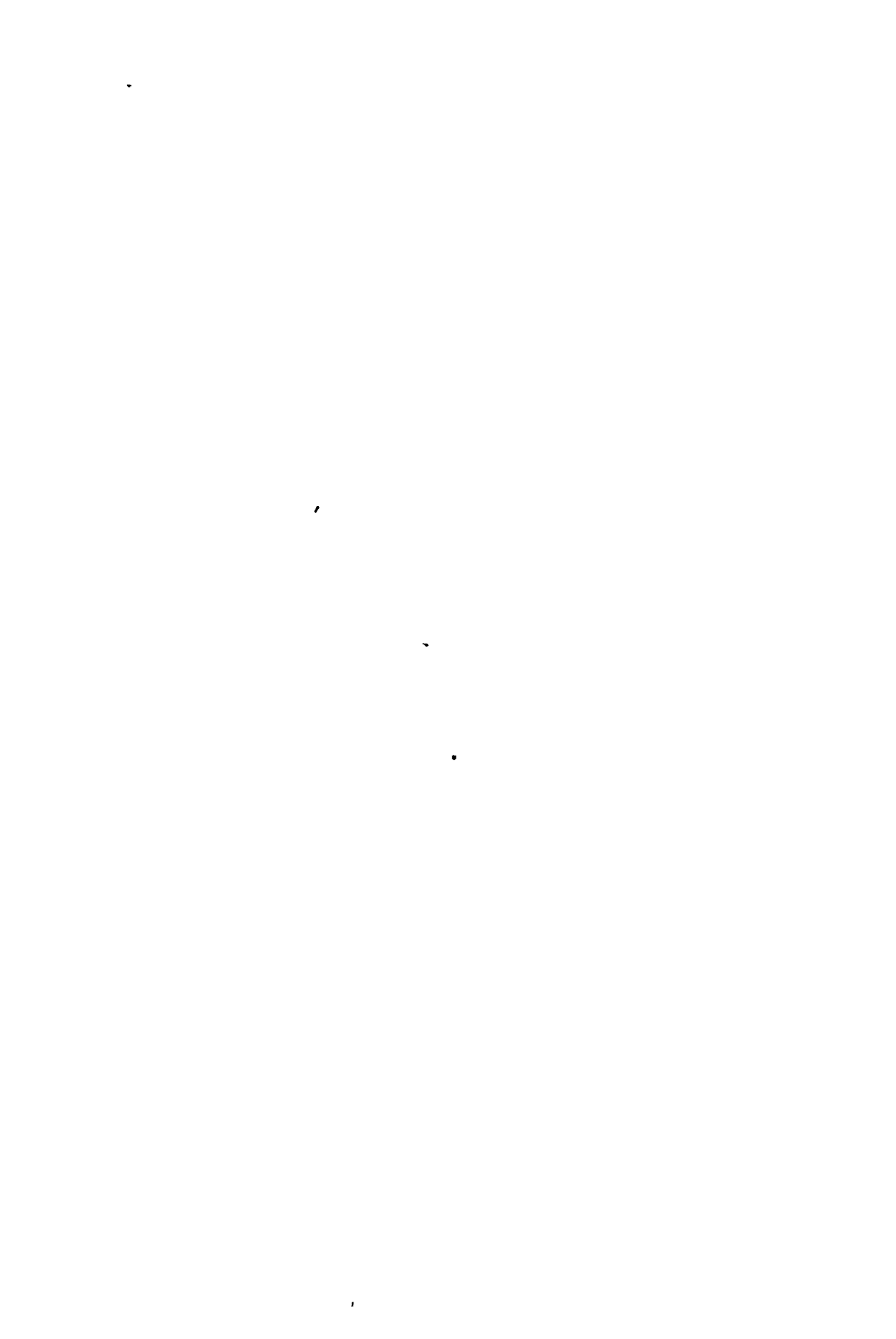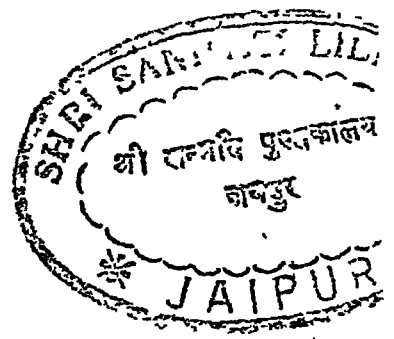
६-गीताकालमीमांसा

उक्त शीर्षक के आधार पर सम्भवतः पाठक यह अनुमान लगाने लगेंगे कि हम इस प्रकरण में गीताग्रन्थ का रचनाकाल बतलाने वाले हैं। इस सम्भावना को निर्मूल करते हुए विषयारम्भ में ही हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि गीताकाल से हमारा अभिप्राय युगधर्म है। जिस पद्धति से आर्षप्रणाली में कालनिर्णय करने का नियम है, उसी पद्धति से यहां भी निर्णय किया जायगा। प्रस्तुत गीताग्रन्थ भगवान् व्यास की रचना है, एवं व्यास का समय महाभारत-समकालीन है। फलतः इस सर्वविदित गीताकालनिर्णय के सम्बन्ध में कुछ कहना पिष्टपेषण है। व्यास ने अपने शब्दों द्वारा भगवान् का उपदेश व्यक्त किया है, वह उपदेशसंग्रह ही वास्तविक गीताशास्त्र है। प्रकृत प्रकरण में हमें उसी मूलगीताशास्त्र के काल के सम्बन्ध में विचार करना है। भगवान् की वास्तविक गीता का उपदेश सर्वप्रथम कब हुआ? यही विचारणीय है। यद्यपि स्वयं गीता ने—

"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥" (गी० ४अ० १श्लो०)

इत्यादिरूप से मूलगीतोपदेशकालनिर्णय के सम्बन्ध में कुछ संकेत किया है। परन्तु जिस प्रकार महाभारतकाल सर्वसाधारण को विदितप्राय है, वैसे वैवस्वतयुग का सर्वसाधारण को परिचय नहीं है। कारण इसका यही है कि वैवस्वतयुग का देवयुग से सम्बन्ध है, देवयुग का वेदयुग से सम्बन्ध है, एवं वेदयुग का वैदिक इतिहास से सम्बन्ध है। इधर भारतीय विद्वानों नें कुछ समय से वेद में इतिहास का अभाव मान रक्खा है। फलतः वास्तविक निर्णय से उक्त कालनिर्णय से सर्वसाधारण तो क्या, विद्वान् भी वञ्चित हैं। इसलिए गीताकाल के सम्बन्ध में हमनें कुछ मीमांसा करना आवश्यक समझा है।

इस धरातल पर मनुष्य की उत्पत्ति कब हुई ? क्या वानरादि पशुओं से मनुष्ययोनि का विकास हुआ है ? मनुष्यसृष्टि से पहिले कौन से प्राणी उत्पन्न हुए ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान का अवसर नहीं है। इस सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा रखने वालों को **पुराणरहस्या-न्तर्गत पौराणिक विकासवाद** का ही अवलोकन करना चाहिए। यहां हम केवल मानवसभ्यता के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में दो शब्द कहना चाहते हैं। वेद-पुराणादि शास्त्रों के ऐतिहासिक स्थलोंके मन्थन से आप मानवसभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले युगों को ६ भागों में विभक्त कर सकते हैं। वे ही ६ ओं युग तत्तत् स्थलविशेषों में क्रमशः **१-तमोयुग, २-प्राणीयुग, ३-आदियुग, ४-मणिजायुग, ५-स्पर्द्धायुग, ६-देवयुग,** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। इन्हीं का संक्षेप से क्रमिक दिग्दर्शन कराया जाता है।

—o—

१-तमोयुग

जिस युग के सम्बन्ध में हम कोई विचार नहीं कर सकते, वही तमोयुग है। इस युग में पशु, पक्षी, मनुष्य आदि थे, अथवा नहीं ? थे तो उन की क्या अवस्था थी ? वे कैसे रहते थे ? क्या खाते पीते थे ? इत्यादि प्रश्न जिस युग के सम्बन्ध में अज्ञानगर्भ मे विलीन थे, वही युग तमोयुग था। यही युग वेद में असद्युग नाम से सम्बोधित हुआ है। निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त्त वचन इसी युग के समर्थक हैं।

१-तम आसीत् तमसा गूढ्हमग्रे। (ऋक् सं० १०।१२९।३)।

२-असदेवेदमग्र आसीत्। (तै० ब्रा० २।२।९)।

३-इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्। (तै० ब्रा० २।२।९)।

१-आरम्भ में तम तम से ढका हुआ था। अर्थात् हमारे लिए सर्वथा अविज्ञेय, अतएव तमोमय सृष्टिप्रपञ्च उस युग मे सचमुच तम से ही आवृत था।

२—यह सब कुछ प्रपञ्च पहिले असत् (अविज्ञात) था।

३—आज हम जो कुछ देख रहे हैं, वह पहिले कुछ न था।

४–देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत । (ऋक्० सं० १०।७२) ।

५–आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुः १ अ० ५ श्लो०) ।

६–असाम्प्रतमविज्ञेयं ब्रह्माग्रे समवर्त्तत ।
तस्यात्मना सर्वमिदं व्याप्तमासीत्तमोमयम् ॥ (वायुपु० ५।२२।) ।

७–महाप्रलयकालान्त एतदासीत्तमोमयम् ।
प्रसुप्तमिव चातर्क्यमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अविज्ञेयमविज्ञातं जगत्स्थास्नु चरिष्णु च ॥ (मत्स्यपु० ३।२५) ।

सचमुच किसी समय विश्व अवश्य ही तमोभाव से आक्रान्त रहा होगा। आज जो पृथिवी-अन्तरिक्ष–द्यौरूप से त्रैलोक्यविभाग (पार्थिवभौमत्रैलोक्य विभाग) देखा जाता है, वह उस समय न होगा। न स्थावरसृष्टि होगी, न जङ्गमसृष्टि होगी। यदि कुछ होगा भी तो वह हमारे लिए सर्वथा अज्ञात रहा होगा। 'इदं वा अग्रे नैव किञ्चनासीत्, न द्यौरासीन्न पृथिवी, नान्तरिक्षम्" (तै० ब्रा० २।२।९) इत्यादि वचन भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं। संसार की यह अज्ञात-दशा कब तक रही होगी, यह निर्णय करना कठिन है। विकासवाद के क्रमिक सिद्धान्त के अनुसार तो लाखों वर्षों तक इस प्रथम युग का साम्राज्य रहना चाहिए। अस्तु जो युग अन्धतम से वेष्टित था, उस के सम्बन्ध में इस से अधिक कुछ नहीं कहा जासकता।

———o———

४–देवताओं के पूर्वयुग में असत से ही सत् का विकास हुआ है।

५–यह व्यक्त प्रपञ्च किसी समय तमोभूत, अविज्ञात, लक्षणशून्य, तर्कशून्य, अङ्गुलिनिर्देश रहित, एवं सोता हुआ सा था।

६–ब्रह्म नाम का पदार्थ पहिले वर्त्तमान स्थिति से भिन्न था, अविज्ञेय था। उसी महात्मा से यह कुछ व्याप्त था। ब्रह्ममय यह प्रपञ्च उस समय तमोमय था।

७–महाप्रलयकाल के अन्त में यह सब कुछ स्थावर जङ्गमप्रपञ्च तमोमय, प्रसुप्त तर्कशून्य, अज्ञात, अलक्षण, अविज्ञेय, एवं ज्ञानसीमा से बहिर्भूत था।

२—प्राणी युग

आगे जाकर जीवसर्ग का विकास हुआ। किसी अचिन्त्यशक्ति की मानस प्रेरणा से दाम्पत्यभावद्वारा जड़-चेतनरूप धातु मूल-जीव नाम के तीन जीवसर्गों का विकास हुआ। इस युग के सभ्य प्राणी पशु ही माने गए। क्योंकि इस युग के मनुष्यों के गुरू यही पशु थे। इसी दृष्टि से इस युग को हम पशुयुग भी कह सकते हैं। इस युग के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान ने खोज आरम्भ की। उसी अन्वेषण के आधार पर हम इस अनुमान पर पहुंचे कि आरम्भ में मनुष्य का जीवन पशुओं की भांति ही व्यतीत होता था। दूसरे शब्दों में इस युग में पशु ही मनुष्य के शिक्षक थे। पशु सर्वथा नग्न रहते हैं, परस्पर में लड़ा करते हैं, सबल पशु निर्बल पशुओं को मार कर खाजाते हैं। वर्षा-धूप आदि के आक्रमण से बचने के लिए वृक्षों की छाया, पर्वत कन्दराओं, भूमिगर्तों का आश्रय लेते हैं। जङ्गली घास, फल, पत्ते आदि ही इन की भोजन सामग्री है। तत्कालीन मनुष्यों नें भी इन पशुधर्म्मों को हीं अपनी जीवयात्रा का साधक बनाया। इस युग के मनुष्य सर्वथा नग्न रहते थे। पशुओं का, एवं मनुष्यों का कच्चा मांस, जङ्गली कन्द-मूल-फल इन का भोजन था। भूमि इन की शय्या थी। परस्पर में बात बात पर लड़ते झगड़ते रहना इन का स्वाभाविक धर्म्म था। अपनी सन्तानों को हिंसक पशुओं से बचाने के लिए यह पर्वतकन्दराओं, वृक्षशाखाओं, एवं गड्ढों आदि का आश्रय लिया करते थे। भाषा का प्रयोग सर्वथा अस्फुट था। केवल पशुओं की ध्वनिवाक् की तरह "आं—आं—वां—वां—हो—हो" आदि सांकेतिक भाषा के द्वारा ही इन के व्यवहार सञ्चालित थे। गोरेला, शिम्पाञ्जी, वनमानुष, सिंह, व्याघ्र, वराह आदि हिंसक पशुओं से परिपूर्ण, महाभयावह, दुस्तर उन अफ्रिका के जंगलों में रहने वाले, उक्तलक्षण, सर्वथा नग्न, पूर्णअसभ्य, एवं नरमांसभक्षी जंगली मनुष्य आज भी उस युग की याद दिला रहे हैं। मनुष्य की यह अवस्था भी हजारों वर्षों तक रही होगी, क्योंकि मानवीय सभ्यता का विकास क्रमशः ही हुआ करता है।

३–आदियुग

प्रकृति देवी की अनुकम्पा से आगे जाकर मनुष्य की बुद्धि में थोड़ा सा विकास हुआ। ज्यों ज्यों इन की बुद्धि विकसित होने लगी, त्यों त्यों इन्होंनें अपने जीवन में क्रमिक सुधार करना आरम्भ किया। नग्न रहने में इन्होंनें लज्जा का अनुभव किया। इन की दृष्टि सर्वप्रथम पशुओं के शरीर पर गई। इन्होंने देखा कि पशुओं की गुप्तेन्द्रिएं प्रकृतिद्वारा चर्मवेष्टन, एवं पुच्छ से ढकी रहतीं हैं। इसी पशुशिक्षा के आधार पर इन्होंनें भी वृक्षवल्कल, शुष्कपत्र, पशुचर्म आदि से अपने अधोभाग को ढकना आरम्भ किया। आतप–वर्षा से बचने के लिए इन्होंने पक्षियों के घोसलों से शिक्षा ली, पानी–फूस के घोंसलेनुमा मकान बनाए गए, पशु–पक्षियों के पारस्परिक संघठन को देखकर इन्होंनें अपना भी संघठन आरम्भ किया, चकमक पथर से अग्नि का आविष्कार किया, कच्चे मांस के साथ भुना हुआ मांस भी व्यवहार में लाने लगे, हड्डियों के आभूषणों का उपयोग आरम्भ हुआ, पशुचर्म के वेष्टन से वाद्यविशेष (ढोलक) बना कर सामुहिक विनोद की शिक्षा प्राप्त की, पशुपालन आरम्भ हुआ, अपनी अपनी छोटी छोटी स्वतन्त्र मण्डलिएं बनाईं गईं, इन का एक एक मुखिया बनाया गया, अश्व–रासभ आदि से सवारी का काम लिया जाने लगा, हिंसक पशु, एवं शत्रुदल से त्राण पाने के लिए पाषाण-लोह आदि के अपरिष्कृत शस्त्रों का भी उपयोग होने लगा। इस प्रकार इस युग में मनुष्य की सभ्यता का श्रीगणेश हुआ। इसी लिए हम इसे **आदियुग** नाम से व्यवहृत करते हैं। हजारों वर्षों तक इसी युग का प्राधान्य रहा। इस युग के स्मारक भी आज हमें जाङ्गल प्रदेशों में प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होते हैं।

---o---

४–मणिजायुग

इस युग में मानवसभ्यता का एक प्रकार से पूर्ण विकास हुआ। ग्रामनिर्माण, कृषिकर्म, कपास-रेशम आदि के वस्त्रों का निर्माण, पञ्चायती व्यवस्था, लोकसत्तात्मक शासन (प्र-

जातन्त्र), वापी कूप तड़ागादि का निर्म्माण, उद्यान उपवन आदि की व्यवस्था, गान्धर्वविवाह-पद्धति, ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शिल्प के आधार पर मानवसमाज का चार भागों में विभाजन, विविध-वैज्ञानिक आविष्कार आदि इस युग की प्रधान प्रधान विशेषताएं हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण इस युग को हम पूर्णसभ्ययुग कह सकते हैं। हमें तो यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होता कि जिस सभ्यता, संस्कृति, एवं विज्ञान पर आज पश्चिमी देश अभिमान कर रहे हैं, इन सब विषयों में मणिजायुग कहीं आगे बढ़ा हुआ था।

मणिजा नामक तत्कालीन मानव समाज की वे चारों श्रेणिएं उस युग में क्रमशः **साध्य, महाराजिक, आभास्वर, तुषित** इन नामों से प्रसिद्ध थीं। देवयुग में आविष्कृत होने वाली वर्णव्यवस्था का मूल यही चार श्रेणिएं थीं। इस व्यवस्था की तुलना करते हुए हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि परम वैज्ञानिक ज्ञानप्रधान साध्य उस युग के ब्राह्मण थे। परमप्रतापी, महाधनुर्द्धर महाराजिक उस युग के क्षत्रिय थे। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य में दक्ष, पूर्ण सम्पन्न आभास्वर उस युग के वैश्य थे। एवं शिल्पविद्या में पारङ्गत, समाजसेवा में निःस्वार्थ-बुद्धि से संलग्न तुषित उस युग के शूद्र थे। इन चारों जातियों का नेतृत्व साध्यजाति के ही हाथों में था। अपनी अपूर्व प्रतिभा के बल से इसी साध्य जाति ने प्राकृतिक तत्त्वों की परीक्षा द्वारा सर्व-प्रथम यज्ञविद्या (केमेस्ट्री Chemistry) का आविष्कार किया था। इन्हीं के द्वारा आविष्कृत यज्ञविद्या के आधार पर आगे जाकर (देवयुग में) भौमदेवव्यवस्था के प्रवर्त्तक **ब्रह्मा** के आदेश से उन के ज्येष्ठ पुत्र **अथर्वा** ने ब्रह्म को मूल बनाते हुए देवत्रिलोकी में यज्ञविद्या का प्रसार किया था। देवयुग से पहिले सम्पूर्ण विश्व में साध्यों का ही प्रभुत्व था, साथ ही में यह ईश्वरवादी भौम देवताओं के विरोधी भी थे, अतएव यह आर्य्यसाहित्य में "पूर्वे देवाः" "सुरद्विषः" इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुए। साध्यजाति का ईश्वरसत्ता पर विश्वास न था। यह केवल प्रकृतिसिद्धि क्षणिक विज्ञान के उपासक थे। जो स्थान आज क्षणिकविज्ञानवादी नास्तिकों को मिल रहा है, वही स्थान साध्यों का था। इन का अभिमान था कि प्रकृति के नियत नियमों से ही विश्व रचना हुई है। उन नियमों को भलीभांति जान कर ठीक पद्धति से काम करने पर मनुष्य भी नवीन विश्व का निर्म्माण कर

सकता है। हम विज्ञान के आधार पर नवीन सूर्य्य, चन्द्रमा आदि भी बना सकते हैं। जब प्रकृति पर ही विश्वप्रपञ्च का पर्य्यवसान होजाता है तो ऐसी दशा में सर्वथा व्यर्थ प्रकृति से अतिरिक्त एक स्वतन्त्र ईश्वर की कल्पना में अपने बौद्ध जगत् की शक्ति क्यों खर्च की जाय। चूंकि तत्कालीन महाराजिक-आभास्वरादि इतर जातियों पर इन्हीं का अङ्कुश था, सब इन्हीं के आदेश पर चलते थे, अतएव यह मणिजायुग साध्ययुग नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। मणिजा उस समय में मानव समाज की सामान्य संज्ञा थी। यज्ञविद्या में निष्णात, यज्ञ से ही यज्ञकर्म्मों का सम्पादन करने वाली इसी साध्यजाति का स्वरूप बतलाती हुई यजुःश्रुति कहती है—

> यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्।
>
> ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥
>
> (यजुः संहिता ··· ···)।

देवयुग में यज्ञ से ईश्वर का यजन किया जाता था। परन्तु साध्य लोग यज्ञ से यज्ञ का ही यजन करते थे। दूसरे शब्दों में वे विज्ञान से विज्ञान का ही प्रसार करते थे। इन की शासन-प्रणाली में प्रजातन्त्रात्मक गणतन्त्र की ही प्रधानता थी। इस युग का प्रभुत्व पूर्व के युगों की अपेक्षा अधिक समय तक रहा।

४—स्पर्द्धायुग

पूर्व में बतलाया गया है कि सभ्यता, संस्कृति, एवं विज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए भी साध्य एकेश्वरवाद पर, किंवा ईश्वरसत्ता पर विश्वास नहीं रखते थे। इस अनीश्वरवादप्रधान क्षणिकविज्ञानवाद की प्रबलता का आगे जाकर परिणाम यह हुआ कि इन का मतवाद इन्हीं के पारस्परिक विरोध का कारण बन गया। गणतन्त्रात्मिका शासनप्रणाली भी इस विरोध की उत्तेजक बनी, फलतः सृष्टि के सम्बन्ध में १० अवान्तर मत प्रचलित होगए। जो कलह आज

सम्प्रदायों में देखा जाता है, वही कलह साध्ययुग में व्याप्त होगया। साध्यकालीन वे ही १० मत ऋक्संहिता में सद्वाद[1] असद्वाद[2], सदसद्वाद[3], व्योमवाद[4], अपरवाद[5], रजोवाद[6], अम्भोवाद[7], आवरणवाद[8], अहोरात्रवाद[9], संशयवाद[10] इन नामों से प्रसिद्ध हैं*। सत्य सिद्धान्त सदा एक होता है, नित्यविज्ञानमूलक सत्य सिद्धान्त में विरोध का अवसर नहीं हैं। इधर साध्य १० मत मानते थे। परिणाम इस का यह हुआ कि इन विभिन्न मतवादों की कृपा से तत्कालीन मानव समाज में संघर्ष उत्पन्न होगया। इस संघर्ष का मूलकारण अनीश्वरवादमूलक प्रजातन्त्र ही था। इसी संघर्ष ने तत्कालीन संगठन, एवं शान्ति में ठेस लगाई, कलह का साम्राज्य होगया। इस प्रकार एक वार इस बढ़ी हुई वैज्ञानिक सभ्यता ने विश्व के सामने उसी प्रकार एक महा संकट उपस्थित कर दिया, जैसा कि संकट अर्थलोलुप विज्ञानमदमत्त राष्ट्रों की कृपा से आज उपस्थित होरहा है। इस संकट की निवृत्ति कैसे हुई ? यह आगे की युगमीमांसा से विदित होगा। इस साध्यायुग को हम संघर्षयुग, विरोधयुग, कलहयुग, अशान्तयुग, क्रान्तियुग, विप्लवयुग, इत्यादि नामो से भी सम्बोधित कर सकते हैं।

६—देवयुग

शान्ति होती है, क्षोभ उत्पन्न करने के लिए। क्षोभ होता है, शान्तिप्रसार के लिए। शान्ति क्रान्ति की जननी है, क्रान्ति शान्ति की जननी है। संयोग वियोग का जनक है, वियोग संयोग का जनक है। भाव अभाव का सूचक है, अभाव भाव का स्वरूप सम्पादक है। उन्नति पतन की ध्वजा है, पतन उन्नति की ध्वजा है। सुख का मूल दुःख है, दुःख का मूल सुख है। जन्म मृत्यु का कारण है, मृत्यु जन्म का कारण है। सहनशीलता ही क्रान्ति की जननी

---

*इन दसवादों पर इन्हीं नामों से श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों के आधार पर श्रीगुरुवर द्वारा १० स्वतन्त्र ग्रन्थ संपन्न हुए हैं। विशेष जिज्ञासा रखने वालों को वे ग्रन्थ देखनें चाहिएं।

है। यही क्रान्ति आगे जाकर शान्ति की मूलप्रतिष्ठा बन जाती है। इन प्राकृतिक सिद्धान्तों के अनुसार साध्यों के अविवेक से फैले हुए मतवाद ने क्षोभ उत्पन्न किया। इस क्षोभ ने महाशान्तिपरायण शिल्पोपजीवी तुषितो में भी संघर्ष उत्पन्न कर दिया। तुषित जाति का उस समय वही महत्त्व था, जो कि महत्त्व आज दक्षिणभारत के शूद्रो का है। पाठकों को यह सुन कर आश्चर्य होगा कि इसी तुषित जातिने एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया, जो कि शान्ति का दूत बनकर आगे जाकर विश्वशान्ति का कारण बना।

उस महापुरुषने सबसे पहिले प्रचलित विभिन्न दस वादों पर कुठाराघात करते हुए एकत्व मूलक ब्रह्मवाद की स्थापना की। इसी महापुरुष की कृपा से सबसे पहिले एकेश्वरवाद-मूलक राजतन्त्र की स्थापना हुई। उस विभूतिनें यह घोषणा की कि यदि इन १० सों मतों का कोई एक मूल आधार नहीं माना जाता है तो यह सभी मत सर्वथा मिथ्या हैं। ईश्वरसत्ता के विना इन की प्रतिष्ठा किसी भी अवस्था में अक्षुण्ण नहीं रह सकती। इसी मन्तव्य के आधार पर इसने दसों वादों की प्रतिद्वन्द्विता में सिद्धान्तवाद की स्थापना की। महापुरुष के इसी प्राथमिक सुधार को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥१॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥

(ऋक् सं १०।१२९।१-२-३)।

चूंकि इसी महापुरुषने सर्वप्रथम ब्रह्मवाद की स्थापना की थी, अतएव तत्कालीन नियम के अनुसार यह "ब्रह्मा" की उपाधि से विभूषित किए गए। यही ब्रह्मा देवयुग के आदि प्रवर्त्तक माने गए, जैसा कि "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता" (मुण्डकोपनिषत् १।१।१।) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। उस युगमें यह नियम था कि जो विद्वान् जिस तत्व की सर्वप्रथम परीक्षा करता था, उसे उसी नाम से विभूषित किया जाता था। वसिष्ठ, अगस्त्य, मत्स्य, अत्रि, भृगु, अङ्गिरा आदि आप जितनें नाम सुनते हैं वस्तुतः यह सब तत्वों के नाम हैं। जिन महापुरुषोंने इन तत्वों की परीक्षा की, वे, एवं उनके वंशधर भी उन्हीं नामों से प्रसिद्ध हुए, जैसा कि ऋषिरहस्यादि अन्य निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है।

अस्तु-प्रकृत में वक्तव्यांश यही है कि अवतारविज्ञान के अनुसार ब्रह्मा का जन्म आधिकारिक था, प्रकृतिसिद्ध था। अतएव यह आदि ब्रह्मा "स्वयम्भू" नाम से प्रसिद्ध हुए। एकेश्वरवाद की स्थापना के अनन्तर ब्रह्मा ने प्रकृतिसिद्ध नित्य ब्रह्मा के अनुसार यहां भी चार प्रकार की सृष्टिसंस्थाएं प्रतिष्ठित कीं। नित्यसिद्ध अपौरुषेय वेदतत्व के आधार पर वेदग्रन्थ प्रकट हुए, यही पहिली वेदसृष्टि कहलाई। नित्यसिद्ध त्रैलोक्य के अनुसार इसी पृथिवी पुर लोक व्यवस्था की। पृथिवी को पद्म मान कर इसे आठ भागों में विभक्त किया गया। यही पार्थिव विभाग पुराणों में "*पाद्मभुवनकोश" नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस विभाग में देवत्रिलोकी, एवं आसुरत्रिलोकी नाम की दो संस्थाएं बनाई गई, यही दूसरी लोकसृष्टि कहलाई। इसी प्रकार पञ्चक्षिति, पञ्चजन, पञ्चचर्षणी आदि रूपसे प्रजासृष्टि की व्यवस्था की। सर्वान्त में प्रकृतिसिद्ध नित्य वर्णधर्म्म के अनुसार चातुर्वर्ण्यधर्म्म को प्रकट किया गया। इस प्रकार जैसे प्रकृतिसिद्ध नित्य ब्रह्मा के प्राणमुख से अपौरुषेय वेदसृष्टि, आपोमुख से लोकसृष्टि, वाङ्मुख से प्रजासृष्टि, अन्नगर्भित अन्नादमुख से धर्म्म-

*हमारे शास्त्रों के अनुसार पृथिवी का विभाजन तीन तरह से हुआ है। वे ही तीनों विभाग क्रमशः यज्ञभुवनकोश, पाद्मभुवनकोश, वर्षभुवनकोश नामों से प्रसिद्ध हैं। इन का विशद विवेचन पुराणरहस्य में, एवं संक्षिप्त विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य तृतीय वर्ष में देखना चाहिए।

सृष्टि हुई है, उसी नियम के अनुसार पुष्कर (बुखारा) में उत्पन्न होने वाले इस स्वयम्भू ब्रह्मा ने भी मन्त्रात्मक वेदसृष्टि, देवत्रिलोकी–आसुरत्रिलोकीरूपा लोकसृष्टि, प्रजाविभागरूपा प्रजासृष्टि, एवं प्रजा को प्रकृति के नियमानुसार चलाने के लिए धर्म्मसृष्टि की।

प्रकृतिवत् अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि भौमदेवताओं का विकास किया गया। हैहय, कालकेय, दौर्हृद, मौर्य, वृत्र, नमुचि, त्वष्टा वृषाकपि आदि असुरों की व्यवस्था हुई। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्णों का, एवं अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, म्लेच्छ इन चार अवरवर्णों का विभाग किया। चातुर्वर्ण्य के साथ साथ व्यक्ति का उपकार करने वाली ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास इन चार आश्रमों की व्यवस्था की गई।

१० अंशात्मक भारतवर्ष को देवत्रिलोकी का मनुष्यलोक माना गया। जिस भारतवर्ष की मध्यरेखा उज्जेन है, पूर्वीसीमा चीनसमुद्र (यलोसी–पीतसमुद्र) है, पश्चिमसीमा महीसागर (मेडिट्रेनिएन्सी Madetarenaen.Sea) है, दक्षिणसीमा निरक्षवृत्त स्थानीय लङ्का है, उत्तरसीमा शर्यणावत (शिवालक) पर्वत है, ऐसे इस महाविशाल भारतवर्ष के सम्राट् वैवस्वतमनु बनाए गए। मनु के सम्बन्ध से ही यह लोक मनुष्यलोक, एवं यहां की प्रजा मानव नाम से प्रसिद्ध हुई। अग्नि देवता यहां के अधिष्ठाता (अधिष्ठाता) शवसोनपात् (वायसराय) बनाए गए। मनुष्य-लोक का भरण पोषण करने के कारण ही यह अग्नि "भारत" कहलाए। जैसा कि– 'अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति" (यजुःसं०) इत्यादि यजुर्मन्त्र से सिद्ध है। भारत अग्नि द्वारा शासित होने से ही यह लोक भारतवर्ष कहलाया था, एवं यहां की प्रजा भारतीय कहलाई।

शर्य्यणावत पर्वत से आरम्भ कर हिमालय तक का सारा प्रान्त भौमत्रिलोकी का अन्तरिक्ष लोक माना गया। वायु यहां के शवसोनपात् बनाए गए। यहां की प्रजा यक्ष, राक्षस गन्धर्व, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, किन्नर आदि विभागों में विभक्त की गई। यही आन्तरीक्ष्य प्रजा तिर्यग्योनि कहलाई। सुप्रसिद्ध नन्दनवन, काननवन, वैभ्राजवन, उमावन, स्कन्दवन आदि महावन इसी लोक की शोभा बढ़ाते थे। सुप्रसिद्ध जाम्बुनद नाम का सुवर्ण इसी स्थान का गौरव था।

हिमालयप्रान्त, एवं प्राग्मेरु (पामीर) यहां का स्वर्गलोक हुआ। इन्द्र यहां के शासनात् बनाए गए। यहां की प्रजा देवता कहलाई। साथ ही में इसी इन्द्र को ज्योतिविभाग का लोकपाल, एवं पूर्वदिक् का दिक्पाल बनाया गया। वरुण को पानी के विभाग का लोकपाल, एवं पश्चिम दिशा का दिक्पाल बनाया गया। चन्द्रमा को ओषधि-ब्राह्मणवर्ग का लोकपाल, एवं उत्तरदिशा का दिक्पाल बनाया गया। यम को वनस्पतियों-पितरों का लोकपाल, एवं दक्षिण दिशा का दिक्पाल बनाया गया। ब्रह्ममूलक राजतन्त्र को राजा, सम्राट्, स्वराट्, विराट भेद से चार श्रेणियों में विभक्त किया गया। प्रजातन्त्र का समूल विनाश किया गया।

इसी प्रकार अफ्रिका अमेरिका योरोप नाम के तीन महाप्रान्त असुरों को दिये गए, यही असुरत्रिलोकी कहलाई। अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को त्रयीविद्या का पहिला शिष्य बनाया। अथर्वा नें सरस्वती नदी के समीप सर्वप्रथम यज्ञ की स्थापना की। यह स्थान लग भग ४७॥ अक्षांश पर पड़ता है। प्रयाग के समीप विशनक्षेत्र में लुप्त होने वाली लुप्ता सरस्वती, एवं पश्चिमभारत की पूर्वसीमा पर स्थित सिन्धुनद के उस पार वसिष्ठाश्रम के समीप बहने वाली प्राची सरस्वती, इन दोनों सरस्वतियों से यह सरस्वती भिन्न है। इस की सत्ता लगभग उत्तररूस में है। देवतालोग इसी में अवभृथस्नान (यज्ञान्तस्नान) किया करते थे। यहां यज्ञविरोधी असुर आक्रमण करने में प्रायः असमर्थ ही रहे, अत एव यह स्थान "अपराजितादिक्" नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सरस्वती में अवान्तर सात शाखा नदिएं मिलतीं हैं। यही नदी वर्त्तमान में "बालकशभील" नाम से प्रसिद्ध है। अथर्वाद्वारा प्रदत्त सारस्वत यज्ञ के बल पर देवता लोग असुरों को समय समय पर परास्त करने में समर्थ हुए हैं।

सब से बड़ी विशेषता उस युग की यह थी कि भारतीय-प्रजा का कर्म्म देवेन्द्र की ओर से निर्धारित होता था। इस के प्रतिफल में भारतीय प्रजा की भोजन, आच्छादन व्यवस्था, चिकित्सा, एवं अन्य आवश्यकताओं का भार राजातन्त्र पर था। अश्विनीकुमार यहां के प्रधान चिकित्सक थे। वामदेव अन्न (गल्ले) के अध्यक्ष थे। वसोर्धारा में तीन वर्ष के लिए पहिले से अन्न सञ्चित रहता था। शिक्षाप्रसार के लिए तीनों लोकों में कश्यप, वसिष्ठ,

अङ्गिरा, भृगु, भरद्वाज, अत्रि, आदि प्रमुख कुलपतियों की अध्यक्षता में ब्रह्मपर्षदें, एवं महाशालाएं सुव्यस्थित थीं। राजतन्त्र को सुव्यस्थित रखने वाले ग्राम, नगर, अवट, खर्व आदि का निर्म्माण हुआ था। सेना, सेनाध्यक्ष, ग्रामणी, सूत, पालागल, क्षत्ता आदि १४ रत्न राजतन्त्र के सञ्चालक थे। वैज्ञानिक तत्वो की की परीक्षा के लिए सिन्धुनद से पश्चिम भाग में वसिष्ठवरुण के समीप प्रवाहित होने वाली सरस्वती नदी के समीप एक महाविज्ञानशाला थी। यह शाला "सूर्य्यसदन" "विज्ञानभवन" आदि नामों से प्रसिद्ध थी। सौम, प्लव, दिव्य, सूत, हर्यश्व, इत्यादि स्थल-जल नभ संचारी विविध विमानों के आविष्कार का श्रेय इसी विज्ञानभवन को मिला था। निगम—आगम भेद से विद्याओं के दो विभाग भी इसी युग में हुए थे। ४—वेद, ४—उपवेद, ६—वेदाङ्ग, ४—उत्तराङ्ग इस प्रकार निगम को १८ भागों में विभक्त किया गया था। १८-संहिताएं, १४-सिद्धान्त, ६-कल्प, १०-यामल, ८-डामर, ६४-तन्त्र, संभूय १२० आगम के अवान्तर विभाग हुए थे। महासृष्टिकाल की व्यवस्था के लिए नित्य सिद्ध कृत, त्रेता, द्वापर, कलिभेद से चतुर्युगी का आविष्कार हुआ था।

इस प्रकार उस महातन्त्रायी महेश्वर के महाविश्व के गुप्त रहस्यो के आधार पर भगवान् स्वयम्भूने इस भूलोक में ही सब कुछ व्यवस्थित कर दिया। इन्होनें अपना निवास स्थान काकेशश पवत बनाया। यही स्थान आज "एशियामाइनर" (Asiaminer) नाम से प्रसिद्ध है। इसे ही दहरेशिया (छोटी एशिया) भी कहा जाता है। ईश ब्रह्मा के सम्बन्ध से ही देवत्रैलोक्य, एवं एशियामाईनर एश्या रूप में परिणत हुआ है। एशिया शब्द एश्या का ही विकृतरूप है। सम्पूर्ण एशिया उन लोगों की प्रातिस्विक संपत्ति (मौरुसी जायदाद) है, जो कि ईश ब्रह्मा के, एवं इनके द्वारा आविष्कृत वेदधर्म को मानने वाले हैं।

हम (भारतीय) एशिया के हैं, एवं एशिया हमारी है। आगत महानुभाव हमारे, एवं हमारी एशिया के अतिथि हैं। अतिथिसेवापरायण आर्यजाति ने उन का, एवं उन के वंशजो का पर्य्याप्त आतिथ्य कर दिया। यहां तक कि इन्हों ने अपने लिए, एवं अपनी सन्तति के लिए भी कुछ न छोड़ा। उधर अतिथि महानुभाव अतिथि की कौन कहे, तिथि की सीमा का भी उल्लंघन

कर गए, किंवा कर रहे हैं। इधर आर्यजाति को यह भी विदित न रहा कि यह आगत महानुभाव वास्तव में हमारे अतिथि हैं। क्या ही अच्छा हो, आर्यसन्तान जब तक अपने स्वरूप को न पहिचान ले, तबतक वे अपने मान की रक्षा के लिए स्वदेश की यात्रा का विचार निश्चित करलें। कहीं ऐसा न हो कि-यह शान्तजाति उग्र बन कर विश्व के लिए एक महासंकट उपस्थित कर दे।

यह तो हुआ देवयुगव्यवस्था का दिग्दर्शन, अब प्रकृत का अनुसरण कीजिए। स्वयम्भू मनु के विवस्वान् नाम के पुत्र हुए। विवस्वान् के ८ पुत्र, एवं १ कन्या हुई। इनमें ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु नाम से, एवं कन्या इला नाम से प्रसिद्ध हुई। यही दोनों क्रमशः सूर्य्य-वंश, एवं चन्द्रवंश के मूल प्रवर्त्तक हुए। विवस्वान् की प्रियपात्रा इला कन्या यज्ञविद्या में महा निष्णात थी। इस महाविदुषी के द्वारा यज्ञविद्या को पूर्ण प्रोत्साहन मिला था, अतएव यज्ञकर्म में इस के स्मारकरूप इड़ाप्राशन नामक कर्म का विधान किया गया। यद्यपि विवस्वान् ही भारतवर्ष के प्रथम सम्राट् थे, तथापि यह कभी भारतवर्ष न आए। इन की जीवित दशा में हीं, इनके द्वारा ज्येष्ठपुत्र इक्ष्वाकु को उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। उस अधिकार को लेकर भारतवर्ष में आनेवाले सूर्यवंशियों में यही पहिले सम्राट् थे। इन्होंनें ही अयोध्या नाम की राजधानी स्थापित की, जैसा कि आगे के ऐतिह्यप्रकरण से स्पष्ट होजायगा।

उक्त देवयुगाभास से विज्ञ पाठकों को यह विदित होगया होगा कि मानवबुद्धि जितना विकास कर सकती है, देवयुग में वह विकास चरम सीमा पर पहुंच चुका था। दुर्दैववश चन्द्रमा की अधर्म्मबुद्धि ने आगे जाकर देवयुगकालीन व्यवस्था का सर्वात्मना उच्छेद करते हुए सदा के लिए अपने भाल पर कलङ्क का टीका लगा लिया। आज देवव्यवस्था विलुप्त प्राय है। हम अपनी मूर्खता से आज सब कुछ खो बैठे है। जिन (भारतीय) असभ्य मनुष्यों के पूर्वजों नें किसी समय समस्त विश्व को एक बार सभ्यता, संस्कृति, विज्ञान, शिल्प, कला आदि का पाठ पढ़ाया था, आज उन्हीं पूर्वजों की सन्तानों को सभ्य बनाने का वे अर्द्धदग्ध जब वृथा अभिमान करते देखे जाते हैं तो सहसा हमारे मुख से निकल पड़ता है—"कालाय तस्मै नमः"। महाभारत युद्ध में

सूर्यवंशियों की ओर से अयोध्या नरेश महाराज सुमित्र शामिल हुए थे। सुमित्रराज विवस्वान की १२८ वीं पीढ़ी में माने गये हैं। भगवान् रामचन्द्र विवस्वान् से ६३ वीं पीढ़ी के भारतीय सम्राट् थे।

उक्त परिस्थिति को सामने रखते मूलगीताकाल की मीमांसा कीजिए। भगवान् ने कहा है कि "मैंने सब से पहिले विवस्वान् को गीता का उपदेश दिया है। विवस्वान् ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को, इस प्रकार परम्परया यह योग चला आरहा था। परन्तु कालदोष से यह लुप्त होगया आज उसी विलुप्त योग का रहस्य तुझे बतला रहा हूं"। पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि सम्पूर्ण गीताशास्त्र भगवान् का अपना उपदेश नहीं है। भगवान् का अपना मत आरम्भ के ६ अध्यायों में प्रतिपादित केवल राजर्षिविद्या है। सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या इन तीनों का संशोधितरूप भगवान् ने गीता में समाविष्ट कर लिया है। ऐसी दशा में हम भगवान् की मूलगीता केवल राजर्षिविद्या को ही कहेंगे। "एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः" से भी यही ध्वनि निकलती है। अवश्य ही अपने किसी अन्य शरीर से यह महानात्मा देवयुग के आरम्भ में विद्यमान होगा, एवं विवस्वान् ने इस का शिष्यत्व स्वीकार करते हुए-उस अलौकिक गीतायोग का उपदेश लिया होगा। हमारी दृष्टि में राजर्षिविद्यात्मिका मूलगीता का वही समय होना चाहिए। महाभारतकाल में तो भगवान् उस पूर्वोपदिष्ट योग का संस्कारमात्र कर रहे हैं। रही गीताश्लोकों की बात, सो तो सर्वविदित है गीताश्लोक व्यास का बुद्धिवैभव है, इसे कौन नहीं जानता। "सब से पहिले भगवान् ने विवस्वान् को कहा" इस उक्ति के सम्बन्ध में कब कहा? विवस्वान कब हुए थे? इत्यादि प्रश्नों के समाधान की जिज्ञासा स्वाभाविक थी। इसी दृष्टि से हमें युगधर्मों का दिग्दर्शन कराना पड़ा।

इसी सम्बन्ध में हम अपने कुछ स्वतन्त्र उद्गार भी प्रकट करना चाहते हैं। उक्त देवयुगकालीन व्यवस्था के आधार पर पाठकों को सम्भवतः यह स्वीकार करलेने में तो कोई आपत्ति न होगी कि हमारा सर्वोन्नतिकाल देवयुग था, -जिसका कि महाभारतयुग से कई सहस्र वर्ष पूर्व होना निश्चित है। महाभारतकाल को तो उन्नतिकाल न कह कर एक प्रकार से हम हमारा अवनतिकाल ही कहेंगे। भाई भाई में घोर शत्रुता, जघन्य राज्यलिप्सा, निन्दनीय द्यूतकर्मद्वारा पर-

स्वत्वापहरण, सभ्य कहलाने वालों के हाथों अग्निदाह, विषपान कर्म्मों का सम्पादन, सभ्यमण्डली में एक निरपराध आर्यललना के सतीत्व पर आक्रमण आदि कर्म्म हीं इस युग को निकृष्टता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। जिस प्रकार साध्ययुग के अनन्तर होने वाले संघर्षयुग के उपशम के लिए देवयुगसंस्थापक स्वयम्भू ब्रह्मा का अवतार हुआ था, *त्रेतायुग में उत्पन्न राक्षसविप्लव के दमन के लिए भगवान् राम का अवतार हुआ था, इसी प्रकार द्वापर के अन्त में, एवं कलि के आरम्भ में देवयुगध्वसंरूप इस भीषणयुग की भयङ्कर क्रान्ति का दमन करने के लिए ही राजर्षिविद्या के पुनरुद्धारक सर्वेश्वर भगवान् कृष्ण का पूर्णावतार हुआ था। धर्म्मग्लानि ही अवतार का कारण है। इस दृष्टि से भी हम महाभारतयुग को अवनति काल कह सकते हैं।

महाभारत से पहिले हजारों वर्षों तक देवयुग रहा। देवयुग से पहिले सहस्रों वर्षों तक संघर्षयुग रहा। इससे पहिले सहस्रों वर्षों तक साध्ययुग, किंवा मणिजायुग का प्रभुत्व रहा। इससे पहिले चिरकाल तक आदियुग का महत्व रहा। इस से पहिले पशुयुग की प्रतिष्ठा रही। अनुमान लगाइए, महाभारत से कितने हजार वर्ष पहिले मनुष्यसभ्यता का विकास होगया होगा। महाभारत को आज लगभग ५ सहस्र वर्ष हुए। पूर्व कथनानुसार महाभारतकाल में तो हमारी सभ्यता का एक प्रकार से ध्वंस ही होगया था। पश्चिमी विद्वान् जहां से (महाभारतकाल से, अथवा अधिक से अधिक महाभारत से कुछ शताब्दियो पहिले से) हमारे इतिहास का आरम्भ मानते हुए हमारी सभ्यता–असभ्यता को कसोटी पर कसने का व्यर्थ का साहस करते हैं, हम कह सकते हैं कि हमारे मौलिक ग्रन्थों (वेद–पुराणादि) के आधार से, वह काल तो हमारा अस्तकाल है। हम क्या थे और क्या होगए, इस प्रश्न की मीमांसा के लिए तो हमें ५ सहस्र वर्ष पहिले के देवयुग, एवं साध्ययुगकालीन इतिहास का ही अन्वेषण करना पड़ेगा। कुछ शता-

* चतुर्युग व्यवस्था प्रकृतितन्त्र, एवं राजतन्त्र भेद से दो भागों में विभक्त है। प्राकृतिक चतुर्युगों का सृष्टिधारा से सम्बन्ध है, एवं राजनैतिक युगों का शासनधारा से सम्बन्ध है। इन व्यवस्थाओं का विशद विवेचन पुराणरहस्यान्तर्गत मन्वन्तररहस्य में देखना चाहिए।

छिद्रो से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेखों, सिक्कों, त्रुटित भाण्डों, विदेशी ह्यूनसांग आदि यात्रियों के भ्रमणवृत्तों, एवं कल्पनारसिक कुछ एक पश्चिमी विद्वानों से (हमारे साहित्यान्वेषण के सम्बन्ध में) लिखे गए कतिपय ग्रन्थों के आधार पर हमारे मौलिक इतिहास का यथावत् जान लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है।

१–तमोयुग——————→ + + + + + + + + + ÷ + + ÷ + ।

२–प्राणीयुग——————→असभ्ययुग, पशुयुग, अरण्ययुग।

३–आदियुग——————→सभ्यतारम्भयुग, संघटनयुग।

४–मणिजायुग——————→पूर्णसभ्ययुग, विशुद्धविज्ञानयुग।

५–स्पर्द्धायुग——————→संघर्षयुग, साम्प्रदायिकयुग, विप्लवयुग, क्रान्तियुग

६–देवयुग——————→ब्रह्मयुग, ज्ञानविज्ञानयुग, (पूर्ण अभ्युदय)

महाभारतयुग

(ह्रासयुग)

उचित था कि युगचर्चा को यहीं समाप्त कर प्रकृत विषय का अनुसरण किया जाता। परन्तु अपने अवस्थाधर्म्म की स्वाभाविक प्रेरणा से, ब्राह्मणवर्ण में रहने वाली सहज सिद्ध चपलता की नोदना से, साथ ही में भारतीय रहस्यानभिज्ञ काल्पनिकों की कृपा से उत्पन्न क्षोभ की चर्वणा से हम अपनी प्रकृति का संयम नहीं कर सकते। हमें सभ्यता का पाठ पढ़ानें वालों नें अनुग्रह कर हमें हमारे वास्तविक इतिहास के शिक्षण की जो असीम कृपा की है, उस कृपा को सधन्यवाद वापस लौटाते हुए उन के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना भी हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं।

मानव सभ्यता के इतिहास पर पश्चिमी विद्वानों नें वास्तव में पूर्ण परिश्रम, एवं विपुलधन व्यय किया है, इस में कोई सन्देह नहीं। यह उन्हीं के अव्यर्थ श्रम की कृपा का फल है कि आज एक ऐसा राष्ट्र उन का सेवक बन रहा है, जिस नें कि अपनी मौलिकता के बल पर किसी समय सम्पूर्ण विश्व पर अपना एकच्छत्र शासन प्रतिष्ठित कर रक्खा था। हां तो तुलनात्मक दृष्टि के विचार सौकर्य्य के लिए यह जान लेना आवश्यक होगया है कि इन पुरुष पुङ्गवों नें हमारी, किंवा मानवसमाज की मौलिकता के सम्बन्ध में अपने क्या उद्गार प्रकट किए हैं।

वर्तमान इतिहासवेत्ताओं के अन्वेषण के अनुसार मानवयुग को ११ भागों में विभक्त किया जासकता है, एवं उन ग्यारहों को क्रमशः **१–पाषाणयुग, २–धातुयुग, ३–द्रविड़युग, ४–आर्य्ययुग, ५–सूत्रयुग, ६–पुराणयुग, ७–बौद्धयुग, ८–राजपूतयुग, ९–इस्लामयुग, १०–मन्वयुग, ११–बिटिशयुग** इन नामों से सम्बोधित किया जासकता है। इन सब युगों का उन्हीं के दिव्य, एवं **सर्वथासत्य** ग्रन्थों में विस्तार से निरूपण होचुका है। अतः प्रकृत में पिष्ट-पेषण की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकरण सङ्गति के लिए, साथ ही में राजनीति विशारद इन राजनैतिकों के किसी गुप्त रहस्य को सर्वसाधारण के सामने रखने के लिए संक्षेप से इन का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—पाषाणयुग

मनुष्य की प्राथमिक अवस्था का इसी युग से सम्बन्ध है। इस युग के **पूर्वपाषाणयुग**, एवं **उत्तरपाषाणयुग** भेद से दो विभाग किए गए हैं। जङ्गली पशुओं का मांसभक्षण, नरमांस-भक्षण, नग्नावस्था, पर्वतकन्दराओं, भूमिगर्त्तों, वृक्षच्छाया में विश्राम, आदि धर्म्म दोनों पाषाण-युगों में सामान हैं। दोनों में अन्तर केवल यही है कि पूर्वपाषाणयुग में मनुष्य हिंसक पशुओं के आक्रमण से बचने के लिए साधारण (प्राकृतिक) पत्थरों (ढेलों) का उपयोग करते थे, इस समय इन्हें अग्नि का पता न था, कच्चामांस ही इन की भक्षण सामग्री थी, शरीर पर आच्छादन का सर्वथा अभाव था। उत्तरपाषाणयुग में थोड़ा सा सुधार हुआ। इसी युग में इन्होंने चकमक

पत्थर से आग पैदा करना सीखा। इसी अग्नि की सहायता-से कच्चे मांस के साथ साथ भुना हुआ मांस भी व्यवहार में आने लगा। नग्नता को दूर करने के लिए वल्कल-पशुचर्म्म-शुष्कपत्र आदि का उपयोग आरम्भ हुआ। प्राकृतिक पाषाणलोष्टों के स्थान में साधारण परिष्कार के साथ पाषाण के शस्त्र बनने लगे। इस समय तक इन्हों ने वल्कलादि से केवल गुप्त अङ्गों का ही वेष्टन किया था, इसलिए एक प्रकार से इस उत्तर पाषाणयुग को भी हम नग्नयुग ही कहेंगे।

—०—

२–धातुयुग

बुद्धि के स्वाभाविक क्रमिक विकास से मनुष्य ने सर्वप्रथम लौह, पित्तल, कांस्य (लोहा–पीतल–कांसा) इन तीन धातुओं का पता लगाया। इस युग की यही प्रधान विशेषता थी। इसी आधार पर हम इसे धातुयुग कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ समय में ही इन्हें ताम्र का भी पता लग गया। इन चारो धातुओं में कांस्यधातु ही विशेषरूप से उपयोग में आया, अतएव इसे **कांस्ययुग** नाम से भी सम्बोधित किया गया। लौह के शस्त्र एवं आभूषण बनाए गए। तांबा–पीतल के मेल से कांसी के बर्त्तन बनाए गए। मिट्टी की दीवारों के आधार पर छप्पर के मकानों का आविष्कार हुआ। पशुपालन आरम्भ हुआ। साधारण रूप से खेती भी की जाने लगी। वल्कल एवं शुष्कपत्रों के स्थान में चर्मवस्त्रों का विशेष उपयोग होने लगा। सामान्यरूप से छोटे छोटे गिरोहों के रूप में संघठन भी आरम्भ हुआ। इस प्रकार इस धातु युग में मानवसमाज उन्नति की ओर अग्रेसर होने लगा।

—०—

३–द्राविड़युग

इस युग में सभ्यता विशेषरूप से विकसित हुई। पूर्वपाषाणयुग को जहां हम नितान्त **असभ्ययुग**, उत्तरपाषाणयुग को **असभ्ययुग**, एवं धातुयुग को **सभ्यतारम्भयुग** कह सकते हैं, वहां द्रविड़युग **अर्द्धसभ्यतायुग** कहा जासकता है। इसी युग में ग्रामपञ्चायतीमूलक प्रजातन्त्र

का आविष्कार हुआ, ग्राम बनाए गए, पंचायतियों का संगठन हुआ, शासन के लिए पंचायतियों के लिए एक एक मुखिया बनाया गया, मिट्टी-ईंटों के साधारण मकान बनने लगे, सवारी के लिए घोड़े, रथ आदि व्यवहार में आने लगे। धर्म के सम्बन्ध में इन्होंनें अन्धविश्वास का ही अनुगमन किया। द्रविड़ लोग वृक्षों का पूजन करते थे, सर्पों को अपना आराध्य देवता मानते थे, पितरों के निमित्त अन्नदान करते थे, भूत-प्रेतादि पर विश्वास करते थे, साथ ही में इनके भय से कम्पित रहते थे। इस प्रकार आंशिकरूप से सभ्य होते हुए भी द्रविड़लोग प्रायः असभ्य, अन्धविश्वासी, एवं मूर्ख ही थे।

४-आर्य्ययुग

यह वही काल्पनिक भीषण युग है, जिस की कल्पनाने हमारी मौलिकता का सर्वनाश किया है। पाषाणयुग की तरह इस युग के भी पूर्वआर्य्ययुग, एवं उत्तरआर्य्ययुग भेद से दो विभाग माने गए हैं। ऋग्वेदनिर्माण पूर्वआर्य्ययुग की सबसे बड़ी, एवं महत्वपूर्ण विशेषता है। ऋग्वेद आर्यों का सबसे प्राचीन सभ्यता ग्रन्थ है। आगे जाकर इसी युग में क्रमशः यजुर्वेद एवं सामवेद नाम के दो सभ्यता ग्रन्थों की रचना हुई। अथर्ववेद इस पूर्वआर्य्ययुग की अन्तिम रचना है। इन चार वेद ग्रन्थों के कारण ही हम इस पूर्वयुग को वेदयुग भी कह सकते हैं। इस युग में आर्य लोग अग्नि, वायु, सूर्य्य, पानी, नक्षत्र, ग्रह आदि प्राकृतिक पदार्थों से प्रभावित होकर इनकी स्तुति किया करते थे। इन्हें प्रसन्न करने के लिए आग में घी-तिल-सोमरस आदि विविध द्रव्य डाला करते थे, इसी प्रक्रिया को वे यज्ञ कहते थे, एवं उक्त अग्नि-वायु-सूर्यादि पदार्थों को देवता मानते थे। इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए वे यज्ञ में समय समय पर पशुबलि भी चढ़ाते थे। इस अग्नि में डालने से जो मांस बचता था, उसे अत्यन्त पवित्र मानते हुए देवता का प्रसाद समझ कर खाते थे। इस आर्यजातिने समय समय पर कई वीरों को भी उत्पन्न किया। बोलचाल की भाषा का यद्यपि कामचलाऊ विकास होगया था, परन्तु लेखनकला का इस युग में सर्वथा अभाव था। उस समय कोई

लिपि न थी। जिन वेदग्रन्थों का पूर्व में उल्लेख किया गया है, उनकी रचना केवल वाणी से ही हुई थी, परस्पर की श्रुते (श्रवण) से ही सारा काम चलता था, इसी लिए वेद को श्रुति कहा गया।'

जब इन की बुद्धि का थोड़ा विकास और हुआ तो इन्होंनें एकेश्वरवाद का परिचय प्राप्त किया। इससे पहिले पूर्ववैदिकयुग में यह अनेक देवताओं पर ही विश्वास करते थे। "सम्पूर्ण विश्व का सञ्चालन कोई एक शासक है, एवं वह शासक ईश्वर है' यह इन्हें विदित न था। बस जिस युग में इन्होंने एकेश्वरवाद का पता लगाया, वही युग उत्तरआर्ययुग, किंवा उत्तरवैदिककाल नाम से सम्बोधित हुआ। इस युग में आर्यों नें आत्मविकास के सम्बन्ध में अच्छी उन्नति की। लिपि का भी इसी युग में विकास हुआ। तत्कालीन रहन सहन, रीति रिवाज, देवतास्तुति, शासकों के चरित्र, परस्पर के लड़ाई झगड़े, वीरों की गाथाएं यज्ञ आदि के प्रतिपादन के लिए ही उक्त चार वेदग्रन्थ प्रचलित हुए।

इस प्रकार दो युगो में विभक्त इस आर्ययुग में नगर बनाना, खेती करना, सुन्दर मकान बनाना, कपास-रेशम के वस्त्र बनाना, लिखना पढ़ना, शासन करना, आदि बातों में आर्य लोग निपुण होगए। इन्हीं सब विशेषताओं से हम इस युग को सभ्ययुग कह सकते हैं। आर्यों का मूल निवास (उत्तर में) पामीर प्रदेश में था। सभ्यताविकास के साथ साथ जब इन की जन संख्या बढ़ने लगी तो इन्हें रहने के लीए अन्य स्थान खोजने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः (उत्तरस्थ) अपने मूलनिवास पामीर से आर्य लोग पूर्व-पश्चिम-दक्षिण इन तीन दिशाओं में विभक्त होगए। जो आर्य पूर्व में आकर, वहा के आदि निवासी असभ्य मनुष्यों को युद्ध में परास्त कर वहां सदा के लिए बस गए, वही आज चीनी, जापानी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। पश्चिम प्रान्त को अपने अधिकार में करने वाली आर्यजाति युरोपियन कहलाई।

दक्षिण में जो आर्य आए, उन्होंनें वहां के मूल निवासी अनार्यों पर घोर अत्याचार किए। सभ्यता का अणुमात्र भी ध्यान न रखते हुए इन आर्योंनें बलात्कार से द्रविड़जाति के मानवोचित अधिकार भी छीन लिए। उनका सब तरंह बहिष्कार किया गया। उन्हे भीषण

यन्त्रणाएं दी गई। आर्य का सामना करने पर इन गरीब असमर्थ अनार्यों के कानों में गरम सीसा डलवाया गया। आर्य का स्पर्श करलेने मात्र से अनार्यों को प्राणदण्ड तक दिया गया। आर्योंनें अपने अत्याचारों की सीमा यहीं पर समाप्त न की, अपितु अपने नीतिग्रन्थों में (मनु-स्मृति आदि धर्मग्रन्थों में) सदा के लिए वैसी ही अमानुषिक आज्ञाएं लिपिबद्ध कर दीं। इस प्रकार इन अतिथि आर्योंनें दक्षिणस्थ अनार्यों के आतिथ्य के पुरस्कार में सदा के लिए उनके स्वत्व छीनकर उन्हें पशु बना डाला। यही आर्य भारतीय कहलाए। वेदकालात्मक, किंवा संहिताकालात्मक पूर्वआर्ययुग एवं उपनिषत्कालात्मक उत्तरआर्ययुग का यही संक्षिप्त (किन्तु कल्पित) दिग्दर्शन है।

५-सूत्रयुग

पामीर से चल कर जब आर्य लोग भारतवर्ष में आकर बस गए तो क्रमशः उन्होंनें एक विजेता की हैसियत से अपना साम्राज्य-विस्तार करना आरम्भ किया। ज्यों ज्यों इनका साम्राज्य दृढ़मूल बनता गया, त्यों त्यों इन के साहित्य में भी क्रमिक विकास होने लगा। परिणाम स्वरूप इसी साम्राज्ययुग में सुप्रसिद्ध कपिल ×कणादादि ६ आस्तिक दर्शनों की रचना हुई। सांख्य-कपिल-योग-मीमांसा-गौतम-व्याससूत्रों की रचना काल के सम्बन्ध से ही यह

। इस सम्बन्ध में पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कुशिविशारद उन पश्चिमी लेखकोंने पामीर से दक्षिण में आने वाले आर्यों के अनार्यद्रविड़ जाति पर ऐसे ऐसे भीषण अत्याचारों का कल्पित खाका खिंचा है, आर्यों को (वेद से भारतवासियों को) ऐसे क्रूर सिद्ध करने का जघन्य प्रयत्न किया है कि जिसके फलस्वरूप यह कल्पित जातिद्वेष आज भी भारतवर्ष में गृहकलह का कारण बनता हुआ उन स्वार्थी लखकों की स्व प्रसिद्धि का कारण बन रहा है।

×-दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में बड़े बड़े मतभेद हैं। ३-१२-१८-३६ तक दर्शन माने गए हैं। वस्तुतः शारीरक (व्याससूत्र), प्राधानिक (कपिलसूत्र) वैशेषिक (कपिलसूत्र) तीन आस्तिक दर्शन हैं. एवं लौकायतिक, स्याद्वादिक, बौद्ध यह तीन नास्तिक दर्शन हैं। इस प्रकार दर्शन ६ ही होते हैं। इन सबका विशद वैज्ञानिक विवेचन भूमिका द्वितीयखण्ड के "दार्शनिक आत्मपरीक्षा" प्रकरण में देखना चाहिए।

युग सूत्रयुग कहलाया । इस प्रकार इस युग में अपने राज्यविस्तार के साथ साथ आर्योंने आध्यात्मिक क्षेत्र में पूर्ण उन्नति करते हुए साहित्य का विस्तार किया । इसी काल में सुप्रसिद्ध वाल्मीकिरामायण की रचना हुई । इसीलिए इस युग को रामायणकाल भी कहा जासकता है । दार्शनिक सूत्रों के साथ साथ धर्मसूत्रों की रचना भी इसी युग में हुई ।

६—पौराणिकयुग

इस युग में बनावटी कथाओं के द्वारा साधारण जनता का अनुरञ्जन करते हुए आर्यों ने अपने धर्म्म का प्रसार करना आरम्भ किया । धर्म्मप्रसार के लिए राष्ट्रस्वातन्त्र्य, एवं साहित्य-पूर्णता नितान्त अपेक्षित है । सूत्रयुग में दोनों कमिएं पूरी होचुकीं थीं । फलतः इन का धर्म्मप्रसार की ओर ध्यान जाना आवश्यक था । उत्तरआर्षयुग में उपनिषन्मूला जिस आत्मविद्या का विकास हुआ था, वह इस युग में एक प्रकार से दब गया । इस का मुख्य कारण था ब्राह्मण समाज । भारतीय कर्म्मठ ब्राह्मणों के हाथ में समाज का नेतृत्व आगया । प्रत्येक कार्य में ब्राह्मणों का शासन चलने लगा । यहां तक कि एक सम्राट् को भी इन के अनुशासन से अनुशासित होना पड़ा । दण्डविधान में ब्राह्मणों का धार्म्मिक निर्णय सर्वोच्च माना जाने लगा । स्वार्थवश तत्कालीन निर्णायक ब्राह्मणों नें स्त्रियों, एवं शूद्रों के सम्बन्ध में बड़ी कड़ी आज्ञाएं निकालीं । जो अत्याचार आर्यों ने आरम्भ में द्रविड़ जाति पर किए थे, उन से भी कहीं अधिक अत्याचार शूद्रों पर होने लगे, वे अछूत माने जाने लगे, ब्राह्मण के साधारण से अपमान पर इन्हें वध दण्ड दिया जाने लगा, सार्वजनिक अधिकारों से इन्हें वञ्चित किया गया, यज्ञकर्म्म के बहाने असंख्य पशु बलिदान की वेदी पर चढ़ाए जाने लगे । इस प्रकार समाज पर इन कर्म्मठ ब्राह्मणों का निरङ्कुश शासन प्रतिष्ठित होगया । इन की यह बर्बरता कई शताब्दियों तक अपना ताण्डव नृत्य करती रही ।

७—बौद्धयुग

पौराणिकयुगकालीन ब्राह्मणवंशजों के निरङ्कुश आधिपत्य से जब तत्कालीन समाज क्षुब्ध होगया, जब पशुबलि की पद्धति सीमा का अतिक्रमण कर गई तो समाज में एक नवीन क्रान्ति का जन्म हुआ। इस क्रान्ति को प्रोत्साहन मिला वैराग्य की प्रतिमूर्त्ति गोतमबुद्ध से। इन्हों नें संसार के सामने अहिंसा का एक नवीन ही आदर्श उपस्थित किया। गोतमबुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर समाज ने वैदिकधर्म्म, किंवा ब्राह्मणधर्म्म का तिरस्कार करना आरम्भ किया। परिणामस्वरूप ब्राह्मणधर्म्म की इतिश्री के साथ साथ पशुबलि, एवं ब्राह्मणों की निरङ्कुशता का भी अन्त होगया, वैदिकधर्म्म अस्तप्राय होगया, ब्राह्मणों का महत्व जाता रहा, एक प्रकार से सम्पूर्ण विश्व इस नवीन बौद्ध मत में दीक्षित होगया। सामान्य जनता की कौन कहे, बड़े बड़े राजाओं, सम्राटों तक ने बुद्धमत का अनुगमन किया। सच पूंछा जाय तो कहना पड़ेगा कि बौद्धमत के इस महाविस्तार का एकमात्र श्रेय राज्याश्रय को ही था। भारतवर्ष के अन्तिम सम्राट् देवानांप्रियदर्शी अशोक ने भी कलिङ्गविजय में होने वाली नरहिंसा से क्लान्त होकर बुद्धमत का आश्रय लेलिया था। स्वयं सम्राट् बुद्धमत के महाप्रचारक थे, जैसा कि उन के पुत्र–कन्या के प्रचार, एवं शिलालेखों से स्पष्ट है। कहना न होगा कि कई शताब्दियों तक भारतवर्ष इस (अवैज्ञानिक) मत का आक्रमण सहता रहा। आगे जाकर भगवान् शङ्कराचार्य ने उत्तरआर्ययुगकालीन, अध्यात्मवादमूलक उसी सन्यास का आश्रय लेते हुए बौद्धमत को छिन्न भिन्न किया। तत्कालीन कुमारिलभट्ट तच्छिष्य मण्डनमिश्र आदि कर्म्मठ ब्राह्मणों के उद्योग से, एवं शङ्कर के उपदेशों से पुनः एक बार भारत ब्राह्मण-धर्म्म का अनुयायी बन गया।

८—बहुराजतन्त्रयुग

जब तक भारतवर्ष में बौद्धयुग का आभास रहा, तब तक साम्राज्यशासनप्रणाली एक प्रकार से सुरक्षित रही। परन्तु आगे जाकर यह साम्राज्यवाद सर्वथा उच्छिन्न हो गया। साम्राज्य-

शक्ति के क्षीण होने का एकमात्र कारण था, सम्प्रदायवाद। शैव–शाक्त–कापालिक-वाम आदि विभिन्न मतवादों से राष्ट्रसंघ छिन्न भिन्न होगया। परिणाम में गणतन्त्रात्मक राजाओं को पूर्ण उच्छृ-खल बनने का अवसर मिल गया। इन विभिन्न शासकों की उच्छृंखलता से प्रजा में अशान्ति व्याप्त होगई। आर्यसभ्यता पुनः एक बार विपत्ति में फंस गई। हर्षवर्धन की मृत्यु से ही प्रायः इस गणतन्त्रयुग का आरम्भ हुआ। समाज का अर्थबल, शरीरबल, ऐश्वर्यबल, विद्याबल, तपोबल सब कुछ नष्ट होगया। अराजकतामूलक, किंवा बहुराजकतामूलक जातिद्वेष ने राष्ट्र में गृहकलह का बीज वपन कर दिया। सब अपनी अपनी अहम्मन्यता के मद से राष्ट्रशक्ति को जर्ज्जरित करने लगे। राजालोग इन्द्रिय परायण बन गये। जरा जरा सी बातों पर भारतीय अविवेकी राजा आपस में ही लड़ भिड़ कर अपनी शक्ति का नाश करने लगे। इस प्रकार धर्म्म, एवं शासन के नाम पर प्रजा का रक्तशोषण होने लगा।

६—इस्लामयुग

"बिल्लियों की आपस की फूट बन्दर का हितसाधन करती है" यह कहानी प्रसिद्ध है। भारतवर्ष को आगे जाकर इसी कहानी का शिकार बनना पड़ा। भारतवर्ष की उक्त पतनावस्था से विधर्म्मी मुसलमानों नें पूरा पूरा लाभ उठाया। इतिहास प्रसिद्ध मोह-मद की प्रतिमूर्त्ति, लोलुप **मुहम्मदगौरी** ने ससैन्य भारतवर्ष पर आक्रमण कर ही तो डाला। उस समय भारतवैभव का टिमटिमाता दीपक एकमात्र पृथ्वीराजचौहान भारतीयो की आश्रयभूमि बना हुआ था। परन्तु भारत के दुर्भाग्य से **संयोगिता** के असामयिक प्रेमपाश में बद्ध पृथिवीराज गौरी द्वारा परास्त हुए। इस घड़ी से भारत का सौभाग्यसूर्य सदा के लिए अस्त होगया। भारत की फूट ने जयचन्द जैसे कुपूतों को आगे कर स्वतन्त्रता का उन्मूलन कर डाला। मदमत्त विजेता गौरी ने वापस लौट कर गुलाम कुतुबुद्दीन को भारत का सम्राट् बना कर भेजा, इस्लामयुग का यही पहिला भारतीयसम्राट् था। इस प्रकार दुर्द्धर्षकाल के चक्र से क्रमशः **गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैय्यद, लोधी** यह पांच पठानवंश भारतवर्ष की राज्यश्री का अपहरण करते रहे। लोधी वंश का अन्तिम सम्राट् इति-हास प्रसिद्ध **इब्राहीमलोधी** था। इतिहासप्रसिद्ध मुगलसाम्राज्यसंस्थापक वीरवर **बाबर** ने इब्रा-

हीम को युद्ध में परास्त कर भारत के ताज से अपने मस्तक की शोभा बढ़ाई, यही पहिला मुगल बादशाह था। बाबर ने अपने अभ्यर्थपराक्रम से जिस मुगलसाम्राज्यवृत्त का बीजवपन किया था, राजनीति विशारद, समयरहस्य वेत्ता अकबर ने उसे पुष्पित, एवं पल्लवित किया। एवं धर्म्माभिमानी औरङ्गजेब ने अपनी दुर्म्मति से मुगलसाम्राज्यवृत्त को छिन्न भिन्न किया। बस यहीं से इस्लामयुग का पतन आरम्भ होता है।

शाह गौरी से आरम्भ कर औरङ्गजेब तक इस्लामयुग का प्रभुत्व रहा। इस युग का स्वरूप बतलाने के लिए पश्चिमी ऐतिहासिकोंने जितने कागज काले किए होंगे, उन कृष्णपत्रों के सामने सम्भवतः उनका इतर सारा साहित्य भी कुछ न होगा। सच पूंछा जाय तो उन की इतिहास लिखने की शक्ति का पूर्ण अपव्यय इस्लामयुग के इतिहास में ही हुआ है। अस्तु विचारशील विद्वानों को यह विदित होगया है कि इस इतिहास का कितना महत्व है, इसमें कितनासा अंश सत्य है, एवं कितनासा अंश कल्पित है ?

१०—अन्धयुग

इस्लाम, एवं ब्रिटिशयुग के मध्य में एक अन्धयुग और आता है। इसे हम विप्लवयुग भी कह सकते हैं। पण्डारियों की लूटमार, मराठों की उच्छृंखलता, भील, सांसी, कंजर, आदि बर्बर लुटेरों का दोर दोरा इत्यादि इस युग की प्रधान विशेषताएं हैं। न इस युग में राजतन्त्र था, न प्रजातन्त्र था। था तो एकमात्र स्वेच्छातन्त्र, किंवा व्यक्तितन्त्र। सर्वत्र त्राहि त्राहि का आर्त्तनाद सुनाई पड़ता था, भारतीय प्रजा महा दुःखी थी। वह चाहती थी कि इस भीषणयुग में आक्रमणकारियों से उस की कोई रक्षा करै, उसकी अशिक्षा, असभ्यता दूर करै। परन्तु उसके देश में किसी ने उस की करुण पुकार न सुनी। सुनी तो किसने ? समुद्रपार रहने वाले वृटिशसिंहने।

११—बृटिशयुग

परमप्रतापी, अतुलसाहसी, पूर्णसभ्य, दुर्द्धर्ष वैज्ञानिक ब्रिटिश लोगोंने देखा कि भारतवर्ष आज महादुःखी बन रहा है। स्वदेशीय वर्बरों का आक्रमण, विधर्म्मी मुसलमानों का अत्याचार, पुर्त्तगाल लोगों की अर्थलालसा आदि से भारतीय प्रजा आज संत्रस्त है। फलस्वरूप दया की प्रतिमूर्त्ति उन सभ्यों के हृदय में करुणा का स्रोत उमड़ पड़ा। यद्यपि इन की यह इच्छा कभी नहीं थी कि हम अपने सुसमृद्धसाम्राज्यसुख को छोड़कर इतनी दूर जाकर व्यर्थ का संकट मोल ले। परन्तु उनसे यह न देखा गया कि हमारे ही सजातीय मनुष्य इस प्रकार दुःख पाया करें, एवं हम तटस्थ बने हुए आनन्द मनाते रहें। बस, हां बस एकमात्र इसी उपकारभावना से प्रेरित होकर उन्होनें स्वदेश के सम्पूर्ण सुखों को जलाञ्जलि समर्पित कर भारतवसुन्धरा के वक्षस्थल पर बड़े ही शुभ मुहूर्त्त में पादार्पण करने का कष्ट कर ही तो डाला। यहां आकर उन कृपालुओंनें किया क्या? सुनिए!

सबसे पहिले उन्होंनें अराजकता दूर की। लूट खसोट करने वाले डाकुओं का दमन किया। मुसलमानों के भीषण अत्याचारों से संत्रस्त प्रजा का त्राण किया। निर्वल राजाओं को आश्रय दिया। देश की आर्थिक उन्नति के लिए अवैज्ञानिक कला—कौशल का समूल विनाश कर वैज्ञानिक प्रणालियों का प्रसार किया। जिन मन्दबुद्धियोंने इस शुभ काम में वाधा डाली, उनको ऐसा भयङ्कर दण्ड दिया गया कि फिर कोई भविष्य में इस प्रकार उन्नति में वाधा डालने का साहस न कर सका। विश्वासघातियों को फांसी के तख्ते पर लटकाया गया। यातायात की सुविधा के लिए सड़कें वनवाई, तालाव खुदवाए। शिक्षा की समुन्नति के लिए वड़े वडे कॉलेज स्थापित किए। रक्षा के लिए स्वजाति सेना रक्खी गई। कम्पनी द्वारा शासनप्रणाली में पूर्ण सुधार किया गया। योग्य व्यक्तियों को विशुद्ध उपाधिदान से सम्मानित किया गया। इस प्रकार इन महापुरुषोंनें निःस्वार्थ भाव से, निश्चय ही निःस्वार्थभाव से भारतवर्ष की, एवं भारतीय प्रजा की उस विप्लवयुग से रक्षा की। शेर—वकरी एक घाट पानी पीने लगे। सर्वत्र शान्ति का साम्राज्य स्थापित होगया। मानो एक वार फिर से सत्ययुग आगया। हम भारतवा-

सियों के सौभाग्य से सन् १८८३ तक ब्रिटिश साम्राज्य अक्षुण्णरूप से शान्ति का स्रोत बहाता रहा ।

परन्तु न मालूम इन भारतीयों को ठाले बैठे क्या सनक सवार होगई कि एकाएक सन् १८८४ में **कांग्रेस** नाम की एक संस्था को जन्म देही तो डाला । लोग कहते हैं, यहीं से **ब्रिटिश अधःपतनयुग** का आरम्भ होगया कहते होंगे, एवं कहते रहें । हम तो इस कथन में कोई विश्वास नहीं रखते। हमें तो ब्रिटिश साम्राज्य के पशुबल पर आज भी ++ भ + + रो + + सा + + ००० + + + है ००० + । हां हम यह अवश्य ही नहीं जानते कि पशुबल एवं आत्मबल की प्रतिस्पर्द्धा में कौन विजय प्राप्त कर सकता है ? इसका उत्तर तो मनोविज्ञान के पण्डित ही देसकते हैं । हमारी दृष्टि में ब्रिटिशयुग का यही संक्षिप्त इतिहास है । आगे क्या होगा ? उत्तर **कालपुरुष** से पूछिए, अथवा अपने **कर्मों** से पूछिए—"**तस्मै नमः कर्मणे**" । अधिक जिज्ञासा होतो कर्मरहस्य प्रतिपादित **गीताशास्त्र** को अपना **गुरू** बनाइए ।

——०——

प्रसङ्गोपात्त यह भी विचार कर लीजिए कि उक्त युगों की वर्षगणना के सम्बन्ध में उन ऐतिहासिकों का क्या विचार है । सन् १८५७ से परमशान्तिसंग्राहक **ब्रिटिशयुग** का आरम्भ होता है । इस दृष्टि से ब्रिटिशयुग का प्रसार हुए अबतक लगभग १०० वर्ष होते हैं । सन् १७०७ में औरङ्गजेब की मृत्यु होती है । यहीं से अन्धयुग आरम्भ होता है । इस गणना के अनुसार लगभग १५० वर्ष तक अन्धयुग की सत्ता सिद्ध होती है । सन् १२०६ के लगभग बहुराजतन्त्रयुग, किंवा राजपूतयुग का आरम्भ होता है । यहीं से मुहम्मदगौरी की कृपा से **इस्लामयुग** का आरम्भ होता है । फलतः इस्लामयुग ५०० वर्ष तक भारतवर्ष में प्रतिष्ठित माना जासकता है । सन् ६४२ के लगभग हर्षवर्धन की मृत्यु होती है । यहीं से **बहुराजतन्त्रयुग** का आरम्भ होता है । यह युग लगभग ५५० वर्षतक अपनी व्याप्ति रखता है । ई० सन् से पूर्व ५५७ (बी० सी०) में गौतम बुद्ध ने जन्म लिया । यहीं से **बौद्धयुग** का

आरम्भ माना जाता है। इस प्रकार लगभग ११०० वर्ष पर्यन्त इस शान्तयुग का प्रभुत्व रहा। ईसवी सन् से ५००० वर्ष पूर्व क्रमशः आर्ययुग, सूत्रयुग, पुराणयुग का प्रभुत्व रहा। अर्थात् आज से लगभग ७ हजारवर्ष पहिसे से आर्ययुग का आरम्भ हुआ। एवं लगभग ४॥ हजार वर्ष तक उक्त तीनों युगों का क्रमिक भोग सिद्ध हुआ। ईसा से ८ हजारवर्ष पूर्व द्रविड़युग की सत्ता मानी गई। अर्थात् आज से १० हजारवर्ष पहिले द्रविड़युग का आरम्भ हुआ, एवं लगभग ३ हजार वर्ष पर्यन्त द्रविड़ों का प्रभुत्व रहा। अब धातुयुग, एवं पाषाणयुग यह दो युग बच जाते हैं। इन दोनों का काल अभी तक अनिश्चित सा है। इस प्रकार उनके अनुमान से मानवसभ्यता के क्रमिक विकास का उक्त इतिहास १०-१५ हजारवर्षों के भीतर भीतर समाप्त होजाता है।

तात्पर्य्य इस का यह हुआ कि भारतवर्ष की, भारतवर्ष की ही नहीं अपितु संसार की सभ्यता के विकास का इतिहास १०-१५ हजार वर्ष में समाप्त है। इधर भारत में आकर निवास करने वाले आर्यों का अभ्युदयकाल केवल ४-५ सहस्र वर्ष पहिले से सम्बन्ध रखता है। साथ ही में इन का यह अभ्युदय केवल आत्मा से ही सम्बन्ध रखता है। लौकिक विषयों के अभ्युदय में, राष्ट्रोन्नति के सम्बन्ध में भारतीय आर्य प्रायः असमर्थ ही रहे हैं। न उन के ग्रन्थो में उन का कोई क्रमबद्ध इतिहास है, न इस सम्बन्ध में पुरातत्त्व विभाग की ओर से ही कोई प्रमाण ही मिला है। इन सब परिस्थितियो के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिसे उन्नति, किंवा विकास कहना चाहिए, उस का आर्यजाति में, दूसरे शब्दों में भारतवासियों में प्रायः अभाव ही रहा है। इसी अभाव से यह अपने साम्राज्य सञ्चालन में असमर्थ बनते हुए दूसरों का आश्रय लेना आवश्यक समझते रहे हैं।

युगतालिका

१—पाषाणयुग—
- १—पूर्वपाषाणयुग—→नितान्तअसभ्ययुग
- २—उत्तरपाषाणयुग—→असभ्ययुग

} —→अज्ञात

२—धातुयुग—→कांस्ययुग, सभ्यतारम्भयुग } —→अनिश्चित

३—द्रविड़युग—→अर्द्धसभ्यतायुग } —→ई० से ८सह-स्रव० पू०-आरम्भ (३०००)

४—आर्ययुग—
- १—पूर्वआर्ययुग—ऋग्वेदकाल—बहुदेवतायुग
- २—उत्तरआर्ययुग—उपनिषत्काल-एकेश्वरयुग

५—सूत्रयुग—→दर्शनकाल, रामायणकाल

६—पुराणयुग—→पशुबलियुग, ब्राह्मणकाल

} —→ई० पू० ५सं० से पू० आ० (४५०)

७—बौद्धयुग—→अहिंसायुग, वैदिकधर्म्महासयुग } —→ई० पू० ५५७ से (११००)

८—बहुराजतन्त्रयुग→राजपूतयुग, सभ्यताह्रासयुग } —→६४२स (५५०)

९—इस्लामयुग—→अत्याचारयुग } —→१२०६से (५००)

१०—अन्धयुग—→विप्लवयुग, क्रान्तियुग } —→१७०७स (१५०)

११—ब्रिटिशयुग—→शान्तियुग, पूर्णसमृद्ध—सभ्ययुग } —→१८५७से (१००)

—o—

उक्त युगों में किनना तथ्यांश. है, एवं कितना अश काल्पनिक है, इसकी मीमांसा करने का न तो प्रकृत म अवसर ही है, एवं न इस विषय के स्पष्टीकरण की हम योग्यता ही रखते। हा इस सम्बन्ध में यह स्वीकार कर लेने में किसी भारतीय को कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए कि ब्रिटिश जातिने मानवसभ्यता के सम्बन्ध में युगधर्म्मो का जो स्वरूप हमारे सामने रक्खा है तबतक हमें उसके सम्बन्ध में किसी तरह की टीका टिप्पणी करने का अधिकार नहीं है, जबतक कि हम अपनी ओर से इस सम्बन्ध में प्रमाणो के आधार पर अपने युगधर्म्मों का स्पष्टीकरण न करदें।

मान लीजिए, उन्होनें जो कुछ लिखा, गलत लिखा। परन्तु आपने क्या किया, न लिखा, न पढ़ा, सर्वथा अकर्म्मण्य बने रहे। बृटिशजाति एक कर्म्मठ जाति है, उसमें स्वदेश प्रेम कूट कूट कर भरा है और वह प्रेम वहा केवल आदर्श की ही वस्तु नहीं है। वह वीरजाति अपने कर्त्तव्यो से अपना स्वदेश प्रेम प्रकट कर रही है। किसी भी जाति के दोषो की मीमासा करते हुए उस के गुणों की उपेक्षा कर देना कृतघ्नता है, पाप है। और फिर गुणत्रयमूला प्रकृति के साम्राज्य में विचरण करने वाला कौन सा मनुष्य दोषो से बचा है– 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः"।

यदि समालोचनात्मक दृष्टि से हम विचार करते हैं तो हमें निष्पक्षपात हो कर कहना पड़ेगा कि गुण–दोष की तुलना में उन्हीं का आसन सर्वोच्च है। उनका धर्म्मप्रेम, उनका देश प्रेम, उनका कर्त्तव्यपालन उनकी उदात्त भावनाएं, हम भारतवासियों के लिए शिक्षासूत्र है। अभी कई शताब्दियो तक उनसे हमें सीखना पड़ेगा। उनका आदर्शवाद कर्म्म को अपने गर्भ में रखता है, और हम विशुद्ध आदर्शवादी हैं। जो आदर्शवाद व्यवहार की वस्तु न बने, उस आदर्शवाद का क्या महत्त्व। "हमारे पितामह ऐसे थे, वैसे थे" इस निरर्थक वागाडम्बर से हमारा कोई कल्याण नहीं होसकता। अभी हम कैसे हैं, किधर जारहे हैं, इस वर्त्तमान स्थिति के आधार पर ही हमें वर्त्तमान सभ्यता के साथ तुलना करनी होगी और निश्चय रूप से इस तुलना में हमारा आसन उनकी अपेक्षा नीचा ही रहेगा।

हम भारतीय वड़े अभिमान के साथ कहा करते हैं कि हमारा वैदिक साहित्य संसार का सर्वश्रेष्ठ साहित्य है, हमारी फिलॉसफी (दर्शन) सर्वोत्कृष्ट है। परन्तु हिन्दू आदर्श का यशोगान करने वाले सभ्यताभिमानी उन भारतीय विद्वानों, एवं राष्ट्रीय नेताओं से हम पूछते हैं कि उन्होंने अपने साहित्य की रक्षा के लिए क्या प्रयत्न किया, और क्या कर रहे हैं? हम तो देखते हैं कि हिन्दुत्व का अभिमान करने वाले वे नेता रक्षा के प्रयत्न के स्थान में वैदिक साहित्य को निर्मूल बनाने का ही जघन्य प्रयत्न कर रहे हैं उनकी दृष्टि में राष्ट्रनिर्म्माण में भारतीयशास्त्र महा प्रतिबन्धक बन रहे हैं।

अपने मौलिक साहित्य की उपेक्षा करने वाला राष्ट्र क्या अपना आदर्श कभी सुरक्षित रख सकता है? असम्भव। राष्ट्र का क्या स्वरूप है? राष्ट्र को किन किन शक्तियों की आवश्यकता है? कौन सा राष्ट्र समृद्ध राष्ट्र कहलाता है? राष्ट्र को उन्नत बनाने के लिए किन किन उपायों का अवलम्बन अपेक्षित है? इन प्रश्नों का कल्पित समाधान करने वाले वे राष्ट्रीय नेता राष्ट्र का कौन सा उपकार कर रहे हैं? यह हमारी समझ में न आया, और न आने की आवश्यकता। जब कि इन का राष्ट्रनिर्माण हमारी वैदिक राष्ट्रनिर्म्माण पद्धति से ठीक उलटा है। वैदिकसाहित्य को, किंवा भारतीय शास्त्र को राष्ट्रोन्नति में बाधक समझने वाले, "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" नीति का अनुसरण करने वाले उन राष्ट्रीय नेताओं को यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिकसाहित्य केवल परलोक सम्बन्धी अध्यात्मवाद का ही प्रतिपादक नहीं है, अपितु वह हमारी ऐहलौकिक आवश्यकताओं का भी श्रेयः पथप्रदर्शक है। उदाहरण के लिए एक मन्त्र उनके सामने उपस्थित किया जाता है। उसी के आधार पर उन्हें मान लेना पड़ेगा कि वैदिकसाहित्य का, किंवा वैदिक मार्गानुगामी गीताशास्त्र का राष्ट्रनिर्म्माण में कितना उपयोग है। हमारा राष्ट्र कैसा हो? सम्भवतः इस प्रश्न के समाधान के लिए आज के राष्ट्रवादियों को एक महापोथा लिखना पड़ेगा, और सम्भवतः वह भी राष्ट्र निर्म्माण की पूरी पूरी व्याख्या करने में असमर्थ ही रहेगा। उधर महर्षियों की अलौकिक वाणी का यह चमत्कार है

कि उन्होंने केवल एक ही मन्त्र में राष्ट्र के सम्पूर्ण प्रश्न हल कर डाले हैं। मन्त्र का स्वरूप निम्न लिखित है—

आ ब्रह्मन्! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्!
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्!
दोग्ध्री धेनुः, वोढानड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरन्धिर्योषा, जिष्णू रथेष्ठाः!
सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्!
निकामे निकामे नः पर्ज्जन्यो वर्षतु!
फलवत्यो न न ओषधयः पच्यन्ताम्!
योगक्षेमो नः कल्पताम्!

(यजुर्वेदसंहिता २२अः।२२मं०।

मन्त्र का अक्षरार्थ यही है कि—"हे ब्रह्मन्! ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी उत्पन्न हो। राष्ट्र में क्षत्रियवर्ग वीर, धनुर्द्धारी, नीरोग एवं महारथी उत्पन्न हो। गाय दूध देनेवाली, बैल बोझ ढोहने वाला, घोड़ा तेज चलने वाला, स्त्री रूपगुणवती, रथी जयशील उत्पन्न हों। यजमान का युवा पुत्र सभाप्रिय, एवं वीर उत्पन्न हो। समय समय पर पर्जन्य वर्षा करता रहे। हमारे लिए ओषधिए फलवतीं बन कर पकतीं रहें। (इस प्रकार हे ब्रह्मन्! आप हमारे लिए) योग—क्षेम का निर्वाह करते रहें"।

अब इस के तात्त्विक अर्थका विचार कीजिए। राष्ट्र की सबसे पहिली मांग है ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण। ज्ञान का अधिष्ठाता वर्ग ही ब्राह्मण है। किसी भी राष्ट्र को सुव्यवस्थित रखने के लिए यह आवश्यक है कि उस की ज्ञानशक्ति को सर्वात्मना सुरक्षित रक्खा जाय। अशिक्षित राष्ट्र न वीर बन सकता, न सम्पत्तिशाली बन सकता। ज्ञान को मूलमें रखकर ही राष्ट्र अपना अभ्युदय कर सकता है। ब्रह्मबल (ज्ञानबल) ही क्षत्रबल (क्रियाशक्ति), एवं विड्बल (अर्थशक्ति) की

मूल प्रतिष्ठा है। जो क्षत्रवल ब्रह्मवल की उपेक्षा करता है, वह अपने साथ साथ राष्ट्र के सर्व-नाश का भी निमित्त बनजाता है- 'आ ब्रह्मन् ! ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्'' ।

केवल ज्ञानवल से ही राष्ट्र समृद्ध नहीं बन सकता, यह भी निश्चित है, क्योंकि समृद्धि कर्म्मसापेक्ष है। कुछ कर्म्म किया जायगा, तब समृद्धि होगी। जो वर्ग ज्ञान चिन्ता में निमग्न है, वही कर्म्म भी करने लगे, यह संभव नहीं है। ज्ञान का अन्वेषण शान्तवातावरण की अपेक्षा रखता है। सांसारिक कर्म्मों में व्यस्त रहने वाला कर्म्मठ व्यक्ति कभी राष्ट्र को ज्ञानप्रदान नहीं कर सकता। उसका तो एकमात्र काम होगा, उदरचिन्ता से सर्वथा विमुक्त होकर अनन्यभाव से ज्ञान का अनुष्ठान करते हुए आदेश देना, मार्ग बतलाना। ऐसी दशा में इस ज्ञानोपासक ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणवर्ग के अतिरिक्त राष्ट्र को एक ऐसा वर्ग और चाहिये, जो ब्राह्मण के आदेशानुसार राजदण्ड द्वारा राष्ट्र का संचालन करता रहै। यही वर्ग क्षत्रिय कहलाएगा। यही हमारे राष्ट्र की दूसरी मांग होगी—"आ राष्ट्रे राजन्यः" ।

जिस प्रकार राष्ट्र के ब्राह्मणवर्ग को ब्रह्मवर्चस्वी होना आवश्यक है, एवमेव क्षत्रिय वर्ग में भी कुछ विशेश योग्यताओं का रहना आवश्यक है। सबसे पहिली योग्यता है-"शूरः" । क्षत्रिय शरीर से बलवान होना चाहिए। निर्बल क्षत्रिय कभी राष्ट्रगुप्ति नहीं कर सकता। दूसरी योग्यता है—"इषव्यः"। केवल शरीरबल राष्ट्ररक्षा में तब तक असमर्थ है, जब तक कि शस्त्रबल पास में न हो। शस्त्रबल ही शूरता प्रसार का कारण है। तीसरी योग्यता है—"अतिव्याधी"। शरीर भी सबल है, शस्त्रबल भी पर्य्याप्त है, परन्तु समय असमय में यदि रोगों का आक्रमण होता रहेगा तो एक बलवान क्षत्रिय भी शस्त्रबल से काम न लेसकेगा। इसलिए इषव्यः के साथ साथ इसे व्याधि (रोग से भी रहित रहना चाहिए। चौथी योग्यता है—''महारथः" । बलवान, शस्त्रयुक्त, नीरोग क्षत्रिय को राष्ट्ररक्षा के लिए दूर दूर तक अनुधावन करना पड़ता है। बिना वाहन (रथ-नौका-पोत-गज-तुरग आदि) के इसका यह अनुधावन कर्म्म सम्पन्न नहीं हो सकता। सुसमृद्ध राष्ट्र के लिए वाहन सम्पत्ति का होना भी अनिवार्य है। इन चार भावों से युक्त

क्षत्रियवर्ग ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण के आदेश पर चलता हुआ राष्ट्ररक्षा में पूर्ण समर्थ बन जाता है- **'शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्"।**

राष्ट्र को ब्राह्मण के द्वारा ज्ञानशक्ति मिली, क्षत्रियके द्वारा क्रियाशक्ति मिली, अब सर्वप्रधान अर्थबल की समस्या राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित हुई। ब्रह्म-क्षत्र गोप्ता हैं, अर्थ गुप्त है। इन दोनों रक्षकों से अर्थबल सुरक्षित रहता हुआ उत्तरोत्तर समृद्ध बनता रहता है। यही अर्थबल राष्ट्र की तीसरी मांग है, जिस की कि रक्षा करता हुआ ब्राह्मण-क्षत्रियवर्ग स्वय भी अपने स्वरूप की रक्षा करने में समर्थ होता है। जिस राष्ट्र का अर्थबल समृद्ध एवं स्वतन्त्र होगा, उसी राष्ट्र में ज्ञान का विकास होगा, एवं वही राष्ट्र शासनदण्ड का सञ्चालन करने में समर्थ होसकेगा। अर्थपरतन्त्रता ही राष्ट्रपरतन्त्रता का मूल कारण है।

राष्ट्र की अर्थशक्ति कृषि, गोवंश, वाणिज्य इन तीन भागों में विभक्त है। इन तीनों कर्म्मों का संचालन करने वाला भी एक स्वतन्त्र वर्ग अपेक्षित है। आध्यात्मिक, आधिदैविक आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा करने वाला ब्राह्मणवर्ग, आधिभौतिक (शत्रु के) आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा करने में व्यस्त क्षत्रियवर्ग दोनो अर्थशक्तिसाधक कृषि गोरक्षा-वाणिज्य नहीं कर सकते, और नहीं करना चाहिए। अवश्य ही इस त्रिविध अर्थ-कर्म्म के लिए राष्ट्र का एक स्वतन्त्र समुदाय नियत करना पड़ेगा, एवं वही वर्ग **"वैश्य"** कहलाएगा- **"कृषि-गोरक्ष-वाणिज्य वैश्यकर्म्म स्वभावजम्"।**

चर्म्मस्थानीय, अतएव शर्म्मस्थानीय अन्तरङ्ग आक्रमण रक्षक ब्राह्मण, वर्म्मस्थानीय बहिरङ्ग आक्रमण रक्षक क्षत्रिय, इन दो रक्षकों से रक्षित वैश्य गुप्त रहेगा, सुरक्षित रहेगा। परिचर्य्याधर्म्मानुगामी एक चौथा दल और नियत करना पड़ेगा, वही राष्ट्र का सेवाबल होगा, एवं वही वर्ग **"आशु द्रवति"** (सेवाभाव के लिए जल्दी से जल्दी दौड़ पड़ने वाला) इस निर्वचन के अनुसार शूद्र कहलाएगा। अर्थशक्ति से ही सम्बन्ध रखने वाला राष्ट्र का कला-कौशल इस चौथे वर्ग के लिए ही नियत करना पड़ेगा- **"परिचर्य्यात्मकं कर्म्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्"।**

कृषि-गोरक्षा-वाणिज्य इन तीनों की स्वरूपसिद्धि के लिए कुछ साधन अपेक्षित होंगे। उन साधनों में पहिला, एवं मुख्यसाधन है-"दोग्ध्री-धेनुः। राष्ट्र की सबलता का मुख्य श्रेय गोवंश को ही है जिस राष्ट्र का गोवंश निर्बल हो जाता है, उसका सर्वनाश निश्चित है, जैसा कि वर्त्तमानयुग सर्वनाश की स्पष्ट घोषणा कर रहा है। दूसरा बल है-"वोढानड्वान्"। भारवाही बैल और उत्तम गोसन्तति के उत्पादक सांड भी आवश्यक वस्तु हैं तीसरा बल है-"आशुः सप्तिः"। तेज दौड़ने वाले घोड़े। वाहनकर्म्म के अतिरिक्त कृषिकर्म्म में भी इनका उपयोग होता है। अर्थबल का यही संक्षिप्त विवेचन है-"दोग्ध्रीधेनुर्वोढानड्वानाशुःसप्तिः"।

अब ऋषि का एक ऐसी महत्त्वपूर्ण कामना की ओर ध्यान गया, जिस के बिना किसी भी वर्ग का स्वरूप सुरक्षित नहीं रह सकता। वह कामना है-"पुरंध्रिर्योषा"। पुरुषसमाज की प्रतिष्ठा स्त्रीसमाज है। क्षेत्र की योग्यता के तारतम्य पर ही बीज की योग्यता का तारतम्य प्रतिष्ठित है। यदि राष्ट्र ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणों की, शूर क्षत्रियों की, एवं अर्थशक्तिकुशल वैश्यो की उत्पत्ति चाहता है तो उसका कर्त्तव्य होगा कि वह अपनी नारीशक्ति को सुरक्षित रक्खे। स्त्री-जाति का अभ्युत्थान ही राष्ट्रोत्थान का मूलमन्त्र है। बिना शक्तिवर्ग के पुरुष शव है, मुर्दा है।

अब वह यजमान-(वैश्य)-वर्ग राष्ट्र के सामने आया, जो कि अर्थसम्पत्ति का समाज में यजन (मेल) किया करता है। उस की मुख्यशक्ति है-"सभेयः"। ब्राह्मण एकाकी रह कर भी ज्ञानशक्ति का संचय कर सकता है, क्षत्रिय भी समूह की उपेक्षा कर क्षत्रबल से सम्पन्न हो सकता है। परन्तु युवा यजमान (वैश्य) तब तक अर्थकुशल नहीं बन सकता, जब तक कि वह सभाप्रिय न बने। उसे हर एक व्यक्ति से मिलते जुलते रहना चाहिए, जनसमूह की मनोवृत्तियों का अध्ययन करते रहना चाहिए। सामयिक अर्थस्थिति का परिज्ञान इसी अध्ययन पर निर्भर है। कहां, कब, किस अर्थ की क्या स्थिति है? इसके लिये सभेय (जन-

---

* इससे यह सूचित होता है कि वैदिकयुग में कृषिकर्म्म (हलजोतना) प्राय. अश्वों से ही लिया जाता था। आज भी कितने ही पश्चिमी देशों में घोड़ों से ही हल जोता जाता है।

संसर्ग के अतिरिक्त और कोई दूसरा उत्तम उपाय नहीं है। यदि बनिए का बेटा ब्राह्मण क्षत्रिय की तरह घर के कौने में बैठा रहेगा, देश विदेश भ्रमण, सब तरह के व्यक्तियों से संसर्ग न रक्खेगा तो वह कभी अर्थकुशल न बन सकेगा—'सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्'।

राष्ट्र अपनी इच्छा से जो कुछ कर सकता था, कर लिया। आधिभौतिक प्रपञ्च में जहां तक उस की स्वतन्त्रता चल सकती थी, वहा तक दौड़ लगाली। परन्तु एक विभाग ऐसा रह गया, जिसमें इस की स्वतन्त्रता कोई काम नहीं कर सकती। यदि काम कर सकता है तो एक मात्र "धर्म्म"। आधिदैविक मण्डल की अनुकूलता में हीं राष्ट्र की उक्त सारी कामनाएं पूरीं हो सकतीं हैं। मान लीजिए-दो चार वर्ष निरन्तर प्रकृति ने वृष्टि न की, की तो इतनी की कि जिस से जलप्रलय हो गया इस प्रकृतिदेवी के शाप से बचना कठिन है। इससे बचने का एक मात्र उपाय है-प्रकृति के अनुकूल चलना।

हम, किंवा हमारा राष्ट्र प्रकृति का ही एक अवयव है, अंश है, भाग है। जिस प्रकार एक मिट्टी का ढेला अपने अंशी रूप पृथिवी मण्डल के आकर्षण से नित्य आकर्षित रहता है, एवमेव प्रकृति का अंशभूत प्राणी प्रकृति के आकर्षण से नित्य युक्त रहता है। इस आकर्षण समानता से उसके धर्म्म हममें संक्रान्त रहते हैं, हमारे धर्म्म उसमें संक्रान्त रहते हैं। यदि हम उसके अनुकूल चलते रहते हैं, तो वह भी हमारे अनुकूल बनी रहती है। परस्पर की इस अनुकूल भावना से प्रकृति मण्डल भी शान्त रहता है, हम और हमारा राष्ट्र प्रकृति के कोप से बचा रहता है—"परस्परं भावयन्त श्रेयः परमवाप्स्यथ"।

हम देखते हैं कि यदि किसी मनुष्य पर (इसके प्रज्ञापराध से) उपदंश का आक्रमण हो जाता है तो जो जो व्यक्ति इसके संसर्ग में आजाते हैं, वे भी इस रोग के शिकार हो जाते हैं। बढ़ते बढ़ते यह संक्रमण वहां के प्रकृति मण्डल को दूषित कर डालता है, वातावरण बिगड़ जाता है, उस देश की हवा में हीं वे कीटाणु व्याप्त हो जाते हैं। महामारी (प्लेग), राजयक्ष्मा

(थाइसिस) आदि सांक्रामिक रोग तो प्रत्यक्ष ही प्रकृति को दूषित करते देखे गए हैं। यही कुछ एक उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि हमारा दोष संक्रमणभाव के कारण आगे जाकर प्रकृति मण्डल को दूषित करने का कारण बन जाता है। यदि किसी राष्ट्र में समय पर वृष्टि नहीं होती, ओषधिएं फलवती नहीं बनतीं, रोग से मानव समाज संत्रस्त रहता है, शिशुवर्ग कि अकाल मृत्यु हो जाती है तो हमें विश्वास करना चाहिए कि अवश्य ही हमनें, हमारे राष्ट्र ने, राष्ट्र संचालक राजा ने, राष्ट्र के माननीय व्यक्तियो नें प्रकृति विरुद्ध कर्म्म किया है। तत्काल प्रकृतिरहस्यवेत्ता ब्राह्मण से निदान कराना चाहिए, एवं प्रकृतिक्षोभशान्ति के लिए शान्ति, तुष्टि, पुष्टि आदि चिकित्सा करानी चाहिए।

प्रकृति का जैसा स्वरूप है, प्रकृति का जैसा नियम है, उन नियमों का संग्रह ही वेदशास्त्र है, एवं उस सनातनशास्त्र के वे सनातन प्राकृतिकनियम ही 'धर्म्म' किंवा **'सनातन-धर्म्म'** है। वर्णाश्रमधर्म्म ही इस धर्म्म की मौलिक व्याख्या है। यही गीताशास्त्र का (वर्णभेदानुसार अधिकारी भेद से नियत स्वधर्म्म है। स्वधर्म्मानुकूल कर्त्तव्य कर्म्म में नियत रहना ही प्रकृति के अनुकूल चलना है। जो राष्ट्र इस अनुकूलभाव का अनुगामी है, वही प्रकृतिसंयुक्त ब्रह्म से—**"निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्"** यह कहने का अधिकार रख सकता है।

राष्ट्र इन सब आडम्बरों से चाहता क्या है? इस प्रश्न का एक मात्र उत्तर है-**"योगः क्षेमो नः कल्पताम्"**। राष्ट्र अपनी स्वरूपरक्षा करता हुआ योग चाहता है, और क्षेम चाहता है। वैभव प्राप्ति योग है, प्राप्तवैभव का स्थिर रहना क्षेम है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र की मांग और हो भी क्या सकती है, एवं वैदिक साहित्य के अतिरिक्त राष्ट्र को इस योग-क्षेम की सर्वोच्च पद्धति बतलाने वाला शास्त्र भी दूसरा कौन है।

आज हमारा राष्ट्र क्या कर रहा है? यह भी देख लीजिए। ज्ञानप्रधान ब्रह्मबल, एवं क्रियाप्रधान क्षत्रबल दोनों आज सुप्त हैं, जाग्रत है—अर्थप्रधान विड्बल और सेवाप्रधान शूद्रबल।

ज्ञानसाधक वैदिकसाहित्य भी अन्धकार से आवृत हो रहा है, परिणामतः तदनुयायी ब्राह्मणवर्ग भी वेदगुप्ति का परित्याग करता हुआ सो रहा है। शस्त्रानुगामी क्षत्रियवर्ग भी पौरुष हीन वन रहा है, और दोनों का आसन ग्रहण कर रक्खा है वैश्यवर्ग, एवं शूद्रवर्ग ने। आज वैश्य हमारे अभिगन्ता (पथप्रदर्शक) वन रहे हैं शूद्र हमें सन्मार्ग वतला रहे हैं, रक्षितवर्ग रक्षक वन रहा है। प्रकृतिविरुद्ध भावो से युक्त राष्ट्र अराष्ट्र, किंवा कुत्सित राष्ट्र वन रहा है। आज हममें— "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (जैसे के साथ तैसा) इस आदेश के पालन करने की शक्ति नहीं है। हो भी कैसे सकती है, जब की अन्नस्थानीय वैश्य हमारे अभिगन्ता वन रहे हैं। आज हमारे एक गाल पर कोई तमाचा लगाना है तो हमारे अभिभावक हमें यह शिक्षा देते हैं कि तुम फोरन दूसरा गाल भी उन आततायियों के सामने कर दो। इसके अतिरिक्त ये निर्बल करें भी तो क्या करे, जब कि इन्होंने प्रज्ञापराध से तमाचे का प्रत्युत्तर देने वाले ब्रह्म—क्षत्र वल का तिरस्कार कर रक्खा है।

यह है हमारे राष्ट्र का जर्ज्जरित रूप। और ऐसे जर्ज्जरित राष्ट्र का अभिमान करते हुए ही हम उनकी समालोचना करने के लिए आगे वढ़ जाते हैं। राजनीति की वातें तो राजनैतिक विद्वान् ही जाने, हां उनके सम्वन्ध में हमें यह अवश्य ही कहना एव मानना पड़ेगा कि, जिस भारतीय साहित्य के आदर्शवाद की गाथा में हम अपना पसीना वहाते रहते हैं, उस साहित्य की रक्षा का जो स्तुत्य प्रयास पश्चिमी विद्वानो की ओर से हुआ है. एवं हो रहा है, उसे देख कर कहना पड़ता है कि वास्तव में वे ही वर्त्तमान युग के ऋषि हैं। उनकी कृपासे जिन अलभ्य वैदिकग्रन्थों का हमें दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, प्रत्युपकार में हमारे पास कोई ऐसी वस्तु नही है, जिसे हम उनके भेट करसके। फिर भी कृतज्ञ भारतवर्ष उनकी इस उपकारवृत्ति को कभी भुला नहीं सकता। और इधर अहोरात्र "धर्म्म—धर्म्म, आदर्श-आदर्श, वेद वेद, हिन्दुत्व-हिन्दुत्व" का चीत्कार करने वाले हमने क्या किया, यह स्पष्ट है। इसलिए हमने कहा है कि हमें उनकी खोज की समालोचना करने का तब तक कोई अधिकार नहीं है, जब तक कि पहिले हम हम न वन जांय। युगधर्म्मसम्वन्धी प्रासङ्गिक वक्तव्य समाप्त करते हुए अन्त में हमें इस युगधर्म्ममीमांसा से यही वतलाना है कि साध्ययुग के अनन्तर स्वयम्भूब्रह्मा के द्वारा आविष्कृत देवयुग का आरम्भकाल ही गीतोपदेश का प्राथमिक काल है, और यही गीताकालमीमांसा का संक्षिप्त निदर्शन है।

७–गीतानामीमांसा

१– भगवच्छब्दरहस्य

२– गीताशब्दरहस्य

३– उपनिषच्छब्दरहस्य

४– भगवद्गीतोपनिषत्–नामरहस्य

५– गीतानामनिरुक्ति

❀ श्रीः ❀
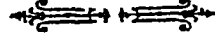
७—गीतानाममीमांसा

ज्ञान विज्ञान का अपूर्व कोश हमारा गीताशास्त्र आज विश्व में "गीता" नाम से प्रसिद्ध है। चूंकि गीता विज्ञानशास्त्र है, एवं विज्ञानधारा कारणवाद को लेकर ही प्रवाहित होती है, इसलिए गीताशास्त्र के नाम के सम्बन्ध में भी हमें विज्ञानदृष्टि से ही कारणवाद की मीमांसा करनी पड़ेगी। **परमेष्ठीकृष्ण** के पूर्णावतार महापुरुष भगवान् **वासुदेवकृष्ण** के मुखपङ्कज से तात्त्विकरूप से विनिःसृत, एवं कृष्णद्वैपायन महामुनि **व्यासदेव** की लेखिनी से छन्दोबद्ध बने हुए ईस गीताशास्त्र का "**भगवद्गीतोपनिषत्**" यह पूरा नाम है। यही नाम सकोचभाव के कारण आगे जाकर "**गीता**" इन दो अक्षरों में परिणत होगया है। उक्त नाम में **भगवत्—गीता—उपनिषद्** यह तीन विभाग हैं। इन तीनों ही विभागो के सम्बन्ध में तर्कवादी प्रश्न उठा सकता है।

वासुदेव कृष्ण ही भगवान् हों, यह बात नहीं हैं। कृष्ण की तरह **व्यास—कपिल—कणाद—पतञ्जलि** आदि अनेक महापुरुषो को सनातनधर्मियोंने भगवत् शब्द से सम्बोधित किया है। परन्तु हम देखते हैं कि भगवान् कृष्ण के गीताशास्त्र को छोड़कर भगवान् व्यास, भगवान् कपिलादि इतर महापुरुषों के जितने ग्रन्थ है, उनमें से किसी के भी आदि में भगवत् शब्द का सम्बन्ध नहीं देखा जाता। व्यास विरचित **महाभारत पुराणादि** को कोई भी **भगवत्महाभारत भगवत्पुराण** नहीं कहता। वाल्मीकिविरचित रामायण का आजतक **भगवद्रामायण** यह नाम न सुना गया। फिर क्या कारण है कि आर्य साहित्य में एकमात्र गीता शास्त्र ही '**भगवद्गीता**" इत्यादि रूप से भगवत् नाम पूर्वक प्रसिद्ध हुआ। अवश्य ही गीता सम्बन्धी इस भगवत्शब्दव्यवहार का कोई मौलिक रहस्य होना चाहिए।

यही अवस्था **गीता** शब्द की है। यदि गीता शब्द का अर्थ गान (गायन) है, तब तो इस शास्त्र का गीता नाम सर्वथा अप्रासंगिक है। यद्यपि यह ठीक है कि किसी गुप्त कारण के

अनुसार कृष्ण संगीत के महाप्रेमी थे । स्वयं गीताशास्त्र में भी "वेदानां सामवेदोऽस्मि" यह कहते हुए भगवान् ने अपना संगीतप्रेम प्रकट किया है । यही नहीं, जीवनसंगिनी वंशी का प्रेम भी इस विषय का पोषक है । परन्तु युद्धकाल में समुपस्थित शोकार्त्त अर्जुन को भगवान् ने वाद्यविशेषो के आधार पर गा गाकर अध्यात्मविद्याका उपदेश दिया होगा, यह एक उपहासास्पद कल्पना है । यदि गायनपरक न मान कर गीता शब्द को "कथिता"–"उक्ता" इस प्रकार उक्ति परक माना जाता है तो फिर इस द्रविड़ प्राणायाम की कोई आवश्यकता नहीं रहजाती । फिर तो सीधे से शब्दों में "भगवत्कथिता"–"भगवदुक्ता"–"भगवद्विरचिता" इनमें से किसी एक नाम को चुन लेना सरल पड़ता । फलतः गीता शब्द भी अवश्य ही किसी गुप्त रहस्योद्‌घाटन से सम्बन्ध रखने वाला सिद्ध होता है । व्यासने किसी तत्त्वविशेषण के लिए ही यह द्रविड़ प्राणायाम किया है ।

उपनिषत् शब्द भी यही जटिल समस्या उत्पन्न करता है । संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् भेद से अपौरुषेय वेद के ४ विभाग माने जाते हैं । उपनिषत् वेद का अन्तिम भाग है, अतएव इसे वेदान्त कहा जाता है । वेद के अन्तिमभाग में ही उपनिषद् शब्द (प्राचीनों की दृष्टि में) निरूढ माना गया है । गीता वेद का अन्तिम भाग नहीं है, यह भी सर्वविदित है । उपनिषत् शब्द का श्रुतिशास्त्र से सम्बन्ध है । इधर गीताशास्त्र श्रौततत्वों का अनुसरण करता हुआ स्मृतिशास्त्र है । कोई भी भारतीय विद्वान् गीता को श्रुतिशास्त्र, किंवा वेद का अन्तिम भाग मानने के लिए तय्यार नहीं है । इन सब स्पष्ट परिस्थितियों के रहते हुए भी गीता जैसे स्मृतिशास्त्र को एकमात्र श्रुतिशास्त्र में निरूढ उपनिषत् शब्द से कैसे, एवं क्यों व्यवहृत किया गया । इस प्रकार गीताशास्त्र के भगवत्–गीता–उपनिषत् यह तीनों ही शब्द हमारे सम्मुख एक जटिल समस्या रख रहे हैं । इस समस्या को सुलझाने के लिए ही गीता-नाममीमांसाप्रकरण पाठकों के सामने आया है । इसमें क्रमशः उक्त तीनों विभागों के रहस्यार्थों का ही निरूपण होगा ।

—— ६ ——

१—भगवच्छब्दरहस्य

सब से पहिले हमें यही विचार करना होगा कि शास्त्रोंनें "भगवान्" शब्द का क्या अर्थ किया है। किन गुणों, किंवा शक्तियों से व्यक्तिविशेष भगवान् कहलाने लगते हैं। वैसे तो आर्यजाति भगवान् शब्द से प्रधानरूप से विश्वकर्म्मा ईश्वर का ही ग्रहण करती है। ईश्वरतत्व गीता के-"यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" (गीता १५।१७।) इस सिद्धान्त के अनुसार अव्यय पुरुष का वाचक है। यह अव्यय पुरुष, किंवा ईश्वर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त रहता हुआ भी असङ्ग है, अविकृत है, सर्वत्र एकरूप से व्याप्त है। जैसा कि गोपथश्रुति कहती है—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥ (गो०ब्रा०पू०१।२६।

इस प्रकार स्वस्वरूप से एकरूप से व्याप्त रहता हुआ भी यह व्यापक अव्यय योगमाया की कृपा से अनेक रूप धारण कर लेता है। योगमाया इसे खण्ड खण्डरूप में परिणत कर डालती है। वही खण्डरूप, किंवा अंशरूप "जीव" नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, जैसा कि-'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गीता०१५।७।), "अंशो नानाव्यपदेशात्" (ब्रह्मसू०२।३-४३।) इत्यादि वचनों से सिद्ध है। इसी खण्डभाव के कारण अव्यय की प्रातिस्विक शक्ति तिरोहित होजाती है। योगमाया ही अव्ययस्वरूपदर्शन की महाप्रतिबन्धिका है। ईश्वर को जीव बना कर, जीव को ईश्वरभाव से च्युत करने वाली यही योगमाया है। योगमाया के आवरण से ही जीव अपने प्रातिस्विक व्यापक ईश्वराव्ययभाव के दर्शन में असमर्थ होता हुआ दुःख पाया करता है, जैसा कि-"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः" (गीता०७।२५) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। इसी योगमाया ने जीव को भगवच्छक्ति से वञ्चित कर रक्खा है।

उक्त भगवच्छक्ति को प्राप्त करने के लिए योगमाया का आवरण हटाना आवश्यक है। इस आवरण के हटते ही उसी प्रकार अव्यय की प्रातिस्विक शक्तियो का विकास होजाता है, जैसे

कि मेघावरण हटने से नित्य प्रकाशित सूर्य प्रकट होजाता है। बस जिस जीव में बिना किसी प्रयास के जन्मकाल से ही योगमाया का आवरण हटा हुआ रहता है, वही जीव अपनी शक्तियों के प्रभाव से भगवान् कहलाने लगता है। ऐसे ही जीव महापुरुष, अमानवपुरुष, अवतार आदि नामों से सम्बोधित हुए हैं। अव्यय पुरुष में प्रधानरूप से ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति, एवं बलशक्ति (अर्थशक्ति) यह तीन महाशक्तिएं प्रतिष्ठित हैं। इतर अवान्तर सब शक्तियों का इन्हीं तीनों शक्तियों अन्तर्भाव है। इसी शक्तित्रयी का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

न तस्य कार्य करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च ॥
(श्वेता० उप० ६।८)।

परिभाषाविज्ञान के अनुसार पर शब्द अव्यय का वाचक है, अतएव उस की उक्त ज्ञानादि शक्तिएं पराशक्ति नाम से व्यवहृत हुई हैं। इन तीनों में प्रत्येक की अवान्तर अनेक शाखाएं हैं। इस प्रकार इन तीन का आगे जाकर अनन्तशक्तियों पर पर्यवसान होता है। इसी शक्त्यानन्त्य को सूचित करने के लिए "विविधैव श्रूयते' कहा गया है। इसीलिए अव्ययेश्वर अनन्तशक्तिमान् कहलाता है। इन अनन्तशक्तियों में ६ शक्तिएं हीं "भग" नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं ६ ओं के आधार पर भगवच्छब्द प्रतिष्ठित है। भगवत्स्वरूपसंपादिका, भगात्मिका इन्हीं ६ ओं विशेष शक्तियों का उल्लेख करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य, धर्म्मस्य, यशसः, श्रियः।
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, यह ६ शक्तिएं हीं 'भग" कहलातीं हैं, एवं जिस में यह भग रहते हैं, वह भगवान् कहलाता है। चूंकि यह शक्तिएं अव्ययेश्वर की प्रातिस्विक शक्तिएं हैं, एवं—"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" (गीता १८।६१) के अनुसार जड़, चेतन सब भौतिक पदार्थों के केन्द्र में भगशाली ईश्वराव्यय प्रतिष्ठित है। इस दृष्टि से विश्व के सभी पदार्थों को हम भगवान् कह सकते हैं। समष्टि-व्यष्टि रूप से उभयथा सब कुछ ब्रह्म का

ही-वैभव है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"-"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुतिएं इसी ब्रह्मव्यापकता का स्पष्टीकरण रहीं हैं।

ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार आत्मज्योति सर्वोत्कृष्ट ज्योति मानी गई है। कारण इस का यही है कि सूर्य-चन्द्र-अग्नि-विद्युत-तारक आदि भूतज्योतिएं जहां प्रकाशित वस्तुओं का ही ज्ञान कराने में समर्थ हैं, वहां आत्मज्योति (ज्ञानज्योति) प्रकाश, एवं अन्धकार दोनों का ज्ञान करवाती है। भूतप्रकाश की सत्ता में आप अन्धकार नहीं देख सकते। परन्तु आत्मप्रकाश में आप दोनों का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। साथ ही में भूतप्रकाश की प्रतिष्ठा भी आत्मप्रकाश ही है। ज्ञान-ज्योति के आधार से ही उक्त पांचों भूतज्योतियों का परिज्ञान होता है। अतएव हम इस ज्ञानात्मक आत्मज्योति को ज्योतिषां ज्योतिः कहने के लिए तय्यार है। जैसा कि श्रुति कहती है—

> न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
> तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
>
> (मुण्डको० २।२।६)।

ज्योतिषां ज्योतिर्लक्षणा आत्मज्योति स्वयं प्रकाशित है, अतएव हम इसे स्वज्योति कहने के लिए तय्यार हैं। बस जो तत्व सूर्य्य की भांति अपने आप भासता रहता है, अपने आप प्रकाशित रहता है, वही तत्व (आत्मज्योति) "भासते" के अनुसार "भम्" नाम से प्रसिद्ध है। अथवा जिस तत्व के आगमन से मनुष्य भायुक्त (चेतनायुक्त-प्रकाशयुक्त-ज्योतिष्मान्) वन जाता है, जो तत्व मनुष्य में प्रविष्ट होकर उसे तेजस्वी वना देता है, वही तत्व "येनासौ भाति" इस व्युत्पत्ति से "भम्" कहलाता है। आत्मज्योति का ही नाम "भम्" है। जिस के द्वारा यह "भम्" प्राप्त होता है, दूसरे शब्दों में जो शक्तिविशेष "भम्" प्राप्ति के साधक हैं, उन शक्ति-विशेषों को ही-"येन भं प्राप्यते"-इस व्युत्पत्ति से "भग" कहा जाता है। धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य ऐश्वर्य-यश-श्री यह ६ धर्म्म ही भं प्राप्ति के द्वार हैं। इन्हीं ६ ओं के कारण मनुष्य भं भाव को प्राप्त होता है। ऐसी दशा में हम अवश्य ही भंप्राप्तिसाधनभूत उक्त ६ ओं धर्म्मों को भग शब्द से

सम्बोधित करने के लिए तय्यार हैं। जिस में यह भग विकसित रहते हैं, वही महापुरुष भगवान् कहलाता है।

पूर्वकथनानुसार जब सभी प्राणी हृदयस्थ भगशाली अव्यय प्रतिष्ठा के कारण भगवान् हैं, तो इस भगवत् शब्द में क्या विशेषता है? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिए भग के प्रतिद्वन्द्वीभाव का स्वरूप जान लेना आवश्यक होगा। राग-द्वेष, संमोह, अस्मिता, अभिनिवेश इन चारों की समष्टि अविद्याबुद्धि है। एवं वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य्य, धर्म्म इन चारों की समष्टि विद्याबुद्धि है। अव्ययात्मा के विद्या (ज्ञान) एवं कर्म्म नाम के दो धातु हैं। द्विधातुमूर्त्ति अव्ययात्मा ही हमारा प्रत्यगात्मा है, इसी का नाम हृदयस्थ "ईश्वर" है। इस के अतिसन्निकट विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि प्रतिष्ठित है। इसी बुद्धि में उक्त चार विद्याभाव, एवं चार अविद्याभाव व्यतिक्रम से प्रतिष्ठित रहते हैं।

बुद्धि में अवश्य ही विद्या (ज्ञान), अविद्या (अज्ञान) दोनों में से एक भाव नित्य प्रतिष्ठित रहेगा। साथ ही में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अव्ययात्मा के विद्याभाग से बुद्धि का विद्याभाग प्रबल रहता है, एवं कर्म्मधातु से बुद्धि का अविद्याभाग प्रबल रहता है। इसी प्रकार बुद्धि के विद्याभाग से अव्यय का विद्याधातु प्रसन्न रहता है, एवं बुद्धि के अविद्याभाग से अव्यय का कर्म्मधातु प्रसन्न रहता है। यदि वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य्य, धर्म्म इन चारों विद्याबुद्धियों का द्विधातुमूर्त्ति अव्यय के विद्याभाग के साथ योग करा दिया जाता है तो बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। ठीक इस के विपरीत यदि राग-द्वेष, संमोह, अस्मिता, अभिनिवेश इन चारों अविद्याबुद्धियों का द्विधातुमूर्त्ति अव्यय के कर्म्म भाग के साथ योग होजाता है तो बुद्धियोगनिष्ठा गिर जाती है।

बुद्धि और प्रत्यगात्मा के मध्य में अविद्यारूप पाप्मा का आवरण होजाता है। यही अविद्यावरण दुःख का मूल कारण है। इस आवरण को हटाने की शक्ति एकमात्र बुद्धियोग की ही है। उक्त बुद्धियोग से कर्म्म से उत्पन्न होने वाले अविद्याबुद्धिरूप पाप्माओं से उत्पन्न आवरण अपने आप निवृत्त होजाता है। वैराग्य बुद्धियोग से राग-द्वेषात्मक आवरण, ज्ञानबुद्धियोग से संमोहात्मक अज्ञानावरण, ऐश्वर्य बुद्धियोग से अस्मितालक्षण आवरण, एवं धर्म्मबुद्धियोग से अभिनिवेश-

लक्षण आवरण हट जाता है। इस अविद्यात्मक आवरण के हटने का परिणाम यह होता है कि अव्ययात्मा में प्रतिष्ठित भग नाम के जो स्वरूप धर्म्म हैं, वे आवरण से रहित होते हुए विज्ञानात्मा पर पूर्ण अनुग्रह कर डालते हैं, यही आत्मसाक्षात्कार । बुद्धिसहकृत कर्म्मात्मा का बुद्धियोग द्वारा प्रत्यगात्मसम्पत् प्राप्त कर लेना ही आत्मसाक्षात्कार है। कर्म्मात्मा लक्षण जीव पर प्रत्यगात्मलक्षण भगधर्म्मावच्छिन्न हृदयस्थ भगवान् का यही अनुग्रह है। इसी अनुग्रह से अव्यय की भगसम्पत्ति का उपभोग करने में समर्थ बनता हुआ बुद्धियोगस्थ कर्म्मात्मा महापुरुषकोटि में आता हुआ भगवान् बन जाता है। प्रत्यगात्मा का वह प्रकाश पुञ्ज आत्मा के विद्याभाग से इसी बुद्धियोग द्वारा प्रादुर्भूत होता

हमने कहा है कि सूर्य्य–चन्द्र–विद्युतादि पांचों भूतज्योतियों की प्रतिष्ठा प्रत्यगात्मज्योति है। इस सम्बन्ध में यह और जानलेना चाहिए कि प्रकृति मण्डल में प्रत्यगात्मलक्षण यह परमात्मज्योति सर्वप्रथम विश्वकेन्द्रस्थ स्वज्योतिर्घन सूर्य्य में ही अवतीर्ण होती है। इसीलिए पांचों भूतज्योतियों में सूर्य्यज्योति को ही मुख्य माना गया है। सूर्य्यसत्ता आत्मसृष्टि की परिचायिका है, एवं सूर्य्याभाव प्रलयकाल का सूचक है। वह परमात्मज्योति पहिले सूर्य्य में आती है, सूर्य्यरश्मिद्वारा वह हमारे भूतात्मा नाम के कर्म्मात्मा में प्रतिष्ठित होती है। कहने का तात्पर्य्य यह हुआ कि हृदयस्थ ईश्वर का हमारी अध्यात्मसंस्था के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होकर सूर्य्य के द्वारा ही होता है। सौरत्रिलोकी नाम की रोदसी त्रिलोकी में जितने प्राणी हैं, उन सब की मूलप्रतिष्ठा सूर्य्य ही है। इसी पारम्परिक आत्मसम्बन्ध को बतलाती हुई श्रुति कहती है—

१–हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥ (मुण्डको० २।२।६)।

२–यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाऽभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥
(ऋक् सं० १।१६४।२१)।

३—यस्मिन् वृत्ते मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नो नशद्यः पितरं न वेद ॥
(ऋक् सं० १।१६४।२२।) ।

"तद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" (शत० १०।५।१।४।) इस निगम के अनुसार सूर्य से नीचे नीचे का सारा प्रपञ्च मृत्युप्रधान है, एवं सूर्य्य से ऊपर ऊपर का सारा विवर्त अमृतप्रधान है। जिस प्रकार एक सुपर्ण (पक्षी) अपने पक्षों से आकाश में बड़ी दूरतक दौड़ लगाता रहता है, एवमेव सूर्य्यबिम्ब को आधार मान कर चारों ओर लोकालोक स्थान तक व्याप्त रहने वाली सूर्यरश्मिएं अमृत एवं मर्त्यलोक में संचरण किया करतीं हैं। इसी संचरण सादृश्य को लक्ष्य में रखकर इन रश्मियों को सुपर्ण कहा गया है। सूर्य्य से ऊपर रहने वाला अमृतभाग आत्मज्योति है, इस ओर जाने वाली सूर्य्यरश्मिएं अमृतात्मा के अंशरूप ज्ञानज्योति को अपने उदर में लेकर उसे विज्ञानद्वारा सूर्य्यज्योति में प्रविष्ट करतीं रहतीं हैं। यह प्रक्रिया अनवरत चलती रहती है। आगे जाकर यह इन (सूर्य्य) इन्हीं रश्मियों के द्वारा अपने से नीचे प्रतिष्ठित मृत्युलोक के भौतिक रस का स्वयं भी पान करता रहता है, एवं इस भौतिक रस से मृत्युलोक में रहने वाली प्रजा का भी पोषण किया करता है।

इस प्रकार रश्मियों द्वारा ऊपर से अमृतरस, एवं नीचे से मर्त्यरस दोनों को लेकर अमृत–मृत्युमय बनता हुआ सूर्य विश्व के मध्य में अपनी सहस्र किरणों से तप रहा है। अमृतलोकस्थ विज्ञानज्योति से युक्त यह सूर्य रश्मिद्वारा इस पृथिवीलोक में बुद्धि का प्रवर्त्तक बनता हुआ बुद्धिरूप से ही हमारी अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होता है। अमृतलोकस्थ चिदात्मज्योति सूर्य्य में आकर सूर्यस्थ भूतज्योति से संश्लिष्ट बनकर भूतज्योतिप्रधान बन जाती है। यही सौरभूतज्योति पृथिवीलोकस्थ मनुष्यशरीर में रश्मिद्वारा प्रविष्ट होकर बुद्धिरूप ज्ञानज्योतिस्वरूप में परिणत हो जाती है।

तात्पर्य यही हुआ कि सूर्य से उसपार ज्ञानज्योति है, इस ओर हमारा भौतिकशरीर है, दोनों के मध्य में सूर्य्य है। ज्ञानज्योति सूर्य्य में आकर तद्रूप में परिणत होजाती है।

वहां से ज्ञानज्योतिर्गर्भिता जो भूतज्योति रश्मिद्वारा हमारे भौतिकशरीर में आती है, वही हमारी आध्यात्मिक ज्ञानज्योति कहलाती है। "यत्रा सुपर्णाः०" इत्यादि मन्त्र का यही निष्कर्ष है।

ब्रह्माश्वत्थ, कर्माश्वत्थ भेद से आध्यात्मिक विज्ञान में दो वृक्ष माने गए हैं। ब्रह्माश्वत्थ का ईश्वरतन्त्र, किंवा प्रकृतितन्त्र से सम्बन्ध है। एवं कर्माश्वत्थ का जीवतन्त्र, किंवा विकृतितन्त्र से सम्बन्ध है। इन दोनों में से "यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णाः" इत्यादि मन्त्र में जीवसंस्था सम्बन्धी कर्माश्वत्थ का ही ग्रहण है। सचित कर्मों के आधार पर जन्मकाल में नवीन नवीन कर्म संस्कारों का संचय, पुनः जन्म, पुनः संस्कार, चक्रवत् परिवर्त्तित इस कर्म्मसंतान का ही नाम कर्माश्वत्थवृक्ष है। इसी कर्मवृक्ष पर जीवात्मा प्रतिष्ठित रहता है। इस वृक्ष पर प्रतिष्ठित जीवात्मा शुभाशुभकर्मों का फल भोगा करता है। अतएव इसे मध्वद् कहा गया है। बुद्धि भोगसाधन है। यह बुद्धितत्व साक्षात् आध्यात्मिक सूर्य है। इस आध्यात्मिक सूर्य से दो प्रकार की रश्मिएं निकलतीं हैं। रश्मिएं एक ही तरह की हैं। केवल भोगभेद से इन की दो अवस्थाएं हो जातीं हैं। जाग्रदवस्था में यह रश्मिएं विश्वान्तर्गत बहिरङ्ग विषयों का रसास्वादन करतीं हैं। एवं सुषुप्तिकाल में, (जब कि इन्द्रियसहित मन अपने ऐन्द्रियक विषयों से हट कर बुद्धि में विलीन हो जाता है, यह बुद्धिरश्मिएं आत्मा में विलीन होतीं हुई) विशुद्ध आत्मा का ही उपभोग करतीं हैं। आनन्दानुभव का द्वैतभाव से सम्बन्ध है। इधर सुषुप्ति में द्वैतभाव तिरोहित हो जाता है। अतएव जैसा अनुभव जाग्रदवस्था में हमें विषयानन्दोपभोग में होता है, वैसा अनुभव सुषुप्ति में आत्मानन्दोपभोग में नहीं होता। दूसरे शब्दो में जाग्रदवस्था में समृद्धानन्द है, सुषुप्ति में शान्तानन्द है। पहिला आनन्द विषयानन्द है, दूसरा आत्मानन्द है। पहिला आनन्द अशान्ति का मूल है, दूसरा आनन्द शान्ति का दूत है। पहिले आनन्द से थकान होती है, दूसरे आनन्द से थकान मिटती है। जब बुद्धिरश्मिएं आत्मानन्द में विलीन हो जातीं हैं तो सुषुप्ति हो जाती है। जाग्रदवस्था के उपक्रम में पुनः वे रश्मिएं विश्व की ओर प्रवृत्त होतीं हुई स्व स्व ऐन्द्रियक विषयग्रहण में संलग्न बन जातीं हैं। जिस की बुद्धि अपने विज्ञानजनक उस आत्मतत्त्व को मूल बना कर विषयों में अनासक्ति पूर्वक प्रवृत्त

होती है, उसे शुभ फल मिलता है। ठीक इसके विपरीत जिस की बुद्धि अपने पितर आत्मा को विस्मृत करके विषयों में आसक्ति पूर्वक प्रवृत्त होती है, वह उस उत्तम फल को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। दूसरे शब्दों में आत्मानुगामिनी बुद्धि भगवत्स्वरूपसम्पादिका है, ऐसे ही व्यक्तियों को अमृतात्मा का ज्ञानरस मिलता है। विशुद्ध भोगानुगामिनी बुद्धि भगसम्पत्ति से च्युत कर देती है। इन्हीं दोनों परिस्थितियों का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठोप० २।४।१)।

आत्मा के साथ बुद्धि का योग करादेने से परमानन्द सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, भगवत्-पद प्राप्त हो जाता है, यही निष्कर्ष है। द्वितीय मन्त्र इसी अर्थ का प्रतिपादन करता है। इस वक्तव्य से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि अमृत-मृत्युमय विश्व केन्द्र में प्रतिष्ठित, अतएव अमृतमृत्युमय सूर्य्य पृथिवीलोकस्थ मनुष्य में बुद्धिरूप से (रश्मिद्वारा) प्रवेश करता है। यही बुद्धि मेरा विज्ञानात्मा है। इसी विज्ञान के बल पर मैं अपनी शरीरयात्रा का सञ्चालन करने में समर्थ बनता हूं। चूंकि बुद्धि का उपादान सूर्य्य है, अतएव बुद्धि में आठ प्रकार के धर्म्म उत्पन्न होजाते हैं। सूर्य्य में जितना सा अमृतात्ममूलक अमृतभाग है, उस से तो वैराग्य-ज्ञानादि चार प्रकार के विद्याभाव उत्पन्न होते हैं। एवं जितना सा मर्त्यभाग है, उस से रागद्वेष-मोहादि चार प्रकार के अविद्याभाव विकसित होते हैं। क्रमप्राप्त पहिले भगवत्ता सम्पादक विद्याबुद्धि-भावों का ही विचार कीजिए।

पहली विद्याबुद्धि वैराग्यलक्षण है। पुत्र, कलत्र, बन्धु, अनुचर, पशु, स्त्री, गृह, वित्त, राज्यवैभव, वस्त्र, अलङ्कारादि लौकिकसमुन्नतिमूलक भौतिक परिकरों के प्रति अपनी बुद्धि को सर्वथा उपेक्षणीय बना डालना ही वैराग्य है। जो व्यक्ति इन लौकिक वैभवों को तुच्छ दृष्टि से देखता है, विश्वास कीजिए उस का आत्मा सम्पूर्ण वैभवों से विभाव है। कितने ही मनुष्य दस

रुपये के लाभ से ही प्रसन्न होजाते हैं। कितनें हीं ऐसे भी हैं, जिन की दृष्टि में दस लाख का भी कोई महत्व नहीं है। मानना पड़ेगा कि इन की आत्मा अधिक विशाल है। ऐसी दशा में जिसने संसार के सम्पूर्ण वैभव का तिरस्कार कर डाला, उस की महत्ता का तो कहना ही क्या है। यही पहिली भगवत्व सम्पत्ति है। संसार का वैभव जिस महापुरुष की दृष्टि में सर्वथा नगण्य है, वह अवश्य ही भगवान् है।

दूसरी विद्याबुद्धि **ज्ञानलक्षणा** है। यों तो सभी को थोड़ा बहुत ज्ञान है, परन्तु न तो हम इस सामान्य ज्ञान को भग ही कह सकते, एवं न ऐसे ज्ञानी को भगवान् ही कहा जासकता। यद्यपि ज्ञान की अनेक धाराएं हैं, परन्तु अभी दो ज्ञानधाराओं की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। एक **द्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान** है, दूसरा **स्मृतिलक्षण ज्ञान** है। प्रत्यक्षदृष्टज्ञान पहिला ज्ञान है, एवं शब्दग्रन्थजनित ज्ञान स्मृतिलक्षण ज्ञान है। "विद्युत् में इतनी शक्ति है, यह शक्ति है, इतने समय में इतनी खर्च होती है" यह सुन लेना स्मृतिलक्षण ज्ञान है, एवं स्वयं परीक्षा द्वारा प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करना पहिला ज्ञान है। थ्योरी Theory जान लेना दूसरा ज्ञान है, प्रेक्टिकलवर्क Practical work पहिला ज्ञान है। विज्ञानद्वारा आजमाइश किया हुआ ज्ञान प्राथमिक है, एवं श्रुतिज्ञान दूसरा है। इन दोनों में प्रथम ज्ञान को ही 'भग" कहेंगे।

अस्मदादि साधारण मनुष्यों का ज्ञान स्मार्त्तज्ञान है। हमनें केवल सुन कर ही उस विषय पर विश्वास कर लिया है, कभी परीक्षा नहीं की है। इसीलिए हम भगवान् नहीं कहला सकते। जो मनुष्य जिस अर्थ का द्रष्टा (परीक्षक—अनुभवकर्त्ता—साक्षात्कर्त्ता) होता है, वह उस अर्थ में **"तत्र भवान्"** कहलाता है। वही उस विषय के निर्णय में प्रमाण माना जाता है। तत्र भवान् का अक्षरार्थ है, **"उस मे आप"**। आप शब्द महत्व का सूचक है। किसी विषय को जानने वाला उस विषय की अपेक्षा से तभी महान् कहला सकता है, जब कि वह उस विषय का साक्षात्कर्त्ता हो। पहुंचवान को ही संस्कृतसाहित्य में **आप्त** कहा जाता है, प्राप्त को ही आप्त कहा जाता है। एक मनुष्य ने आत्मसाक्षात् कर रक्खा है, दूसरे ने शब्दद्वारा सुन भर रक्खा है। दोनों में साक्षात्कार करने वाला ही तत्र भवान् कहा जायगा, एवं आत्मसम्बन्ध में इसी आप्त का उपदेश

सर्वमान्य होगा। आत्मविद्या के साथ ही तत्र भवान् मूलक आप्तभाव का सम्बन्ध नहीं है। अपितु संसार के सभी मनुष्य अपने अपने द्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान की अपेक्षा से तत्र भवान् बनते हुए आप्त हैं, और वे अवश्य ही उन उन विषयों में प्रमाण हैं। कोली, चमार, धोभी, नाई, चोर, वेश्या, डाकू सब अपने अपने विषयों में तत्र भवान् हैं। आप्त शब्द का किसी नियत व्यक्ति, किंवा नियत विषय के साथ ही सम्बन्ध नहीं है। अपितु जो जिस विषय का द्रष्टा है, (चाहे वह किसी जाति का हो) उस विषय में वही आप्त है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए—"आप्तोपदेशः शब्दः" इस गौतमसूत्र का भाष्य करते हुए वात्स्यायन कहते हैं—

> "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्म्मा, यथार्थदृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिः। तया प्रवर्त्तते इत्याप्तः। ऋष्यार्य्यम्लेच्छानां समानं लक्षणं, तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तन्ते" (वा०भा० ... १।१।७) इति।

उक्त द्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान को भी हम दो भागों में विभक्त करेंगे। एक अतीन्द्रियपदार्थद्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान है, दूसरा इन्द्रियसापेक्षपदार्थद्रष्टृत्वलक्षण ज्ञान है। आप्तता दोनों में हीं समान है, परन्तु भगवत्ता में विषमता है। चक्षुरादि इन्द्रियो के प्रयास से जिस ज्ञान का प्रत्यक्ष किया जाता है, वह इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान है। भौतिकप्रपञ्च से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी आविष्कार हैं, सब का इसी से सम्बन्ध है। परन्तु जहां हमारी देहेन्द्रिएं काम नहीं देस कतीं, वहां यह ज्ञान व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। भूत–भविष्यत्–स्वर्ग–नरक–आत्मा-परमात्मा आदि कई पदार्थ अतीइन्द्रिय हैं। इन के सम्बन्ध में भौतिक विज्ञान अवरुद्ध है। यहां केवल तपोमूला योगगजदृष्टि ही सफल होती है। इसी को दिव्यदृष्टि, आर्षदृष्टि आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। यही ज्ञान "भग" कहलाएगा। जो अपनी दिव्यदृष्टि से सर्वथा परोक्ष, एवं इन्द्रियातीत विषयों का साक्षात्कार करने में समर्थ है, उसी का यह ज्ञान अतीन्द्रियपदार्थदृष्टृत्वलक्षण ज्ञान है। यही ज्ञान भग शब्द से अभिप्रेत है। ऐसे ज्ञानी हीं भगवान् कहलाते हैं। इसी दिव्यदृष्टि का स्वरूप बतलाते हुए अभियुक्त कहते हैं—

आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥१॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान्, वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥२॥

तीसरी विद्याबुद्धि ऐश्वर्य्यलक्षणा है । स्वतःसिद्ध, एवं योगसिद्ध अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व इन आठ सिद्धियों की समष्टि ही ऐश्वर्य्य नाम का तीसरा भग है । वस्तुतः इन आठों का ईश्वरसंस्था से ही सम्बन्ध है । बलतत्व को आत्मा, एवं वित्तभेद से दो भागों में बाटा जासकता है । आत्मबल स्वतन्त्रबल है, वित्तबल आश्रित बल है । शरीर चूंकि आत्मा का वित्त है, आत्मा की सम्पत्ति है, अतएव शरीरबल का वित्तबल मे ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है । इन दोनों में आत्मबल ऐश्वर्य है, एवं वित्तबल को श्री कहा जाता है । ईश्वर सम्बन्ध से ही यह आत्मबल ऐश्वर्य नाम से सम्बोधित हुआ है ।

वही ईश्वर छोटे से छोटा कीटाणु बना हुआ है, यही इस का अणिमाभाव है । वही महाविश्व रूप में परिणत होरहा है, यही इसका भूमाभाव है । संसार में जो भारी से भारी पदार्थ है, वह भी ईश्वरीय शक्ति ही है, एवं हलकी से हलकी वस्तु भी वही है । वह एक स्थान पर बैठा हुआ ही सम्पूर्ण पदार्थों को अपनी सीमा में लिए हुए है, यही प्राप्ति-भाव है । वह बाहर भीतर सब स्थानों में यथेच्छ विहार कर रहा है, यही इस का प्राकाम्य भाव है । वह अन्तर्यामी सब का शास्ता बन रहा है, यही इस का ईशित्व है । उस सूत्रा-त्माने अपने नियतिदण्ड से सब को वशवर्त्ती बना रक्खा है, यही इस का वशित्व है ।

जीव न अणु से अणु बन सकता, न महान् से महान् बन सकता । जीवात्मा (मनुष्य) अपनी शक्ति से उतना ही रहता है, जितना कि वल उस के त्रिगुणमहान् में पहिले से नियत रहता है । यदि किसी मनुष्य में यह शक्तिएं जन्मकाल से ही देखीं जातीं हैं तो उसे मनुष्य न कह कर ईश्वर कहा जाता है । यदि किसीने योगप्रक्रियाविशेष से उक्त सिद्धिए

प्राप्त कीं हैं तो उसे **योगी** कहा जाता है।

ईश्वर की इन आठों सिद्धियों का देवयोनियों पर अनुग्रह होता है। यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-पितर-ऐन्द्र-प्राजापत्य-ब्राह्म इन आठों देवयोनियों का निवासस्थान चान्द्रधरातल है। इन में जन्मकाल से ही यह सिद्धिएं विद्यमान रहतीं हैं। मनुष्य भी प्रक्रिया-विशेष से इन्हें प्राप्त कर सकता है, जैसा कि निम्न लिखित निदर्शनो से स्पष्ट है।

१-अणिमा

अणुता को ही अणिमा कहते हैं। इच्छामात्र से छोटे से छोटा शरीर बना लेना अ-णिमा सिद्धि है। योगशास्त्रोक्त मनःसंयमसे यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसी सिद्धि के बल पर पवनपुत्र मारुति (हनुमान) अति सूक्ष्मशरीर बना कर सुरसा के शरीर से बाहर निकलने में समर्थ हुए थे। इसी शरीर से राक्षसों की दृष्टि से बचते हुए उन्होंने लङ्का में सीता का अन्वेषण किया था।

२-महिमा

महिमासिद्धि अणिमा के ठीक विपरीत है। शरीर को यथेच्छ बढ़ा लेना ही महिमा है। चाक्षुप मन्वतर में होने वाले जलप्रलय में मत्स्यरूपधारी भौम विष्णुने इसी के प्रभाव से अति शीघ्र अपना महाविशाल शरीर बना डाला था। इसी शरीर के आश्रित रहने वाली नौका पर बैठकर कतिपय महर्षियों के साथ चाक्षुष मनुने जलौघ (समुद्री तूफान) से त्राण पाया था (देखिए शत. ब्रा. ८।१।१)। इसी के प्रभाव से हनुमान ने सुरसा की शरीर वृद्धि के साथ अपना शरीर बढ़ाया था।

३-गरिमा

शरीर को यथेच्छ भारी बना लेना ही गरिमा है। माता कुन्ती, एवं सती द्रौपदी के साथ पांचों पाण्डव १४ वर्षों के लिए वन में निकल गए थे। परिभ्रमण करते करते यह लोग

एक बार एक ऐसे सरोवर के पास जा निकले, जिसमें एक सुन्दर कमल का पुष्प तैर रहा था। द्रौपदीने लालसा प्रकट की कि मेरे लिए पुष्प और आने चाहिएं। इस नारीहठ के कारण भीम को जाना पड़ा। खोज ही खोज में यह निषध पर्वत पर जा पहुंचे। वहां मारुति पहिले से ही बैठे थे। उन्होने अपने वायुपुत्र भीम के बलाभिमान को दूर करने के लिए इसी गरिमा का आश्रय लिया। हनुमान ने अपना शरीर इतना बोझल बनाया कि दशसहस्र हाथियों के बल का अभिमान करने वाले मोटे ताजे भीम से अल्पकाय मारुति टस से मस न किए जासके। लङ्केश की राजसभा में इसी के प्रभाव से बालिपुत्र युवराज अङ्गद का पैर किसी से स्थानच्युत न हुआ। इसी स्वाभाविक बल के कारण भगवान् कृष्णने महाकाय, एवं महाबलिष्ठ चाणूर जैसे योद्धा को परास्त किया।

४—लघिमा

शरीर को यथेच्छ वायु से भी हलका बना लेना लघिमा है। इससे पार्थिवाकर्षण का कोई असर नहीं रहता। इस सिद्धि को प्राप्त कर लेने वाला मनुष्य विमानादि साधनों के बिना भी आकाश में विचर सकता है। भौमदेवता इसी सिद्धि के आधार पर आकाश में घूमा करते थे। इसी के प्रभाव से हनुमान समुद्रोल्लघन में समर्थ हुए थे। इसी के प्रभाव से परमभागवत नारद आकाश मार्ग में विचरते हुए भगवान् कृष्ण के समीप, एवं अन्यान्य स्थानो पर पहचा करते थे। धारणा—ध्यान—समाधि भेद से योग के तीन अङ्ग माने गए हैं। दीर्घ-काल तक आदर पूर्वक इन तीनों का अभ्यास करते रहने से कालान्तर में तीनो का संयम हो जाता है, यही 'संयम" है। "कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्, लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्" इस पातञ्जल सिद्धान्त के अनुसार शरीर का आकाश के साथ पूर्ण संयम होजाने से शरीर गुरुत्वाकर्षण से विमुक्त होता हुआ तूल (रुई) के समान हलका हो जाता है।

५—प्राप्ति

एक स्थान पर बैठे हुए २००, अथवा अधिक दूर पर स्थित वस्तु को आकर्षण द्वारा

अपने पास मंगा लेना ही प्राप्ति है। पर्वत के शिखर पर फल लग रहे हैं। इस विद्या से सिद्ध योगी भूतल पर खड़े खड़े ही फल खा रहे हैं, यही प्राप्ति है।

६—प्राकाम्य

पृथिवी, जल, तेज, वायु, इत्यादि भौतिक पदार्थों में जो अभिघात होता है, वह इस सिद्धि से हट जाता है। इसके बल से योगी पानी की तरह पृथिवी के अन्तस्तल में प्रवेश कर सकता है, महाकठिन पाषाणादि शिलाओं में प्रविष्ट हो सकता है। चिरकाल पर्यन्त यथेच्छ पानी की गहराई मे रहने पर भी इसका दम नहीं घुट सकता। अग्नि इसे नहीं जला सकता। सात तालों मे नियन्त्रित रहता हुआ भी यह अदृश्य हो सकता है। जरासंध के आकस्मिक आक्रमण होने पर इसी शक्ति के प्रभाव से भगवान् कृष्णने समुद्र मे बसी हुई द्वारिका मे एक दिन के भीतर सब यादवों को पहुंचा दिया था, एवं युद्ध के लिए उसी दिन लौट आए थे। महाराज नल भी इस सिद्धि मे निष्णात थे। प्रासाद का द्वार चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, नत हुए बिना ही नल उनमे प्रवेश कर जाते थे। रिक्त घट उन की दृष्टिमात्र से जलपूर्ण हो जाते थे। काष्ठ स्वतः इच्छामात्र से प्रज्वलित होजाता था। महाराज ऋतुपर्ण के सारथि बने हुए नल जिस समय दमयन्ती स्वयम्वर मे पहुंचे तो महासती दमयन्तीने अपनी दासी केशी को सारथी के पास (उन की जांच करने के लिए) भेजा। कारण इस सन्देह का एकमात्र था ऋतुपर्ण का इतने शीघ्र स्वयम्वर में पहुंच जाना। उसने विचार किया है कि हो न हो, सारथि के रूप में आर्यपुत्र ही हैं। नल ही उस समय रथ हांकने मे महाकुशल माने जाते थे। केशी वहां पहुंचती है, एवं नल के उन अद्भुत चरित्रों को देख कर विस्मित हो जाती है। तुरन्त वापस लौटती है, और दमयन्ती से कहने लगती है—

> ह्रस्वमासाद्य सञ्चारं नासौ विनमते क्वचित् ॥
> तं तु दृष्ट्वा यथासङ्गमुत्सर्पति यथासुखम् ॥१॥
> संकटेऽप्यस्य तु महान् विवरो जायतेऽधिकः ॥
> तस्य मज्जनार्थाय कुम्भस्तत्रोपकल्पिताः ॥२॥

ते तेनावेक्षिताः कुम्भाः पूर्णा एवाभवस्ततः ॥
तृणमुष्टिं समादाय सवितुस्तं समादधत् ॥३॥
अथ प्रज्वलितस्तत्र सहसा हव्यवाहनः ॥
तदद्भुतं दृष्ट्वा विस्मिताहमिहागता ॥४॥

(म०भा०वनपर्व ७५ अ०)।

७—ईशित्व

अलौकिक कर्म्म करने योग्य प्राप्त शक्तिविशेष ही ईशित्व है। अणिमादि सिद्धियों को दूसरों में डाल देना ही ईशित्व है। इसी ईशित्व के प्रभाव से भगवान् कृष्ण ने लघिमा प्रवेश से गोवर्द्धन पर्वत को हलका बना कर उसे कन्दुक की तरह अपनी अगुली पर उठा लिया था, द्वारिका में बैठे बैठे हुए ही द्रौपदी का चीर बढ़ा दिया था। अदृश्य होजाना भी इसी सिद्धि के अन्तर्भत है।

८—वशित्व

अपने से प्रबल बलशाली को भी वश में कर लेना वशित्व है। इसी सहज सिद्धि के प्रभाव से कृष्ण कालियदह में कूद पड़े थे, एवं विषधर सर्पों का दमन कर डाला था। इसी सिद्धि के प्रभाव से महर्षियों के तपःपूत पवित्र आश्रमों में हिंसक पशु परस्पर में अभिन्न मित्र बने रहते थे।

———o———
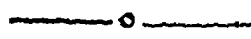
चौथी विद्याबुद्धि धर्म्मलक्षणा है। प्राकृतिक नित्य नियमों की समष्टि ही धर्म्म है। धर्म्म ही वस्तुस्वरूप की प्रतिष्ठा है। महर्षियों नें इस वर्णमूलक नित्यधर्म्म के आधार पर सुप्रसिद्ध वर्णाश्रमधर्म्म की व्यवस्था की है। वे ही व्यवस्थाशास्त्र धर्म्मशास्त्र नाम से व्यवहृत हुए हैं। जिस व्यक्ति की जन्मकाल से ही धर्म्म की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, जिस के जीवन की प्रत्येक क्रिया स्वत एवं धर्म्मपथ का अनुसरण करती हो, वही परमधर्म्मिष्ठ कहलाता है। ऐसी स्वाभाविक धर्म्मवृत्ति ही भग कहलाती है। जब तक धर्म्मरक्षा है, तभी तक धर्म्मी की स्वरूपरक्षा है। धर्म्मीद्वारा धारण किया हुआ धर्म्म धर्म्मी को धारण करता है। धर्म्म का यदि परित्याग कर दिया जाता है तो वह

परित्यक्त धर्म्म उस धर्म्मी का विनाश कर डालता है। इसी अभिप्राय से व्यासदेव कहते हैं—

> यो धृतः सन् धारयते स धर्म्म इति कथ्यते ।
> धर्म्म एव हतो हन्ति धर्म्मो रक्षति रक्षितः ॥

५—यश

पाचवां भाग यश है। यद्यपि इस का बुद्धियोग के साथ सम्बन्ध नहीं है, तथापि भगवत्ता-स्वरूप सम्पादन में इस का अवश्य ही उपयोग होता है। यश एक प्रकार का सौम्य प्राण है। इस का प्रभव चन्द्रमा है। चन्द्रमा के रेत, श्रद्धा, यश यह तीन मनोता माने गए हैं। जिस की अध्यात्मसंस्था में यह चान्द्र यशःप्राण जन्म से प्रतिष्ठित रहता है, वही लोक में यशस्वी होता है। हम देखते हैं कि कितनें हीं व्यक्ति बड़े बड़े उत्तम कार्य करते हैं, परन्तु उन्हें यश नहीं मिलता। यही नहीं, कभी कभी तो इन कर्म्मठों को पुरस्कार में अपयश भी मिल जाता है। उधर कितनें हीं व्यक्ति ऐसे भी हैं, जिन्हें बिना कारण, अथवा साधारण कारण से भी यश मिल जाता है। इसी आधार पर हमें मानना पड़ता है कि यश का अवश्य ही प्रकृति से सम्बन्ध है। जिस में यशःप्राण होगा, वही लोक में यशस्वी होगा। जिस में यशःप्राण न होगा, वह यशःप्राप्तिसाधक कर्म्म करता हुआ भी अपयश का ही भागी बनेगा।

६—श्रीः

श्री नाम के भग का पृथिवी के साथ सम्बन्ध है। शारीरकान्ति ही श्री है। शरीर का उपादान पृथिवी है। यहीं से श्री का विकास होता है। शरीर की अतिशय सुन्दरता ही श्रीभाव है। इस भग का भी बुद्धियोग के साथ सम्बन्ध नहीं है। यश और श्री इन दोनों का सम्बन्ध बुद्धियोग के साथ क्यों नहीं है? इस की मीमांसा आगे आने वाले बुद्धियोग प्रकरण में देखनी चाहिए।

अभी इस सम्बन्ध में-हमें यही कहना है कि जिस में उक्त भगसम्पत्तिएं जन्मकाल से विना प्रयास के स्वतः विद्यमान रहतीं हैं, वह मानव शरीरधारी होता हुआ भी भगवान् कहलाता है।

अब देखना हमें यह है कि कृष्ण में भगवत्व सम्पादक उक्त भग थे, अथवा नहीं। सबसे पहिले क्रमप्राप्त वैराग्य को ही लीजिए। जिस आचार्यने वैराग्यबुद्धियोगमूला राजर्षि-विद्या के उपदेश से अर्जुन को राग-द्वेष रहित बना डाला, वह स्वय कैसा होगा, यह विचार ही व्यर्थ है। "नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि" यही वाक्य वैराग्यभग का सूचक है। वे चाहते तो एक महासाम्राज्य का निर्म्माण कर सकते थे, परन्तु नहीं। उन्होंने ऐसीं राज्य-लिप्सा की कभी वासना भी न की। कंस का साम्राज्य उन की निजी सम्पत्ति हो गई थी, परन्तु उन्होंनें क्या किया, यह सर्वविदित है।

यही अवस्था ज्ञान की थी। जब कृष्ण की ज्ञानशक्ति की ओर दृष्टि जाती है तो हमें स्तब्ध रह जाना पड़ता है। ज्ञान भग के सम्बन्ध में गीताशास्त्र ही पर्याप्त प्रमाण है। जिस गीताशास्त्र का मन्थन करते करते विद्वान् थक गए हैं, जो गीताशास्त्र समस्त विश्व का आराध्य देव बन रहा है, उस के उपदेष्टा के ज्ञान की मीमांसा करना अपने आप को प्रायश्चित्त का भागी बनाना है।

ऐश्वर्य के सम्बन्ध में भी विशेष वक्तव्य नहीं है। ऐश्वर्य्ययोग के प्रथम प्रवर्त्तक भगवान् शङ्कर जहां योगेश्वर कहलाते हैं, वहा इस योग के परमाचार्य कृष्ण योगीश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं। योगाचार्य शङ्कर थे तो योगियों के आचार्य कृष्ण थे। बाल्यावस्था में समय समय पर भगवान् ने अपने इस ऐश्वर्यभाव को प्रकट किया है। दुर्योधन की राजसभा में दूतावस्था में इसी योग का दिग्दर्शन हुआ है। जयद्रथवध के सम्बन्ध में भक्त अर्जुन की प्रतिज्ञा रक्षा के लिए इसी योग का आश्रय लिया गया है। विराट्स्वरूपप्रदर्शन भी इसी योग का सूचक है।

इसी प्रकार धर्म्म के भी कृष्ण महापक्षपाती हैं। वर्णाश्रममूलक धर्म्म, एवं प्रतिपादक धर्मशास्त्र दोनों के यह अनन्य भक्त हैं। "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते०" इत्यादि रूपसे बड़े आवेश के साथ भगवान् ने अपनी धर्मनिष्ठा प्रकट की है।

यश और श्रीभाव भी स्पष्टतम हैं। पाण्डव विजय का श्रेय किसे मिला, उग्रसेन की राज्य पुनरावृत्ति के यश के भागी कौन थे। बाल, वृद्ध, युवा, आदि सभी अवस्था के प्राणी किस की सरसमाधुरी से मोहित थे। इस प्रकार कृष्ण में हमें ६ ओं भगों की पूर्ण व्याप्ति मिल रही है। अतएव हम अवश्य ही इन्हें भगवान् कह सकते हैं। भगवान् ही नहीं, अपितु कृष्ण को अच्युतभगवान् कहा जासकता है।

यश एवं श्री के दिग्दर्शन के साथ साथ चतुर्विध विद्याबुद्धियोग का दिग्दर्शन कराया गया। अब क्रमप्राप्त चतुर्विध अविद्याबुद्धियों पर भी एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा। पाठक यह न भूले होगे कि सूर्य में अमृत-मृत्यु नामक दोनों भावों का समावेश है। इनमें से अमृतभाग ही उक्त चतुर्विध विद्याबुद्धियों का स्वरूप सम्पादक है। इस सूर्य्य में जितना सा मर्त्यभाग है, वही चतुर्विध अविद्या बुद्धियों का स्वरूप सम्पादक है। वैराग्य का प्रतिद्वन्द्वी राग-द्वेष है, ज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी संमोह है, ऐश्वर्य का प्रतिद्वन्द्वी अस्मिता है, एवं धर्म का प्रतिद्वन्द्वी अभिनिवेश है। जिस प्रकार विद्याबुद्धिचतुष्टयी, किंवा ६ शक्तियों में "भग" शब्द निरूढ है, एवमेव इस अविद्याबुद्धिचतुष्टयी में "योगमाया" शब्द निरूढ है। महामाया से नित्य युक्त रहने के कारण ही इस हरिमाया को योगमाया कहा जाता है। नानाभाव मृत्युभाव है, जैसा कि—"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" (कठोप० ४।१०) इत्यादि श्रुति से स्पष्ट है। योगमाया ही नानाभावरूप मृत्युभाव की प्रतिष्ठा है। मृत्युतत्व ही पूर्वकथनानुसार अविद्याबुद्धियों का जनक है। अतएव मृत्युप्रधान इस अविद्याचतुष्टयी को हम अवश्य ही "योगमाया" शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। "योगमाया हरेश्चैतत् तया संमोह्यते जगत्" (सप्तशती) इस स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार यही योगमाया मृत्युलक्षण मोह की प्रवर्त्तिका मानी गई है।

योगमाया और भग दोनो प्रतिद्वन्द्वीभाव हैं। होता यह है कि योगमाया की कृपा से बुद्धि का एकत्वलक्षण व्यवसाय धर्म उच्छिन्न हो जाता है। नानालक्षण अविद्या के समावेश से बुद्धि अनेक शाखाओं में परिणत हो जाती है। यही इस बुद्धि का बहुशाखालक्षण अव्यव-

साय है। इस अध्यवसाय से व्यवसायात्मिका एक बुद्धि का विकास दब जाता है। फलतः बुद्धिसंश्लिष्ट अमृतात्मा का विद्याभाग परशक्तियों से नित्य संपन्न रहता हुआ भी प्रकाशित नही रहता। इसीलिए साधारण मनुष्य व्यामोह में पड़ते हुए कर्तव्याकर्तव्य विवेक से च्युत होजाते हैं। यही इनके दुःख का मूल कारण है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं ततम्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ (गी० ७।१३)।

ठीक इसके विपरीत भग नाम के चतुर्विध विद्याबुद्धियोग के उदय से अविद्याबुद्धिएं पलायित हो जातीं है। अविद्या आवरण के हटते ही बुद्धि में स्वस्थता उत्पन्न हो जातीं है। बुद्धि के समभाव में परिणत होते ही आत्मा के विद्याप्रकाश का बुद्धि पर अनुग्रह हो जाता है। यही इस का आत्मसाक्षात्कार है, यही भगसम्पत्ति की प्राप्ति है, यही इस की भगवत्ता है। भगशाली बनते ही वे अनन्त आत्मशक्तिएं अपने आप प्रकट होकर इस भगवान् को सर्वज्ञ बना डालतीं हैं। इसी भगलक्षणा सर्वज्ञता से यह अतीत अनागत सब कुछ जान लेता है। उत्पत्ति, प्रलय, आगति, गति, विद्या, अविद्या सब कुछ इसके लिए प्रत्यक्षवत् हो जाते हैं। इसे अपने पूर्वजन्मों का पूर्ण परिज्ञान हो जाता है, यही जातिस्मरता है। इसी आधार पर भगवान् ने अर्जुन के "अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः" यह जिज्ञासा करने पर—"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप" यह समाधान किया है। विदितवेदितव्य इसी भगवान् का लक्षण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्तिविद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

भगवान् किसे कहा जाता है ? इस प्रश्न का समाधान हो चुका। अब प्रकृत विषय के साथ उक्त समाधान का समन्वय कीजिए। विवाद इस समय बुद्धियोगनिष्ठा सम्बन्धी वैराग्य, ज्ञान,

ऐश्वर्य, धर्म्म इन चार भागों पर अवलम्बित हैं। हमारे वासुदेवकृष्ण में इन चारों भगों का विकास था, अतएव इन्हे भगवान् माना गया। अपने कर्म्मात्मा को बुद्धियोग द्वारा प्रत्यगात्मलक्षण अव्यय में प्रतिष्ठित करते हुए समभाव में परिणत कर लेना ही अच्युतभाव है। "अव्ययात्मनिष्ठत्वमच्युतत्वम्" इस लक्षण के अनुसार अव्ययात्मनिष्ठा ही अच्युतनिष्ठा है। वस्तुतस्तु अच्युतभाव का "बुद्धियोगनिष्ठत्वमच्युतत्वम्" यही लक्षण समझना चाहिए। कारण इस का यही है कि विना बुद्धियोगनिष्ठा के समतालक्षणयोग का उदय नहीं होता, एवं विना समता के आत्मा के अच्युत धर्म्म का विकास नहीं होता। फलतः बुद्धियोगनिष्ठा को ही अच्युतभाव के प्रति कारणता सिद्ध होजाती है।

जब अच्युतभाव का बुद्धियोगनिष्ठा के साथ सम्बन्ध है तो एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। वेदव्यास-कपिल-कणादादि महर्षियों को भी इस दृष्टि से अच्युतभगवान् कहा जाना चाहिए। क्योंकि वैराग्य-ज्ञान ऐश्वर्य-धर्म्म इन चारों बुद्धियोगनिष्ठाओं में से इन महर्षियों में अवश्य ही एक एक दो दो बुद्धिनिष्ठाएं विद्यमान थीं। जब कि इन में बुद्धियोगनिष्ठा थी, एवं बुद्धियोगनिष्ठा ही अच्युतप्राप्ति का कारण है तो ऐसी दशा में हम अवश्य ही इन्हे भी अच्युतभगवान् कह सकते हैं। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण में हमें केवल यही बतलाना है कि अच्युत शब्द चारों भगों में ही योगरूढ़ है। कीचड़ में सैकड़ो वस्तुएं उत्पन्न होतीं हैं, परन्तु पङ्कज केवल कमल ही कहलाता है। इसी प्रकार बुद्धियोगनिष्ठा के कारण सभी भगवानों के अच्युत रहने पर भी, अच्युत वही कहलाता है, जिस में कि चारों बुद्धियोग होते हैं।

वस्तुतस्तु विना चारो बुद्धियोगों की समष्टि के अच्युत भगवत्त्व उत्पन्न ही नहीं होता। कारण इस का यही है कि चार क्लेश अव्ययात्मा की च्युति के मूलकारण हैं। जब तक चारों में से एक भी क्लेश रहेगा, तब तक पूर्णरूप से अच्युतभाव का उदय न होगा। पूर्णता में ही हृदयभाव का विकास सम्भव है, हृदयप्रतिष्ठा ही पूर्ण समता की प्रवर्त्तिका है, पूर्णसमता ही अच्युतभाव की जननी है। यदि चारों में एक बुद्धियोग है तो एक दोष हटेगा। शेष दोष ज्यों के त्यो नहीं तो आंशिकरूप से अवश्य रहेगे। जब तक दोषों का प्रत्यंश भी विद्यमान है, तब तक एक देश में

अच्युतभाव के आजाने पर भी पूर्णअच्युतत्व असम्भव है। पूर्णता तो चारों निष्ठाओं की समष्टि पर ही अवलम्बित है। ऐसी दशा में हम उसे ही एकमात्र अच्युत भगवान् कहेंगे, जिस में कि चारों निष्ठाओं का जन्मकाल से ही पूर्ण विकास होगा। वेदव्यासादि में एक एक दो निष्ठाएं हीं थीं, अतएव वे केवल भगवान् कहलाए, परन्तु कृष्ण में चारों का पूर्ण विकास था, अतएव वे अच्युतभगवान् कहलाए। इतर भगवानो की अपेक्षा कृष्ण की भगवत्ता में यही विशेषता है।

स्वयं वेदव्यासादि भगवानो ने-"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" यह कहते हुए कृष्ण की अच्युतभगवत्ता स्वीकार की है। कृष्ण में चारों भग थे, यह तो विशेषता है ही। परन्तु इस के साथ ही सब से बड़ी विशेषता यह है कि उक्त चारों बुद्धियोगों का स्वरूप सब से पहिले कृष्ण ने ही संसार के सामने रक्खा है। इसीलिए इन्हे अच्युतभगवान् के साथ साथ जगद्गुरू भी माना गया है-(कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्)। अच्युतभगवत्व ही महापुरुषभाव का द्योतक है। यह जीव की अपेक्षा विलक्षण धर्म्म है।

विद्यासमुच्चित कर्म्म के तारतम्य से जीव की सात संस्थाएं हो जातीं हैं। अग्नि-वायु-इन्द्र इन तीनों के तारतम्य से कर्म्मप्रधान खनिज, उद्भिज्ज, जीवज भेद से असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, ससंज्ञ नाम की तीन जीवसंस्थाएं प्रकट होतीं हैं। अग्नि का कर्म्म से सम्बन्ध है, एवं अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों एक ही अग्नि की घन-तरल-विरल नाम की तीन अवस्थाएं हैं। अतः इन तीनो जीवसंस्थाओ को हम कर्म्मप्रधान कहने के लिए तय्यार हैं।

उक्त तीनों जीवसंस्थाओं में से ससंज्ञ नाम की तीसरी संस्था के कर्म्मात्मसंस्था, चिदात्मसंस्था, ईश्वरसंस्था भेद से अवान्तर तीन विभाग होजाते हैं। इन तीनों में कर्म्मात्मसंस्थ ससंज्ञ जीव कर्म्मप्रधान है, चिदात्मसंस्थ ससंज्ञभाव उभय (विद्या-कर्म्म) प्रधान है, एवं तीसरा ईश्वरसंस्थ ससंज्ञभाव विद्या प्रधान है।

तीनों में से ईश्वरसंस्थ ससंज्ञभाव पुनः ऊर्क्संस्थ, श्रीसंस्थ, एवं विभूतिसंस्थ भेद से तीन भागों में विभक्त है। यह तीनों ही आत्मविवर्त्त विद्याप्रधान हैं।

सप्तसंस्थो जीवः

(१) १—वैश्वानराग्निसंस्थः—असंज्ञः—खनिजः——→कर्म्मप्रधानः (९)।
१.—(२) २—तैजसवायुसंस्थः——अन्तःसंज्ञः—उद्‌भिज्जः——→कर्म्मप्रधानः (८)।
(३) ३—प्राज्ञात्मरुपेन्द्रसंस्थः—ससंज्ञः—जीवजः————→कर्म्मप्रधानः (७)।

———०———

(३) १—कर्म्मात्मसंस्थः———→.............. ४ कर्म्मप्रधानः (६)।
२—(४) २—चिदाभाससंस्थः——→विद्याप्रधानः ५ कर्म्मप्रधानः (५)।
(५) ३—ईश्वरसंस्थः————→विद्याप्रधानः ४ .... (४)।

———०———

(५) १—ऊर्क्संस्थः————→विद्याप्रधानः ३..............(३)।
(६) २—श्रीसंस्थः————→विद्याप्रधानः २..............(२)।
(७) ३—विभूतिसंस्थः———→विद्याप्रधानः १..............(१)।

———०———

जिन जीवात्माओं में ऊर्क्—श्री—विभूतिरूप ५ वां, ६ठा, ७ वां भाग विकसित रहता है, वे जीवात्मा ईश्वरांश माने जाते हैं। यही इन की अलौकिकता है। ऐसे ही व्यक्ति अव्ययपुरुष के आंशिक विकास के कारण के महापुरुष कहलाते हैं, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ (गीता० १०।४१)।

अपने एक ही रूप से अनेक आत्मस्वरूपों में व्याप्त रहना ही ईश्वर का विभूतिभाव है। इस विभूति सम्बन्ध से महामायावाच्छिन्न विश्वेश्वर अव्यय योगमायावच्छिन्न जीवात्माओं के साथ उसी प्रकार युक्त हो रहा है, जैसे कि एक ही सूर्य्य योगमायावच्छिन्न अपने यच्च यावत् प्रतिविम्बों के साथ आतपद्वारा विभूति सम्बन्ध से व्याप्त रहता है। भगवान् कृष्ण सत्यात्मा के अवतार थे, अत-

६—गीताशब्दरहस्यम्

यह उपनिषत् भगवान् के द्वारा कही कई है । कृष्ण ही अव्ययात्मप्राप्तिसाधनभूता बुद्धियोगनिष्ठा के प्रथम द्रष्टा हैं । इस प्रथमद्रष्टृत्वलक्षण दृष्टि के सम्बन्ध से हम अवश्य ही इस उपनिषत् को ''भगवद्गीतोपनिषत्'' (भगवता श्रीकृष्णेन गीता कथिता-उक्ता-प्रोक्ता-उपनिषत्-भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा कही गई उपनिषत्) इस नाम से सम्बोधित कर सकते हैं ।

ईश्वर प्रपञ्च ब्रह्म—कर्म्म भेद से दो भागों में विभक्त है । इन में ब्रह्मतत्त्व के भी तीन विवर्त्त है, एवं कर्म्मतत्व की भी तीन शाखाए है । अव्ययपुरुष, अक्षरपुरुष, क्षरपुरुष यह तीन ब्रह्म हैं, किंवा एक ही ब्रह्म के तीन रूप हैं । वैशेषिक दर्शन ने क्षरब्रह्म का निरूपण किया है, साख्यदर्शन ने अक्षरब्रह्म का निरूपण किया है, एवं वेदान्तदर्शन ने अव्ययगर्भित अक्षरब्रह्म का निरूपण किया है । किसी शास्त्र ने विशुद्ध अव्यय का निरूपण नहीं किया है । इस कर्त्तव्य की पूर्त्ति गीताशास्त्र ने हीं की है । जिस अव्यय को कोई नहीं जानता था, जानता था तो तटस्थ बुद्धि से, गीता ने उसे ही अपना मुख्य लक्ष्य बनाया है । अव्यय का प्रथमद्रष्टा गीताशास्त्र ही है ।

इसी प्रकार कर्म्मतत्व के ज्ञानयोग (निवृत्तकर्म्मयोग), कर्म्मयोग (प्रवृत्तिकर्म्मयोग), भक्तियोग (उभययोग) तीन विभाग हैं । इन तीनों से सर्वथा विलक्षण एक चौथा बुद्धियोग है। प्राचीन शास्त्रों की ज्ञानसीमा उक्त तीनों योगो पर ही विश्रान्त है । सांख्यदर्शन ने ज्ञानयोग का प्रतिपादन किया है, योगदर्शन ने कर्म्मयोग का प्रतिपादन किया है, एवं शाण्डिल्य दर्शन नें बुद्धियोग का प्रतिपादन किया है । परन्तु बुद्धियोग गीता के पहिले स्मृतिगर्भ में ही विलीन रहा-है । बुद्धियोग के प्रथमद्रष्टा श्रीकृष्ण ही हैं । इस योग में ज्ञान—कर्म्म—भक्ति तीनों का समन्वय है, जैसा कि आगे के प्रकरणों से स्पष्ट होगा । इस प्रकार ब्रह्मविवर्त्त का अव्ययविवर्त्त, एवं कर्म्मविवर्त्त का बुद्धियोग विवर्त्त इन दोनों को संसार के सामने रखने का एकमात्र श्रेय कृष्ण को ही है । अव्ययब्रह्म, एवं बुद्धियोग प्रतिपादक गीताशास्त्र भगवान् की अपनी सम्पत्ति है, अपना मत है । गीता उच्छिष्ट शास्त्र नहीं है, अपितु नवीनशास्त्र है । स्वयं भगवान् ने अपने मुख से यह घोषणा की है कि गीता मेरा मत है देखिए !

एव उस सत्यात्मा की तरह यह भी सर्वलोकसाक्षी बनते हुए विभूति सम्बन्ध से जीवमात्र में व्याप्त थे। इस दृष्टि से अवश्य ही इन्हें ईश्वर कहा जासकता है। इसी विभूतिभाव का दिग्दर्शन कराते हुए द्वैपायन कहते हैं—

> गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
> योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥१॥
> अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः॥
> भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥२॥
>
> (श्रीमद्भागवत् १०।३३)।

वैराग्य–ज्ञान–ऐश्वर्यादि ६ प्रकार के भगों की समष्टि ही श्रीतत्व है। यह छओं भाव भी श्रीकृष्ण में पूर्णरूप से विद्यमान थे, जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है। इतर साधारण आत्माओं की अपेक्षा जो आत्मा असाधारण बल से युक्त रहता है, वही सर्वातिशयभावयुक्त आत्मबल उर्कूबल है। भगवान् कृष्ण में यह उर्कूबल भी पूर्णरूप से विद्यमान था। इन सब कारणों से भगवान् कृष्ण का अच्युतभगवत्त्व भलीभाति सिद्ध होजाता है। इसी अलौकिक भाव के कारण श्रीकृष्ण ईश्वरवत् उपास्य मान गए। इसी विशेषता के कारण इतर भगवानों की अपेक्षा इनका विशेष महत्व माना गया। इसी विशेषता को सूचित करने के लिए गीताशास्त्र के साथ भगवत् शब्द का सम्बन्ध जोड़ा गया। इसी वैशिष्टय के कारण गीताशास्त्र भगवद्गीतोपनिषद् नाम से प्रसिद्ध हुआ। सभी ताल ताल हैं, परन्तु भूपालताल ही ताल कहलाता है। ठीक यही बात यहां समझिए। अनेक भगवान् हैं, परन्तु उनके सामने कृष्ण की भगवत्ता चतुर्विध बुद्धियोग के कारण सर्वश्रेष्ठ बन गई। इन की भगवत्ता के सामने व्यासादि की भगवत्ता नीची श्रेणि में ही रह गई। फलतः ओर किसी भगवान् का शास्त्र भगवत् नाम से व्यवहृत न होकर केवल गीताशास्त्र ही भगवत् नाम से सम्बोधित हुआ। भगवद्गीता क्यों भगवद्गीता कहलाती है? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

इति भगवच्छब्दरहस्यम्।

१

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः ॥ (गीता० ३।३१।)

प्रकारान्तर से विचार कीजिए। भगवान् ने "ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति" कह दिया, इसलिए हम आंख मीच कर गीता को अपूर्वशास्त्र मानलें, यह ठीक नहीं हैं। शास्त्रान्वेषण द्वारा आप को यह निश्चय करना चाहिए कि क्या वास्तव में गीता से अतिरिक्त अन्य दर्शनों में अव्ययब्रह्म, एवं बुद्धियोग का निरूपण नहीं है। हमारे विचार से पर्य्याप्त परिश्रम करने के पीछे आप को भी इसी निश्चय पर पहुंचना पड़ेगा कि सचमुच इस सम्बन्ध में गीता अद्वितीय शास्त्र है।

यदि पाठक अवधान पूर्वक विचार करेंगे तो उन्हें इस विश्व में, एवं विश्वरहस्यप्रतिपादक शास्त्रों में ब्रह्मविद्या, एवं कर्मचर्या इन दो भावों के अतिरिक्त तीसरी वस्तु का आत्यन्तिक अभाव ही मिलेगा। ससार में या तो कुछ जाना जाता है, अथवा कुछ किया जाता है। "जाना जाता है" यह वाक्य ब्रह्म का सूचक है। "किया जाता है" यह वाक्य कर्म का द्योतक है। ब्रह्म–कर्म के अतिरिक्त, दूसरे शब्दों में ज्ञान–क्रिया के अतिरिक्त वास्तव कुछ नहीं है। "ज्ञायते–क्रियते, किञ्चित्–ज्ञायते, किञ्चित्–क्रियते, कुछ जाना जाता है–कुछ कुछ किया जाता है" इस ज्ञान–क्रिया की पारम्परिक धारा के अतिरिक्त सचमुच अन्य वस्तु का अभाव सा ही है।

ब्रह्म का ज्ञान होसकता है, चर्य्या नहीं। कर्म की चर्य्या सम्भव है, ज्ञानभाव मे परिणति नहीं। ब्रह्म का विद्या से सम्बन्ध है, कर्म का योग से सबन्ध है। ब्रह्म ब्रह्मविद्या है, कर्म्म योग है। पूर्व कथनानुसार ब्रह्मविद्या के भी अव्यय–अक्षर–क्षर नाम के तीन विवर्त्त हैं, एवं योगचर्या के भी ज्ञान–कर्म्मों–पासित नाम के तीन विवर्त्त हैं। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जासकता है कि ब्रह्म ज्ञानात्मा है, कर्म्म कर्मात्मा है। ज्ञानात्मा भी तीन हैं, कर्म्मात्मा भी तीन हैं। प्रत्येक वस्तु ब्रह्म–कर्म्ममय है। इन दोनों के ६ विवर्त्त हैं। इसी आधारपर "षाट्कौशिकमिदं सर्वम्" यह अनुगम प्रसिद्ध है।

गीताशास्त्र से पहिले उक्त तीन ज्ञानात्माओं में से क्षरात्मा, एवं अक्षरात्मा का ही प्राधान्य था, अव्ययात्मा सर्वथा निगूढ बना हुआ था। कर्मात्माओं के सम्बन्ध में सांख्य नाम से प्रसिद्ध ज्ञानयोग, योग नाम से प्रसिद्ध कर्म्मयोग ही प्रचलित थे। भक्तियोग क्वाचित्क बना हुआ था। एक दल कहता था ज्ञान प्राप्त करो, जानो, करो मत। दूसरा दल कहता था कर्म करो, ज्ञान के लिए प्रयास व्यर्थ है। परन्तु गीताशास्त्रने–'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'' कहते हुए ज्ञानगर्भित कर्मयोग का स्वरूप सर्वप्रथम संसार के सामने रक्खा। यही योग बुद्धियोग नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस अपूर्व योग के साथ साथ भगवान् ने ज्ञानात्माओं में से अव्ययात्मा का स्वरूप भी हमारे सामने रक्खा। प्राचीनोंने जहां अक्षर पर ही विश्राम मान लिया है, वहां गीता अव्यय की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है। और और शास्त्रों की तरह गीता केवल सिद्धान्त बतलाकर ही चुप नहीं हो जाती। अपितु उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप भी गीता हमारे सामने रखती है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि इतर आत्मविद्याशास्त्र केवल सिद्धान्त बतलाते हुए जहां दर्शनशास्त्र हैं, वहां गीताशास्त्र सिद्धान्तों के साथ साथ उनका व्यावहारिक स्वरूप बतलाने के कारण विज्ञानशास्त्र है। अव्ययात्मा विद्यामय है। विद्याएं चूंकि वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्मभेद से चार हैं, अतएव तत्सम्बन्ध से विद्याबुद्धिए भी चार ही भागों में विभक्त हो जातीं हैं। इन चार बुद्धियोगनिष्ठाओं से अव्यय का विद्याभाग प्रसन्न होता है, अतएव इन्हे विद्याबुद्धि कह दिया गया है।

उक्त दिग्दर्शन से प्रकृत में हमें यही कहना है कि अव्ययपुरुषलक्षणा ब्रह्मविद्या, एवं बुद्धियोगलक्षणा योगचर्या इन दोनो के श्रीकृष्णोपज्ञ होने से, एवं इन्हीं के उपदेशप्रभाव से लोक में प्रचलित होने से हम अवश्य ही इसे भगवान् की गीता कह सकते है। भगवान् ही इसके द्रष्टा हैं, भगवान् ही इसके वक्ता हैं। उपज्ञ शब्द का अर्थ है उपक्रम। प्रथमारम्भस्थल को ही उपज्ञ कहा जाता है। पाणिनीय व्याकरण का प्रथमारम्भ पाणिनि से हुआ है, अतएव व्याकरण शास्त्र पाणिन्युपज्ञ कहलाता है। द्रोण नामके परिमाण (तोल) विशेष के प्रवर्त्तक महाराज नन्द थे। अतएव द्रोणपरिमाण लोक में नन्दोपज्ञ कहलाया है। अव्यय

ब्रह्म, एवं बुद्धियोग का प्रथमारम्भ कृष्ण से ही हुआ था, अतएव उन के इस गीताशास्त्र को अवश्य ही कृष्णोपज्ञ कहा जासकता है।

इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति उपस्थित होती है। साथ ही में वह विप्रतिपत्ति ऐसी है, जिस का निराकरण करना कठिन हीं नहीं, अपितु असम्भव है। पूर्व में यह कहा गया है कि भारतवर्ष में जितने भी दर्शनग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें किसी में भी अव्ययब्रह्म का, एवं बुद्धियोग का विश्लेषण उपलब्ध नहीं होता। अवश्य ही दर्शनशास्त्रो के सम्बन्ध में उक्त हेतु-वाद का आदर किया जासकता है। परन्तु वेद के अन्तिम भागरूप उपनिषच्छास्त्र के सम्बन्ध मे यह अपूर्णता किसी भी दृष्टि से घटित नहीं होती। उपनिपदो में, न केवल उपनिपदों में हीं, अपितु आरण्यक, ब्राह्मण, नाम से प्रसिद्ध इतर विधिभाग में, एवं संहिताभाग में भी अव्ययनिष्ठा का निरूपण हुआ है। बुद्धि ही अव्ययात्मसाक्षात्कार का उपाय है, इसीका नाम बुद्धियोग है। इस बुद्धियोग-सम्पत्ति से भी वैदिक साहित्य वञ्चित नहीं है। तभी तो भगवान् मनु की-"सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" यह सूक्ति चरितार्थ होती है। "शास्त्रीय, एवं लौकिक अमुक विषय वेद में नहीं है" यह कहना वेद की पूर्णता पर व्याघात करना है। प्रकृत में हम कुछ एक ऐसे वचन उद्धृत करेंगे कि जिनसे पाठक यह अपने आप निर्णय कर लेंगे कि वेद में अव्ययब्रह्म का, एवं बुद्धियोग का निरूपण हुआ है, अथवा नहीं। पहिले क्रमप्राप्त संहिताभाग को ही लीजिए।

१—वि यस्तस्तम्भ पळिमा रजांस्य जस्य रूपे किमपि स्विदेकम। (ऋक्सं० १।१६४)।

२—स न ऊर्जे-अव्ययं-पवित्रे धाव धारया। (ऋक्० ६।६६।४)।

३—पुनानो रूपे अव्यये विश्वा अर्षन्नभिश्रियः। (ऋक्० ६।१६।२)।

४—यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति,

य आविवेश भुवनानि विश्वा। (यजुः ८।३६)।

५—धियो यो नः प्रचोदयात्। (यजुःसं०)।

६—पुरुष एवेदं सर्वम् (यजुःसं०)।

———०———

पर-अज-अव्यय यह सब शब्द अव्यय के वाचक हैं, एवं धी शब्द बुद्धि का सूचक है। संहिता में दोनों का ही निरूपण हुआ है। यही अवस्था ब्राह्मण भाग की है, जैसा कि निम्न-लिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है।

१—ब्राह्मण—१—ब्रह्म वा अजः (शत० ६।४।४।१५)।

२—पुरुषो हि प्रजापतिः (शत० ७।४।१।१५)।

३—यन्न व्येति तदव्ययम् (गो० ब्रा० पू० १।२६)।

२—आरण्यक—१—स एष पुरुषः समुद्रः (ऐ० आ० २।३।३)।

२—तद्योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्। (ऐ० आ० २।२।१)।

३—उपनिषत्—१—अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः।

२—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

३—दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।

४—परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।

५—परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति।

६—पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।

७—विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।

८—तमेव विदित्वातिमृत्युमेति।

९—ततस्तु तं निष्कलं ध्यायमानः।

१०—तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः।

११—यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

१२—तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

१२—अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ।

निदर्शनमात्र है । वैदिक साहित्य में, विशेषतः आत्मोपज्ञ उपनिषच्छास्त्र में पद पद पर पर—अज—पुरुष—अव्ययादि रूप से अव्ययब्रह्म का, एवं विज्ञानद्वारा बुद्धियोग का निरूपण उपलब्ध होता है । ऐसी दशा में तत्प्रादिक गीताशास्त्र को किसी भी दृष्टि से श्रीकृष्णोपज्ञ नहीं माना जासकता । भगवान् ने वेदसिद्ध विषय का ही अपने शब्दों में निरूपण किया है । गीता में जिन विषयों का निरूपण हुआ है, वे वेदशास्त्रसिद्ध हैं । इन्हें अपूर्व नहीं माना जा सकता । "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते" इस उक्ति से भी हम इसी निर्णयपर पहुंचते हैं कि भगवान्ने कोई नई बात नहीं कही है, अपितु शास्त्रसिद्ध विषय का ही निरूपण किया है । ऐसी दशा में "ये मे मतमिदं" इस का तात्पर्य्य भी यही लगाना पड़ेगा कि वेदसिद्ध अव्ययब्रह्म, एवं विज्ञानयोग ही भगवान् को विशेष प्रिय हैं, भगवान् इसी मत से सहमत हैं । उधर "गीता" शब्द उपज्ञभाव से ही सम्बन्ध रखता है । जब कि गीताविषय के प्रथमोद्देष्टा भगवान् नहीं है, तो इसे कृष्णोपज्ञ नहीं माना जासकता । विना इस उपज्ञता के इस शास्त्र को "भगवद्गीता" (भगवान् से कही गई) नाम से सम्बोधित नहीं किया जासकता । बात वास्तव में यथार्थ है । अवश्य ही उपनिषदों में अव्ययब्रह्म, एवं बुद्धियोग का निरूपण हुआ है । यह भी निर्विवाद है के गीताने उपनिषत्सिद्ध विषय का ही निरूपण किया है । फिर भी गीता की अपूर्वता में कोई वाधा उपस्थित नहीं होती । उपनिषदों में अव्यय का निरूपण भी हुआ है, साथ ही में बुद्धियोग का भी । परन्तु चार प्रकार के बुद्धियोगों द्वारा अव्ययप्राप्ति का उपाय वतलाना गीता की ही अपूर्वदेन है । इस दृष्टि से अवश्य ही इस शास्त्र को कृष्णोपज्ञ कहा जासकता है ।

उपनिषत् ने जिस बुद्धियोग का निरूपण किया था, उस का अर्थ विशुद्ध ज्ञानयोग समझा गया । इस भ्रान्ति का निराकरण सब से पहिले भगवान् ने हीं किया । "बुद्धियोग ज्ञान-कर्म्म दोनों का समुच्चय है, एवं यह वैराग्य-ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म भेद से चार प्रकार का है" इस विषय के

प्रथमोपदेष्टा एकमात्र श्रीकृष्ण ही बनें। एवं इन्हीं के उपदेश से बुद्धियोग का उक्त स्वरूप लोक में प्रचलित हुआ। यदि उपनिषदों में अव्ययब्रह्मविद्या, एवं बुद्धियोग की सत्ता मान भी ली जाती है, तब भी इन के सम्बन्ध में इतना तो अवश्य ही कहा जासकता है कि उक्त विषय सर्वथा निगूढ ही थे। केवल उपनिषदों के आधार पर प्रयत्न सहस्रों से भी आप इन दोनों के वास्तविक स्वरूप पर नहीं पहुंच सकते। इस का एकमात्र श्रेय गीताशास्त्र को ही है। एवं इसी दृष्टि से हम इस शास्त्र को कृष्णोपज्ञ मानने के लिए तय्यार हैं।

इसी एकमात्र अपूर्वता के कारण गीता को उपनिषत् कहा गया है, जैसा कि उपनिच्छब्दरहस्य में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। सत्यधर्म्म के परिज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता होती है। बिना प्रमाण के प्रमाता प्रमिति का अधिकारी नहीं बन सकता, एवं बिना प्रमिति के प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रमाण द्वारा ही प्रमिति पर पहुंचता हुआ प्रमाता प्रमेय ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनता है। प्रमाण से ही अर्थप्रतिपत्ति (निश्चय) होती है। साथ ही में यह भी निश्चित है कि जबतक प्रमेय पदार्थ का हमें सम्यक् ज्ञान नहीं होता, तबतक उस प्रमेय में हमारी प्रवृत्ति भी नहीं होती। यदि प्रमेय में प्रमाता की प्रवृत्ति ही नहीं है तो प्रमेयजनितफलसिद्धि की कथा ही दूर है। इस प्रवृत्ति का मूल आधार प्रमाण है। सर्वप्रथम प्रमाण के आधार पर प्रमिति होती है। प्रमिति से आगे जाकर प्रमेय में प्रवृत्ति होती है, यही प्रमेयप्रवृत्ति सर्वान्त में फल की जननी बनती है।

संसार में कितनें हीं पदार्थ हेय हैं, त्याज्य हैं, अनिष्टकर हैं। एवं कितने हीं पदार्थ उपादेय हैं, ग्राह्य हैं, इष्टजनक हैं। ऐसे इष्ट पदार्थों को ही प्रमेय कहा जाता है। परन्तु इन मे प्रवृत्ति तभी होती है, जब कि हमें यह मालूम हो जाय कि यह प्रमेय वास्तव में हमारे लिए इष्ट हैं। इस इष्टज्ञान की सिद्धि प्रमिति (सम्यक्ज्ञान) पर निर्भर है। फलतः सत्यज्ञान के सम्बन्ध में प्रमाण की आवश्यकता सर्वात्मना सिद्ध हो जाती है।

"चिरायते के काढे से ज्वर मिट जाता है" सुनते ही प्रश्न होता है, इस में क्या प्रमाण? उसी समय लब्धप्रतिष्ठ वैद्य प्रमाणरूप से हमारे सामने उपस्थित होता है। हम जानते हैं कि

वैद्य के उक्त प्रयोग से कई व्यक्तियों का ज्वर मिटा है । फलतः औषधिविज्ञान में आप्त वैद्य का वचन ही हमारे लिए उक्त जिज्ञासा में प्रमाण बन जाता है । यही प्रमाणभाव की सार्थकता है। इसी प्रमाण रहस्य को लक्ष्य में रख कर प्रमाणवादी कहते हैं—

"प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्"

(गौ०सू०१।१।१) ।

"प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः । नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम् । प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति, जिहासति वा । तस्येप्सा-जिहासा-प्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते । सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्धः । समीहमानस्तमर्थमभीप्सन्, जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति, जहाति वा । अर्थस्तु सुखं, सुखहेतुश्च । दुःखं, दुःखहेतुश्च । सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः—प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वात् । ++++ । अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता, प्रमेयं, प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति । कस्मात् ? अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। तत्र यस्येप्सा जिहासा प्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता । स येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम् । योऽर्थः प्रमीयते तत् प्रमेयम् । यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः । चतसृषु चैवं विधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते" (वात्स्यायनभाष्य) इति ।

प्रमेयसिद्धि का मूलभूत यह प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र भेद से तीन भागों में विभक्त है । दृष्टि, श्रुति, स्मृति, निबन्ध इन चारो प्रमाणों का उक्त तीनों प्रमाणों में ही अन्तर्भाव है । दृष्टि प्रत्यक्षप्रमाण है । श्रुति-स्मृति शास्त्रप्रमाण है, एवं निबन्ध अनुमानप्रमाण है । तीनो में प्रत्यक्षप्रमाण ही मुख्य प्रमाण है. । क्योंकि इतर प्रमाणों की प्रामाणिकता प्रत्यक्षप्रमाण पर ही अवलम्बित है । यदि किसी व्यक्ति से यह प्रश्न किया जाता है कि क्या तुमने अमुक देशभक्त को जेल जाते

देखा था ? तो उत्तर में यह कहता है कि मैने स्वयं तो नहीं देखा, परन्तु रामलाल से सुना था। रामलाल से पूछने पर "यज्ञदत्त से सुना था" यह उत्तर मिलता है। इधर प्रश्नकर्त्ता की यह जिज्ञासा तबतक शान्त नहीं होती, जबतक कि दृष्टभाव पर इस का आत्मा नहीं पहुंच जाता। उसने उससे, उसने उससे इस धारावाहिक क्रम के अन्त में जब इसे-"अमुक ने देखा था" यह पता लग जाता है तो उसी समय इस की जिज्ञासा शान्त हो जाती है। इसी आधार पर इतर प्रमाणों की अपेक्षा दृष्टिरूप इस प्रत्यक्ष प्रमाण को हम मुख्य मानने के लिए तय्यार हैं। इस प्रमाण की प्रामाणिकता चक्षुभाव पर निर्भर है, एवं चक्षु की प्रामाणिकता सत्यभाव पर निर्भर है। प्रकृति में सूर्य्यदेवता सत्य के अवतार हैं। इसी सौरतत्व से चक्षुरिन्द्रिय का निर्म्माण हुआ है। अतएव चक्षु को अवश्य ही सत्य कहा जा सकता है। इसी चक्षुःसत्य का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"*सत्यं वै चक्षुः। सत्यं हि वै चक्षुः। तस्मात्-यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातां अहमदर्शमहमश्रौषमिति। य एव ब्रूयादहमदर्शमिति, तस्मा एव श्रद्दध्याम:" (शत०ब्रा०) + + + एतद्वै मनुष्येषु सत्यं निहितं, यच्चक्षुः। तस्मादाचक्षाणमाहुः यद्राक्षमिति। यद्यु वै स्वयं पश्यति, न बहूनां चान्येषां श्रद्दध्यात। तस्माद्विचक्षणवतीमेव वाचं वदेत्। सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति" (ऐ०आरण्य०)

* श्रुति का यह आदेश सत्यपरीक्षण के लिए अवश्य ही एक विशेष महत्त्व रखता है। इस सिद्धान्त का अनुगमन करने से कभी मिथ्याभ्रान्तियों का अवसर नहीं आता। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस सिद्धान्त की उपेक्षा कर केवल सुनी सुनाई बातों के आधार पर आज हम बड़े बड़े अनर्थ कर डालते हैं। इन अनर्थों की प्रधान जड़ तो आजकल के सामयिक समाचार पत्र ही हैं। केवल पत्रों के आधार पर, अथवा किंवदन्तियों के आधार पर विश्वास कर लेने से हम कुछ का कुछ मान बैठते हैं। बड़े बड़े महापुरुष तक इन सुनी सुनाई बातों के आधार पर समाज के कोपभाजन बनते हुए देखे गये हैं। इसलिए हम अपने देशवासियों से यह नम्र निवेदन करेंगे कि जब तक वे उक्त आदेश के अनुसार स्वयं विषयसत्यता की जांच न करलें, तब तक केवल सुनी सुनाई बातों के आधार पर ही कोई निर्णय न करें। ऐसा करने से हमारा आत्मा अधिकाधिक सत्य की ओर आकर्षित होगा, फलतः आत्मबल की अभिवृद्धि होगी।

"आप के सामने दो व्यक्ति खड़े हैं। एक द्रष्टा है, एक श्रोता है। एक कहता है, मैंने अपनी आंख से ऐसा देखा है, दूसरा कहता है, अजी मैंने सुना है। इस प्रकार परस्पर में विविदमान इन दोनों व्यक्तियों में से जो व्यक्ति–मैंने देखा है, यह कहता है, उसी पर हम विश्वास करेंगे। कारण चक्षु सत्य है, । चक्षु अवश्य ही सत्य है। + + + + + । मनुष्यों में यह साक्षात् सत्य है, जो कि चक्षु है। इसी लिए जो यह कहता है कि मैंने देखा है, उसी पर श्रद्धा की जाती है । जो स्वयं देखकर कहता है, उस एक ही का कथन उस सम्बन्ध में प्रमाण है। इसके सामने बहुत से, एवं दूसरों के कथन का कोई मूल्य नहीं हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह विचक्षणवती (आखो देखी) बात ही बोले । ऐसा करने से उस की वागिन्द्रिय उत्तरोत्तर सत्यबल से युक्त होती जायगी"।

पूर्व में हमने श्रुति को शास्त्रप्रमाण कहा था। परन्तु इस प्रत्यक्षदृष्टि के सम्बन्ध में आज हम इसे प्रत्यक्ष प्रमाण हीं कहेंगे। कारण इस का यही है कि जैसे, एवं जो प्रामाणिकता प्रत्यक्षात्मिका दृष्टि को है, वही प्रामाणिकता दृष्टिमूलक वाक्य में भी विद्यमान है। वस्तुतस्तु दृष्टि प्रमाण नहीं है, दृष्टिमूलक वाक्य ही प्रत्यक्षप्रमाण है। "मैंने देखा है" यह द्रष्टा का वाक्य है। यह वाक्य ही प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा जासकता है। द्रष्टा का वाक्य श्रोता के वाक्य की अपेक्षा अधिक प्रमाण है, एवं द्रष्टा के वाक्य की अपेक्षा स्वयं देखना अनुभवयुक्त दृढ़तम प्रत्यक्ष प्रमाण है। अपनी प्रामाणिकता के लिए अन्य शब्दप्रमाण की अपेक्षा न रखने वाला शब्द ही सङ्केतभाषा के अनुसार –"श्रुति" कहलाता है। ऐसा निरपेक्ष शब्द केवल द्रष्टा का ही शब्द होसकता है। कारण स्पष्ट है। जब तक सुनने वाले हमें कुछ सुनाते रहते हैं, तब तक "किससे सुना" इस वाक्य की अपेक्षा बनी रहती है। परन्तु जहां एक द्रष्टा–"मैंने सुना नहीं देखा है" यह बोल पड़ता है, तत्काल उक्त जिज्ञासा शान्त हो जाती है। फिर अन्यवाक्य की अपेक्षा नहीं रहती। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर मीमांसाशास्त्रने श्रुति (वेद) के–"द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः"–"निरपेक्षो रवः श्रुतिः" यह लक्षण किए हैं।

प्रत्यक्ष द्रष्टा का जो वाक्य हमारे लिए श्रुत होने से श्रुति है, वही उस द्रष्टा के लिए

दृष्टि है। द्रष्टा अपनी दृष्टि का जिस वाक्य से अभिनय करता है, वह अभिनीयमान वाक्य जहां उसके लिए दृष्टि है, वहां वही दृष्टि हम सुनने वालों के लिए श्रुति है। हम अपनी अपेक्षा से जिसे श्रुति कहते हैं, वस्तुतः द्रष्टा की अपेक्षा से वह दृष्टि है। फलतः अन्ततोगत्वा दृष्टि-श्रुति अभिन्न पदार्थ बन जाते हैं। दृष्टि प्रत्यक्ष है। फलतः श्रुति भी प्रत्यक्ष है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि स्वप्रत्यय का नाम दृष्टि है। प्रत्ययकर्त्ता द्रष्टा अपने प्रत्यय का जिन शब्दों से अभिनय करता है, वह शब्द भी इसकी दृष्टि ही है। हमारे लिए वाक्यरूपा यह दृष्टि परप्रत्यय है। हम इसे सुन कर ज्ञान प्राप्त करते हैं। अतएव द्रष्टा की दृष्टिरूप इस वाक्य को हम अपनी अपेक्षा से श्रुति ही कहेंगे। देखने वाला अपने दृष्ट अर्थ को कहता है, एवं सुनने वाला उसे सुनता है। श्रोता के सुनने के कारण ही यह द्रष्टुर्वाक्य श्रुति कहलाया है। जिस प्रकार द्रष्टा की दृष्टि स्वतः-प्रमाण है, एवमेव दृष्टिप्रतिपादक द्रष्टा का वाक्य भी स्वतः प्रमाण ही है। अपनी आंखों देखी वस्तु के लिए जैसे अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती, एवमेव आंखों देखने वाले के वाक्य पर भी अविश्वास नहीं किया जासकता। मन्त्रब्राह्मणरूप वाक्य द्रष्टामहर्षियों के वाक्य हैं। अस्मदादि असाक्षात्कृतधर्म्मा सामान्य मनुष्यों के हित के लिए *साक्षात्कृतधर्म्मा महर्षियों ने अपनी दिव्यदृष्टि से अतीन्द्रियतत्वों का साक्षात् कर जिन मन्त्रवाक्यों को हमारे सामने रक्खा है, वही हमारे लिए स्वतःप्रमाण श्रुति है।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद साक्षात्कृतधर्म्मा द्रष्टामहर्षियों की दृष्टि का अभिनय करने वाले हैं। अतएव "द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः" इस उक्त लक्षण के अनुसार हम अवश्य ही उक्त वेदराशि को स्वतः-प्रमाणश्रुतिशास्त्र कहने के लिए तय्यार हैं। वेद का अक्षर अक्षर हमारे लिए साक्षात् प्रत्यक्षप्रमाण है। उस के रहस्य को न जानने पर भी उस के आदेशों को हम अप्रमाण नहीं मान सकते। प्रत्यक्ष प्रमाण का यही संक्षिप्त निदर्शन है।

---

*"साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्म्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्राहुः"।

(यास्कनिरुक्त)।

अब अनुमानप्रमाण का विचार कीजिए। "श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः" इस लक्षण के अनुसार श्रोता का वाक्य संग्रह ही स्मृति कहलाता है। अनुभवाहित संस्कार को ही "स्मृति" कहा जाता है। वस्तुत: अनुभवाहित संस्कार वासना कहलाता है। यह वासनासंस्कारपुञ्ज ही आगे जाकर स्मृति का जनक बनता है, अतएव ताच्छब्द्यन्याय से वासनासंस्कार को भी स्मृति कह दिया जाता है। श्रोता जो कुछ सुनता है, उस श्रुत विषय का उस के प्रज्ञानमन पर संस्कार हो जाता है। आगे जाकर श्रोता जब कभी कुछ बोलता है तो अपने संस्कारो को ही आधार बनाता है। संस्कारात्मक संचित विषय का स्मरण कर के ही यह उपदेश देने में समर्थ होता है। इसी स्मृति, किंवा स्मरणभाव के कारण श्रोता का वाक्य संग्रह "स्मृति" कहलाता है। देखने वाले का वाक्य जहां श्रुति है, वहां सुनने वाले का तद्विषयक वाक्य हमारे लिए स्मृति है। श्रुति स्वतःप्रमाण है तो स्मृति परतःप्रमाण है।

द्रष्टा का अभिनय हम श्रोताओं के लिए श्रुति है। श्रोता का अभिनय हम श्रोताओं के लिए स्मृति है। द्रष्टा अपने वाक्य में जैसे "तत्रभवान्" बनता हुआ आप्त है वैसे श्रोता अपने वाक्य में न तत्रभवान् है, न आप्त है। वह आप्त द्वारा श्रुत अर्थ का स्मर्त्ता मात्र है। दूसरे शब्दों में, वह उस का प्रवर्त्तक नहीं है, अपितु प्रवर्त्तक आप्त के कथन का अभिनेतामात्र है। इसीलिए इस अभिनेता की बात तभी प्रामाणिक मानी जासकती है, जब कि वह मूलवक्ता के अनुकूल हो। अर्थात् श्रोता की बात पर पूरा विश्वास तभी होता है, जब कि श्रोता अपने श्रुत अर्थ को आप्तप्रमाण से युक्त बतला देता है। श्रोता जो कुछ कहता है, वह उस की अपनी खोज नहीं है। अपितु वह परप्रत्यय ही का अभिनय करता है। अतएव इस का यह वाक्य स्वप्रमाण के लिए वाक्यान्तरप्रमाण (श्रुतिप्रमाण) की अपेक्षा रखता हुआ परतःप्रमाण ही माना जायगा। श्रुति का प्रत्यक्षात्मिका दृष्टि से सम्बन्ध था, स्मृति का श्रुति से सम्बन्ध है। अतएव हम इसे अनुमानप्रमाण कह सकते हैं। आरम्भ में दृष्टि-प्रत्यक्ष-अनुमान निबन्ध यह चार प्रमाण बतलाए गए थे। इन में दृष्टि तो द्रष्टाओं के लिए ही प्रमाण है। वे स्वयं देखकर, परीक्षा कर के ही उस विषय की सत्यता पर पहुंचते हैं। श्रुति प्रत्यक्षप्रमाण है, एवं स्मृति अनुमानप्रमाण है।

शेष रहता है, निबन्ध । निर्णयसिन्धु, धर्मसिन्धु, श्राद्धविवेक, आचारविवेक, स्मार्त्तसंग्रह, स्मार्त्तकल्प, शुद्धिमयूख आदि ग्रन्थ ही निबन्ध नाम से प्रसिद्ध हैं । श्रौत-स्मार्त वचनों में हमारी अल्पज्ञता के कारण जो हमें विरोध प्रतीत होता है, उसे तर्क-न्याय द्वारा दूर कर जो एक निर्भ्रांति व्यवस्था हमारे सामने रक्खी जाती है, वह व्यवस्थासंग्रहशास्त्र ही निबन्ध है । हमारे सम्पूर्ण कर्मकलाप इन निबन्धग्रन्थों पर ही अवलम्बित हैं । सत्यज्ञान की सिद्धि के लिए इन चारों प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाण का सर्वथा अभाव ही समझना चाहिए । जो विषय उक्त चारों प्रमाणों से वहिष्कृत है, वह आर्यसन्तान की दृष्टि में सर्वथा उन्मत्त प्रलाप है, अतएव सर्वथा त्याज्य है । भारतवर्ष ही उक्त चारों को सत्यज्ञान में प्रमाण मानता हो, यह बात नहीं है । अपितु संसार का सारा सभ्य समाज सत्यनिर्णय में इन्ही प्रमाणों का शिष्य है । वह भी प्रत्यक्षदृष्टि को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानता है । सुनने वाले के वाक्य की अपेक्षा देखने वाले के वाक्य को विशेषरूप से प्रामाणिक मानता है । सुनने वाले के वाक्य पर वह तभी विश्वास करता है, जब कि उस का वाक्य देखने वाले के वाक्य के अनुकूल होता है । यदि दोनों में परस्पर कोई विरोध प्रतीत होता है तो तर्क-न्याय की कसोटी से एक स्वतन्त्र, किन्तु अनुकूल निर्णय निकालता है । इस प्रकार प्रमाणांशों में हम एक हैं, केवल नामों में अन्तर है । भारतवर्ष के महर्षियोंने विज्ञानदृष्टि से इनके दृष्टि-श्रुति आदि नाम रक्खे हैं, इतर देशों में इस सूक्ष्मदृष्टि का अभाव है ।

वेद द्रष्टा का वाक्य होने से श्रुति है, स्मृति श्रोता का वाक्य होने से स्मृति है। श्रुति-स्मृति नामों का यही गुप्त रहस्य है । उधर मनचले पश्चिमी विद्वान् इस रहस्य को न जानने के कारण श्रुति शब्द के सम्बन्ध में अपने यह उद्गार प्रकट करते हैं कि, वेदकाल में लिपि का अभाव था । आर्यलोग कण्ठ करके ही, सुन सुना कर ही वेद की रक्षा करते थे, अतएव उन का यह सभ्यताग्रन्थ (वेद) श्रुति नाम से सम्बोधित हुआ । परन्तु उक्त रहस्यार्थ से विज्ञ पाठकों को विदित होगया होगा कि इस सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानोंने कितनी भयङ्कर भूल की है । महर्षियों ने किसी गुप्त रहस्य को सूचित करने के लिए वेद को जिस श्रुति शब्द से सम्बोधित किया, उस

के सम्बन्ध में वेदतत्त्वरहस्यानभिज्ञ पश्चिमी विद्वानों नें उक्त कल्पना की। आश्चर्य है इन की विज्ञान बुद्धि पर, एवं महा आश्चर्य है इन की हा में हा मिलाने वाले उच्छिष्ट भोगी पथभ्रष्ट भारतीयों की सद्बुद्धि पर।

उक्त प्रमाणचतुष्टयी के आधार पर हमें अब यह विचार कहना है कि गीताशास्त्र स्वतःप्रमाण है, अथवा परतःप्रमाण। यद्यपि गीता प्राचीनो की दृष्टि में स्मृतिशास्त्र ही माना गया है, और यह मन्तव्य किसी दृष्टि से ठीक भी है। फिर भी अपने चतुर्विध बुद्धियोग के सम्बन्ध में हम गीता को श्रुतिमर्य्यादा से भी एकान्ततः बाहर नही निकाल सकते। गीता-विषय के कृष्ण अपूर्व द्रष्टा हैं, एवं द्रष्टा का वाक्य हीं पूर्वोक्त लक्षणानुसार श्रुति है। फलत. श्रुतिस्थानीय गीताशास्त्र का स्वतःप्रमाणत्व सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि जहां सामान्य दृष्टि से गीता स्मृति कहलाती है, वहां इसे उपनिषत्त नाम से भी सम्बोधित किया गया है। प्राचीनों के मतानुसार उपनिषत् शब्द एकमात्र वेद के अन्तिम भाग का वाचक है। गीता को उपनिषत् कहना हीं यह सिद्ध करने के लिए पर्यान्त प्रमाण है कि इस के प्रथम प्रवक्ता श्रीकृष्ण हीं हैं। जब गीताशास्त्र श्रीकृष्णोपज्ञ है तो अवश्य ही इसे भगवद्गीता कहा जासकता है।

अभिनिवेश की चिकित्सा स्वय ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। यही दशा गीता शब्द के सम्बन्ध में हैं। यद्यपि विप्रतिपत्ति का उक्त कथन से भलीभांति निराकरण हो जाता है, फिर भी वेदाभिनिविष्ट विद्वान् इस निराकरण को मानने के लिए तय्यार नहीं हैं। उन का तो यही दुराग्रह है कि गीता में भगवान्ने जिस अव्ययब्रह्म, एवं बुद्धियोग का निरूपण किया है, वह पहिले से ही उपनिषदों में विद्यमान है। भगवान्ने अपूर्व कुछ नहीं कहा है, अपितु वेदसिद्ध विषय का ही उपबृंहण किया है। जब गीताशास्त्र श्रीकृष्णोपज्ञ नहीं है तो इसे भगवद्गीता नामसे सम्बोधित करना भी उचित नहीं। इस प्रकार गीता नाम के सम्बन्ध में उक्त विप्रतिपत्ति के माथे "पुनस्तत्रैवावलम्बितो वेताल:" यह सूक्ति मंढ जाती है।

वेदभक्तों का कहना है कि गीता की तरह उपनिषदों में भी अव्ययब्रह्म, एव बुद्धियोग का निरूपण हुआ है। क्षरब्रह्म कार्य है, अक्षरब्रह्म कारण है। अव्ययब्रह्म न कार्य है, एवं न

कारणहै। इसी आधार पर—"न करोति न लिप्यते" (गीता१३।३१।) यह कहा जाता है। "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" यह उपनिषच्छ्रुति भी स्पष्ट शब्दों में कार्य–कारणातीत इसी अव्यय का रहस्य बतला रही है। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः यह ६ लोक रज हैं। ६ ओं की मूलप्रतिष्ठा सत्यात्मरूप अव्यय है। इसी के आधार पर ६ ओं रज प्रतिष्ठित हैं। यही सत्यात्मा अव्ययपुरुष है, जैसा कि—"यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" (गी०१५।१७।)इत्यादि से स्पष्ट है। उधर—"अजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्" (ऋक्संहिता) इत्यादि मन्त्रश्रुति भी इसी अर्थ का समर्थन कर रही है। "अजोऽपि सन्नव्ययात्मा" (गीता.४।६।....) के अनुसार अज शब्द अव्यय का ही वाचक है। इसीप्रकार व्यक्त पदार्थ क्षर है, अव्यक्त पदार्थ अक्षर है। अव्यय व्यक्त एवं अव्यक्त दोनों से परे है। दूसरे शब्दों में क्षर अपर है। क्षर से पर, एवं अव्यय से अवर, अतएव परावर नाम से प्रसिद्ध अक्षर मध्य में है। अक्षर से पर, अतएव पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय उत्तम कोटि में प्रतिष्ठित है। "परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः" (गीता०८.२०।)-"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः" (गी.१५।१७।) "यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः" (गी०१५।१८।)-"अव्यक्तोऽक्षरमित्याहुः" इत्यादि वचन उक्तार्थ का ही स्पष्टीकरण कर रहे हैं। उधर—"अक्षरात् परतः परः" (मुण्डक०-२ १।२।)—"परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति" इत्यादि उपनिषद्वचन भी इसी सिद्धान्त का विश्लेषण कर रहे हैं। गीता अव्यय के सम्बन्ध में जो कुछ कर रही है, वह सब उपनिषदों में पहिले से ही विद्यमान है।

यही अवस्था बुद्धियोग की है। अव्यय के साथ बुद्धि का योग करदेना ही बुद्धियोग है। दूसरे शब्दों में बुद्धि द्वारा अव्यय के दर्शन कर लेना ही बुद्धियोग है। इस से सर्वविध क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। ज्ञान एवं कर्म्म का समुच्चितरूप ही बुद्धियोग है। इधर वैदिक कर्मकलाप इसी समुच्चयभाव पर अवलम्बित हैं।

'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
य एवं वेद, तरति शोकमात्मवित्, यो हैवं विद्वान्"।

इत्यादि शब्द बुद्धियोग के ही सूचक हैं। वेद भी गीताशास्त्र की तरह केवल ज्ञान, एवं केवल कर्म्मवाद का विरोधी है। प्रत्येक कर्म्म के उपसंहार में "एवं वित्" (ऐसा जानने वाला) इस ज्ञानसूचक वाक्य का सन्निवेश रहता है। यही नहीं, जिस गीता ने "एकं सांख्यं च योग च यः पश्यति स पश्यति" (गीता० ३।४।) "न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" (गीता० ५।४।) इत्यादिरूप से सांख्य-(ज्ञान)-योग-(कर्म्म,-लक्षण जिस बुद्धियोग को आत्मोपकारक वतलाया है, स्वयं उपनिषत ने भी स्पष्ट शब्दों में इसी उभयलक्षण बुद्धियोग का समर्थन किया है, जैसा कि निम्न लिखित उपनिषद्वचनों से स्पष्ट हो जाता है—

तृष्णा–लज्जा–भयं–दुःखं विपदो ह्य एव च ॥
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते ॥१॥
तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ॥
ज्ञानं कचिद्वदन्सत्र केवलं तन्न सिद्धये ॥२॥
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्म्मणि ॥
तस्माज् ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्

(योगशिखोपनिषत्)

इस प्रकार उपनिषदों में विस्पष्ट शब्दों में अव्ययब्रह्मविद्या, एवं बुद्धियोगनिष्ठा के विद्यमान रहते हुए कथमपि तत्प्रादिक गीताशास्त्र को श्रीकृष्णोपज्ञ नहीं माना जासकता।

सचमुच विद्वानों का उक्त वेदाभिनिवेश मौलिकता से सम्बन्ध रखता है। हम भी वेद भक्त के नाते इस मौलिकता का पूर्ण समर्थन करते हैं। वास्तव में गीतोक्त विषयो का उपनिषदो में पर्य्याप्त निरूपण हुआ है। ऐसी दशा में गीताशब्दव्यवहार की रक्षा के लिए हमें अवश्य ही किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना पड़ेगा। वह उपाय है श्रौती उपनिषत्, एवं स्मार्त्ती उपनिषत् का पृथक्करण। आत्मविद्या को उपनिषत् कहा जाता है। इस उपनिषद्रूपा आत्मविद्या का प्रतिपादक शास्त्र भी उपनिषत् शब्द से ही व्यवहृत हुआ है। यह उपनिषत् श्रौती, स्मार्त्ती भेद

से दो भागों में विभक्त माननी पड़ती है। वेद की अन्तिमभागरूपा, ईश-केन-कठादि शाखाभेद से अनेकधा विभक्ता उपनिषत् श्रौती उपनिषत् है। गीता यद्यपि स्मृति है, परन्तु जिस गीताचार्य ने अपने कर्म्मों से अपने आप को एक अलौकिक अमानव पुरुष सिद्ध किया है, उस के द्वारा कही गई गीता उपनिषत् से कम महत्व नहीं रखती। अवश्य ही गीताविश्य के भगवान् प्रत्यक्षद्रष्टा थे। इसी आदरभाव के कारण अध्यात्मविद्याप्रतिपादिका गीतोपनिषत् स्मार्त्ती उपनिषत् कहने योग्य है। इस प्रकार हमारे सामने दो प्रकार की उपनिषदें उपस्थित हो जातीं हैं। इन दोनों के पृथक् करण के लिए ही इसे भगवद्गीतोपनिषत् नाम से व्यवहृत करना आवश्यक समझा गया। श्रौती उपनिषदें सर्वथा नियत संख्या से सम्बन्ध रखतीं हैं। ऐसी दशा में यदि गीता का केवल 'उपनिषत्" यही नाम रख दिया जाता तो भ्रम होने की सम्भावना थी। श्रुत्युक्त आत्मविद्या का प्रतिपादन करने के कारण यह उपनिषत् नाम से वञ्चित नहीं की जासकती। साक्षात् श्रुति न होने से इसे केवल उपनिषत् शब्द से भी व्यवहृत नहीं किया जासकता। वस्तुतस्तु श्रौती उपनिपदों में भी पारस्परिक भेद प्रदर्शन के लिए प्रत्येक उपनिषत् के साथ ईश-केन-कठ इत्यादि शब्दों को व्यवहार में लाया गया है। इसी भेदव्यवहार की सूचना के लिए श्रुत्यर्थानुसारिणी इस स्मार्त्ती उपनिषत् के साथ भी भगवत्-गीता इन दोनों शब्दों का योग करना आवश्यक हो जाता है।

आप प्रश्न करेंगे कि यदि "गीता" शब्द का एकमात्र यही प्रयोजन था तो फिर इस उलझन के स्थान में "उक्ता-कथिता" इत्यादि सरल शब्दों में से ही किसी एक का सम्बन्ध क्यों नहीं जोड़ दिया गया? इस के उत्तर में भी कुछ रहस्य है। गीता शब्द का अर्थ है "गाई हुई"। पहिले से विद्यमान पद्य में स्वरलहरी डालदेने से वही पद्य गेय रूप में परिणत हो जाता है। "गीतिषु सामाख्या" इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार गेयभाग सामवेद है, एवं छन्दोबद्ध पद्य ऋग्वेद है। एक ही ऋङ्मन्त्र को त्रिगुणित कर देने से वही ऋङ्मन्त्र साम बन जाता है। जितने समय में एक ऋङ्मन्त्र का उच्चारण होता है, ठीक उस से त्रिगुणित समय में यदि आप उस एक ही मन्त्र का उच्चारण करेंगे तो वही ऋङ्मन्त्र ऋङ्मन्त्र न कहला कर साममन्त्र कहलाएगा, जैसा कि— "ऋच्यध्यूढं साम गीयते"-"ऋचा समं मेने तस्मात् साम"-"त्रिंच साम" इत्यादि सिद्धान्तों

से स्पष्ट है। संकुचित भाव को फैलाना हीं गान है, पद्य को फैलाकर बोलना ही तो गान है। गान शब्द प्रत्येक दशा में संकोच को मूलप्रतिष्ठा बनाए रखता है। यह सच है कि भगवान् ने अपनी इस स्मार्त्ती उपनिषत् में नवीन कुछ नहीं बतलाया। परन्तु फिर भी यह मान लेने में किसी को कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती कि श्रौती उपनिषदों में जो विषय सूक्ष्मतम भाषा में निरूपित हुआ है, उस का भगवान् ने व्यावहारिक रूप देते हुए बड़े विस्तार से निरूपण किया है। उपनिषत् का लक्ष्य जहां सम्पूर्ण आत्मप्रपञ्च है, वहां गीता का मुख्य लक्ष्य अव्यय है। यदि दूसरी दृष्टि से विचार किया जाय तो उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य परात्पर ही है। अव्यय को प्रधान लक्ष्य बनाने वाली, एवं चतुर्विधबुद्धियोग का पूरा स्पष्टीकरण करने वाली तो एकमात्र यह स्मार्त्ती उपनिषत् ही है। चूंकि श्रीकृष्ण इस के द्रष्टा थे, इसलिए तो इसे उपनिषत् कहना न्याय संगत है। साथ ही में यह श्रीकृष्णोपज्ञ ही नहीं है, इसलिए इसे गीता कहना न्यायप्राप्त है। गीताशब्द वितान (फैलाव) भाव का ही द्योतक है। जो अव्यय ब्रह्म, एवं जो चतुर्विध बुद्धियोग श्रौती उपनिषदों में सर्वथा संकुचित होने से पद्यरूप बन रहा था, वही भगवान् के द्वारा विस्तार में आकर गेयरूप बन गया। बस इसी वितानभाव का सूचित करने के लिए इसे कथिता, उक्ता, इत्यादि अन्य किन्हीं शब्दों से व्यवहृत न कर वितानसूचक "गीता" शब्द सम्बोधित किया गया।

स्मरण रखिए, गीता शब्द सर्वथा यौगिक है। पङ्कजादिवत् इसे योगरूढ नहीं माना जा-सकता। पङ्कज जिस प्रकार कमलपुष्प का नाम माना जाता है, वैसे "गीता" इस का नाम नहीं है। गीता का अर्थ है भगवान् द्वारा कही गई। गीता स्वयं क्रिया शब्द है, एवं यौगिक है। अत-एव इसे उपनिषत् शब्द का विशेषण ही माना जासकता है। स्वयं व्यास ने एक स्थान पर गीता के इसी विशेषणभाव को प्रकट किया है। देखिए !

> समुपोढेष्वनीकेषु कुरुपाण्डवयोर्मृधे ।
> अर्जुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम् ॥ (म० १२।३।८)।

यही कारण है कि अध्याय समाप्ति पर–"भगवद्गीतासूपनिषत्सु" यह निर्दिष्ट रहता है। यदि गीताशब्द रूढ होता तो "भगवद्गीतायामुपनिषत्सु" यह वाक्य रहता। इस प्रकार

गीताशब्द के उक्त निर्वचन के अनुसार यद्यपि गीता शब्द यौगिक बनता हुआ विशेषण ही है, तथापि अपनी अपूर्वता के कारण यह आगे जाकर इस स्मार्त्ती उपनिषत् में निरूढ भी बन गया है। इसीलिए विद्वत्समाज में यह "गीता" नाम से भी प्रसिद्ध होगई है। केवल गीता का नाम लिया जाता है, वहां अणुगीता, रामगीता, शिवगीता आदि अन्य किसी गीता पर ध्यान न जाकर एकमात्र भगवद्गीतोपनिषत् की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित होता है।

इति-गीताशब्दरहस्यम्।

२

*

३—उपनिषच्छब्दरहस्यम्

इस सम्बन्ध में हमें विशेष वक्तव्य नहीं है । कारण उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका में उपनिषत् शब्द पर पूर्ण प्रकाश डाला जाचुका है । केवल प्रकरणसङ्गति के लिए संक्षेप से कुछ कह देना ही पर्य्याप्त होगा । पूर्व के गीतानामरहस्य में यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार ईश—केन—कठ आदि उपनिषदें **'श्रौती उपनिषत्'** कहलातीं हैं, एवमेव गीताशास्त्र को हम **'स्मार्त्ती उपनिषत्'** कह सकते हैं । इसी सम्बन्ध में हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है ।

आत्मविद्या जिस ग्रन्थ में बतलाई जाय, वही ग्रन्थ उपनिषत् है । श्रौती उपनिषदें आत्मविद्या का निरूपण करने के कारण ही 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुईं हैं । दूसरे शब्दो में यों कहना चाहिए कि आत्मविद्यात्व ही उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक है । भेदक तत्व को ही अवच्छेदक कहा जाता है । भेदक ही उस पदार्थ को अन्य पदार्थों से पृथक् करके दिखलाता है । यदि भेदक न हो तो किसी पदार्थ का स्वरूपज्ञान ही न हो । सर्वसम्मत न्यायशास्त्र के **"यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्ने शब्दस्य शक्तिः"** इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक शब्द किसी न किसी पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही सम्बद्ध रहता है । उदाहरण के लिए गो शब्द को ही लीजिए । गो इस लिए गो है कि वह इतर पदार्थ नहीं है । जिस भावने गो को इतर पदार्थों से पृथक् कर के हमारी प्रतीति का विषय बना डाला, वही भाव भेदक, अवच्छेदक, किंवा व्यावर्त्तक कहलाएगा । अवश्य ही गो पदार्थ में कोई ऐसी विशेषता है, जिस के कारण तद्वाचक गोशब्द उसे अन्य पदार्थ नहीं बनने देता । वही विशेषता न्यायशास्त्र में

*-सम्पूर्ण उपनिषदों पर **"उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका"** नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा गया है । यह ग्रन्थ दो भागों में एक सहस्र पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है । भाष्यभूमिका के **"क्या उपनिषत् वेद है ?"** इस प्रश्न की मीमांसा में बड़े विस्तार के साथ उपनिषत् शब्द का रहस्यार्थ प्रतिपादित हुआ है । विशेष जिज्ञासा रखने वालों को वही प्रकरण देखना चाहिए ।

'गोत्व' (गोपना) नाम से प्रसिद्ध है। गोत्व क्या वस्तु है, इस का उत्तर 'सास्नालाङ्गूलमत्वम्' है। ग्रीवाभागस्थ स्नास्ना (लोल), एवं पुच्छभाव ही गो का गोत्व है। यही गोपदार्थ का इतर पदार्थों से भेद करवा रहा है। गोशब्द सास्नालाङ्गूलमत्व गोत्व में ही अपनी शक्ति रखता है, गोत्व ही गोशब्द का अवच्छेदक है। इसी अवच्छेदक से अवच्छिन्न बनता हुआ गोपदार्थ गो शब्द के अतिरिक्त और किसी शब्द से अभिनय में नहीं आसकता। निदर्शन मात्र है। आप जितनें भी शब्द सुनते हैं, जानते हैं, अथवा हैं, उन सब के साथ (प्रत्येक साथ) एक एक स्वतन्त्र अवच्छेदक लगा हुआ है। यह अवच्छेदक ही शब्द की महामर्यादा है। अवच्छेदक के बल पर ही अवच्छिन्न शब्द को किसी नियत अर्थ का ही प्रतिपादन करना पड़ता है। इससे हम इस निश्चय पर भी पहुंच जाते हैं कि संस्कृत साहित्य में जितने भी शब्द हैं, वे सब स्वतन्त्र अर्थों के ही वाचक हैं। कारण शब्दस्वरूपभेद अवच्छेदकभेद का हेतु है, एवं अवच्छेदक-भेद ही वस्तुतत्व का भेदक है। ऐसी दशा में शब्दों का परस्पर में पर्य्याय सम्बन्ध मान बैठना तर्क-न्याय एवं विज्ञानदृष्टि से सर्वथा अशुद्ध है। जो शब्द जिस अर्थ का वाचक है, वह उसी अर्थ का वाचक है। समस्त विश्व में उस के जोड़ का, उसी भाव को व्यक्त करने वाला अन्य शब्द नहीं मिलेगा। राम और दाशरथि कभी अभिन्नार्थक नहीं बन सकते। इन्द्र और वृत्रहा को कभी पर्याय नहीं माना जासकता। विष्णु और नारायण को एक वस्तुतत्व समझना भयङ्कर भूल है। मिथ्या एवं अनृत का पर्याय सम्बन्ध कभी बन ही नहीं सकता। सूर्य्य एवं सविता को पर्याय मानना किसी दृष्टि से ठीक नहीं है।

अस्तु प्रकृत में उक्त अवच्छेदक मीमांसा से बतलाना यही है कि उपनिषत् शब्द का जो कोई अवच्छेदक होगा, उसी के अनुसार उसी अवच्छेदकावच्छिन्न तत्व विशेष का (उपनिषत्शब्द को) वाचक मानना पड़ेगा। चूंकि उपनिषदों में प्रधानरूप से आत्मविद्या का ही निरूपण हुआ है, अतः आत्मविद्यात्व को ही हम उपनिषत् का अवच्छेदक मानने के लिए तय्यार हैं। इस दृष्टि से जो भी ग्रन्थ आत्मविद्या का निरूपण करेगा, वही उपनिषत् नाम से व्यवहृत हो सकेगा। यद्यपि दर्शनों में भी आत्मविद्या का निरूपण हुआ है, परन्तु दर्शनदृष्टि से। दर्शन और विज्ञान में

बड़ा अन्तर है। ऐसी दशा में आत्मविद्यात्व के साथ हमें विज्ञानशब्द और जोड़ना पड़ेगा। विज्ञान-सहकृत आत्मविद्यात्व को ही उपनिषत् का अवच्छेदक कहा जायगा। यह अवच्छेदक मर्यादा जिस प्रकार ईश-केन–कठ आदि उपनिषदों के सम्बन्ध में घटित हुई है, एवमेव विज्ञानसहकृत आत्मविद्या के निरूपण के कारण वही मर्यादा उसी प्रकार गीताशास्त्र में भी चरितार्थ हुई है। अतः हम अवश्य ही गीता को स्मार्त्त उपनिषत् कह सकते हैं।

इस प्रकार थोड़ी देर के लिए यदि विज्ञानसहकृत आत्मविद्यात्व को उपनिषत् का अवच्छेदक मान लिया जाता है तो गीता को उपनिषत् नाम से व्यवहृत करने में कोई आपत्ति नहीं रहती। परन्तु ऐसा मान लेना प्राचीनदृष्टि से सर्वथा असङ्गत है। यह ठीक है कि उपनिषदों में विज्ञानसहकृत आत्मविद्या का ही निरूपण हुआ है। यह भी ठीक है कि गीता भी इसी आत्मविद्या का निरूपण कर रही है। फिर भी गीता को उपनिषत् नहीं कहा जासकता। कारण स्पष्ट है। उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक है वेदान्तत्व। मन्त्र–ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत् रूप से मन्त्र–ब्राह्मणात्मक वेद के चार विभाग माने गए हैं। मन्त्रभाग विज्ञान–स्तुति–इतिहास का निरूपक है, ब्राह्मण कर्मकाण्ड का, आरण्यक उपासनाकाण्डका, एवं उपनिषत् ज्ञानकाण्ड का निरूपण करता है। चूंकि ज्ञानयोगप्रतिपादक उपनिषत् वेद का अन्तिमभाग है, अतएव इसे–'सर्वे वेदान्ताः' इत्यादि रूप से व्यासादि प्राचीन आचार्यों ने वेदान्त नाम से सम्बोधित किया है। व्यास विरचित सुप्रसिद्ध शारीरकसूत्र इन वेदान्त वचनों (उपनिषत्वचनों) का समन्वय करने के कारण ही वेदान्तदर्शन नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार उपनिशत् शब्द एकमात्र सुप्रसिद्ध वेद के अंतिम भागरूप परिगणित ईशादि उपनिषदों में ही निरूढ है। इधर गीताशास्त्र उस वेदांत मर्यादा से सर्वथा बहिर्भूत है। गीता कभी वेद का अन्तिम भाग नहीं ऐसी दृष्टि में वेदांतत्व अवच्छेदक की मर्यादा के कारण हम किसी भी हालत में गीता को उपनिषत् नहीं कह सकते। इस विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में विशेष न कह कर हमें केवल यही कहना है कि गीता जिस व्यक्ति के द्वारा उपदिष्ट हुई है, वह कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। उपनिषत् को वेद के अन्तिम भाग में ही निरूढ मानने वाले स्वयं व्यासादि ने

उसे पूर्णावतार माना है। वेदद्रष्टा महर्षियों से भी उस का आसन ऊंचा है। उसके द्वारा उपदिष्ट गीता का महत्व श्रौती उपनिषत् से किसी दृष्टि से भी कम नहीं माना जासकता। गीता-प्रतिपादित आत्मविद्या का भगवान् ने साक्षात्कार किया है। इस दृष्टि से गीता द्रष्टा का वाक्य है। इसी साधर्म्य को लेकर, साथ ही में एक पूर्णावतार के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण हम गीता को यदि उपनिषत् कह देते हैं तो कोई विशेष विप्रतिपत्ति नहीं है। इसी साधर्म्य को लक्ष्य मे रखकर गीता को (स्मृति होते हुए भी) प्राचीनोंनें उपनिषत् नाम से सम्बोधित कर दिया। श्रुति परिगणना में यह नहीं है, साथ ही में श्रौती उपनिषत् की तुलना मे इस का महत्व भी कम नहीं है, अतएव इसे **'स्मार्त्ती उपनिषत'** कहना प्रत्येक दृष्टिसे न्यायसङ्गत हो जाता है।

... गीताशास्त्र पर आज भारतीयों की अपूर्वनिष्ठा देखी जाती है। सब से बड़ा सौभाग्य तो हमारा यह है कि आर्यसाहित्य को राष्ट्रोन्नति का महाप्रतिबन्धक मानने वाले राष्ट्रीय नेता, एवं तदनुयायी सुधारक भी गीता का पूरा पूरा आदर करते हैं। इसी आदरभाव के कारण उन की ओर से भी गीतार्थ करनेका प्रयास हुआ है। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आर्यसाहित्य (वैदिकसाहित्य) से लेश भी परिचय प्राप्त न करने वाले इन महानुभावों का उक्त प्रयास अर्थ के स्थान में अनर्थ का ही वीजवपन कर रहा है। हमें उस घटना का स्मरण है कि जब देश के एक पूज्य नेता ने गीता के **"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः"** इस सिद्धान्त को आगे रखते हुए अपने यह उद्गार प्रकट किए थे कि गीता के अनुसार अन्त्यजों को अस्पृश्य मानना शास्त्रविरुद्ध है। इसी प्रकार जिस चातुर्वर्ण्यधर्म्म का गीता में विस्तार से निरूपण हुआ है, उस का किस प्रकार इन राष्ट्रीय नेताओं के द्वारा दलन किया जा रहा है, यह भी छिपा हुआ नहीं है। स्वधर्म्मपालन की कड़ी आज्ञा देने वाली गीता की आज कैसी दुर्दशा की जारही है, यह देख कर हमें अवाक् रह-जाना पड़ता है। उदाहरण के लिए वैश्यकर्म्म को ही लीजिए। **"कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म्म स्वभावजम्"** के अनुसार खेती, गोपालन, व्यवसाय यह तीन वैश्य जाति के स्वाभाविक कर्म्म हैं। घातक अर्थलिप्सा, एवं वैध्यक्तिक स्वार्थमूलक व्यवसाय को छोड़ कर आज कृषि, गोरक्षा का तो नाम भी शेष नहीं है। यहीं पर-सीमा समाप्त नहीं हो जाती। कितने एक अभिमानी वैश्य, जिन के

मुख से अहर्निश गीता का माहात्म्य प्रकट होता रहता है, वे भी व्यासपीठों पर प्रतिष्ठित होकर उप-देश देते हुए लज्जा का अनुभव नहीं करते। यही अवस्था इतर वर्णों की है। गीताभक्त किस राष्ट्रीय नेता ने स्व-स्वधर्मानुकूल व्यवस्था चलाने के लिए उद्योग किया। "गीता निष्कामकर्म्म का उप-देश देती है" याद रखिए केवल यह सिद्धान्त वाक्य ही हमारा कल्याण नहीं कर सकता। हमें यह निश्चय करना पड़ेगा कि हम किस वर्ण में हैं, एवं तदनुसार हमें कौन सा कर्म्म करने का अधिकार है। "निष्काम कर्म्म करो" इस उपदेश की आड़ में सर्वथा अनधिकृत उच्छृंखल-कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हुए गीता की कल्पित व्याख्याएं बना लेना ही क्या गीतोद्देश्य की इतिश्री है।

अभी कुछ समय पहिले एक ऐसे ही व्यक्ति ने गीतार्थ के सम्बन्ध में अनधिकार चेष्टा की है। पश्चिमी-पूर्वीय साहित्य की तुलनादृष्टि से यद्यपि उस का प्रयास स्तुत्य है। परन्तु गीता के मूल उद्देश्य के सम्बन्ध में उसने बड़ी भ्रान्ति की है। देश के कल्पित कर्म्मवाद के प्रवाह में पड़ कर उसने गीता को कर्म्मयोगशास्त्र मान लिया है। उन की दृष्टि में गीता आत्मविद्याशास्त्र नहीं है, अपितु कर्म्मयोगशास्त्र है। अपनी इस लक्ष्यसिद्धि के लिए उन्हो ने उपक्रम-उपसंहार का पर्य्याप्त बल लगाया है। अवश्य ही यह इन की अनधिकारचेष्टा है। यदि गीता कर्म्मयोग शास्त्र होता तो इसे कभी उपनिषत् शब्द से सम्बोधित न किया जाता। कारण स्पष्ट है। कर्म्म—उपासना—ज्ञान इन तीनों का प्रतिपादन पूर्व कथनानुसार क्रमशः वेद के ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् भागों में हुआ है। कर्म्मयोग का सम्बन्ध एकमात्र ब्राह्मण भाग के साथ है। उपनिषत् ज्ञानयोग का सूचक है। तब तो गीता को ज्ञानयोगोपयिक उपनिषत् शब्द से व्यवहृत न कर कर्म्मयोगोपयिक ब्राह्मणशब्द से सम्बोधित करते हुए "भगवद्गीतब्राह्मण" कहना चाहिए था। उधर गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में "इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" इत्यादिरूप से उपनिषत् शब्द का सम्बन्ध सुना जाता है। उपनिषत् क्योंकि ज्ञानयोगशास्त्र है, एवं गीता भी क्योंकि उपनिषत् है। ऐसी दशा में हम इसे ज्ञानयोगशास्त्र, किंवा बुद्धियोगशास्त्र ही मानने के लिए तय्यार हैं।

कदाचित् आप प्रश्न करें कि उपनिषत्सु के आगे "योगशास्त्रे" यह सामान्य उप-संहार है। एवं योगशब्द "लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ" इस गीता सि-

द्धान्त के अनुसार कर्मयोग का सूचक है। ऐसी दशा में अवश्य ही गीता को कर्मयोगशास्त्र कहा जासकता है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि योग शब्द केवल कर्म का ही वाचक है, यह किस आधार पर मान लिया गया। सांख्य शब्द के साथ जहां योग शब्द आता है, वहां अवश्य ही योगशब्द कर्म का वाचक है। परंतु स्वतन्त्र रूप से उपात्त योगशब्द कभी कर्म्म का सूचक नहीं माना जासकता। आपको स्मरण रखना चाहिए कि गीता में जहां जहां स्वतन्त्र रूपसे योग शब्द आया है, वहां वहां वह सर्वत्र कर्म्मर्मित ज्ञानयोग, किंवा बुद्धियोग का ही सूचक है। एक स्थान पर तो-"दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय" यह कहते हुए भगवान् ने बुद्धियोग के सामने कर्मयोग की निन्दा तक कर डाली है। "योगः कर्म्मसु कौशलम्" "योगयुक्तात्मा" "योगी भवार्जुन" "सयोगी परमो मतः" "योगी नियतमानसः" "योगी विगतकल्मषः" "योगिनं सुखमुत्तमम्" "योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः" "स योगी मयि वर्त्तते" "कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी" इत्यादि स्थलों के योग, एवं योगी शब्द बुद्धियोग, एवं बुद्धियोगी के ही सूचक हैं। "ददामि तं बुद्धियोगं" के अनुसार भगवान् की ओर से बुद्धियोग का ही वर प्राप्त हुआ है। ऐसी दशा में उक्त "योगशास्त्रे" इस उपसंहार वाक्य को कभी कर्म्मयोगपरक नहीं लगाया जासकता। अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि यहां का योग शब्द कर्म का ही सूचक है, तो पूर्वविप्रतिपत्ति का निराकरण करना असम्भव हो जाता है। उपनिषत् शब्द ज्ञानयोग, किंवा बुद्धियोग के साथ ही सम्बद्ध है। कर्म्मयोग का सम्बन्धी तो ब्राह्मण शब्द है। योगशास्त्र से "कर्मयोगशास्त्रे" ही अभिप्रेत होता तो "इति श्रीमद्भगवद्गीतेषु ब्राह्मणेषु योगशास्त्रे" यह उपसंहार रहता। चूंकि योगशास्त्र के साथ उपनिषत् का सम्बन्ध है, एवं उपनिषत् शब्द बुद्धियोग का सम्बन्धी है तो ऐसी दशा में उपनिषत्पूर्वक पढ़े हुए योगशास्त्रे को कभी कर्मयोगशास्त्र परक नहीं माना जासकता।

गीता सचमुच एक रहस्यपूर्णशास्त्र है। इसके वास्तविक मार्ग पर पहुंच जाना कोई हंसी खेल नहीं है। कर्मयोगपक्षपातियों का कहना है कि गीता कभी ज्ञानयोग शास्त्र नहीं माना

जासकता । यदि भगवान् को ज्ञानयोग, किंवा संन्यास मार्ग ही अभीष्ट होता तो वे कभी ज्ञानयोग की निन्दा, एवं कर्मयोग की स्तुति न करते । देखिए ! भगवान् क्या कहते हैं ?

"न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।
नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः ।
कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि ॥"

उक्त वचनों के आधार पर तो हम इसी निश्चय पर पहुचते हैं कि गीता अवश्य कर्मयोग का ही पक्षपात करती है । ऐसी दशा में यदि हम गीता के "योगशास्त्र" को "कर्मयोग" का उपोद्वलक मानलें तो कोई आपत्ति नहीं है । बात कहने में बड़ी सुन्दर है, साथ ही में युक्ति एवं प्रमाण युक्त भी । फिर भी गीता को कर्मयोगशास्त्र नहीं कहा जासकता । कैसे ? सुनिए !

हम बतला आए हैं कि वेद के मन्त्र–ब्राह्मणरूप दो विभाग हैं । इन दोनों विभागों की मूलप्रतिष्ठा ज्ञान एवं कर्म हैं । विना ज्ञान के कर्म्म सभव नहीं है । इसी दृष्टि से महर्षियोंनें ज्ञातव्य–कर्तव्य भेद से वेद को दो भागों में विभक्त किया है । कुछ विषय जानने के हैं, एव कुछ विषय करने के हैं । विज्ञान–स्तुति–इतिहास यह तीन विषय ज्ञातव्य हैं । मन्त्रभागने इन तीन ज्ञातव्य विषयों का ही निरूपण किया है । कर्त्तव्य विषय कर्म्म–उपासना–ज्ञान भेद से तीन भागो में विभक्त हैं । ब्राह्मणभाग इन्हीं कर्त्तव्य विषयों का निरूपण करता है । जो ब्राह्मणभाग कर्म्म का निरूपण करता है, वह विधि नाम से, उपासनानिरूपक ब्राह्मणभाग आरण्यक नाम से, एवं ज्ञाननिरूपक ब्राह्मणभाग उपनिषत् नाम से प्रसिद्ध है । इन तीनो कर्त्तव्यो में से कर्म एवं ज्ञान के मध्यपतित उपासना योग ही बुद्धियोगनिष्ठा है । इन तीनों में कर्मयोग यज्ञद्वारा प्राप्त होने वाले ऐहलौकिक विजय का मार्ग बतलाता है । बुद्धियोग ईश्वरानुरक्ति द्वारा पारलौकिक शाश्वत सुखप्राप्ति का उपाय बतलाता है । एवं तीसरा ज्ञानयोग विशुद्ध ब्रह्म का निरूपक बनता हुआ परामुक्ति नाम से प्रसिद्ध कैवल्यमुक्तिपथ का अनुगामी बनाता है । बस हमारे यही

तीन पुरुषार्थ हैं। तीन से अतिरिक्त अभ्युदय, निःश्रेयस बतलाने वाले उपायान्तर का एकान्ततः अभाव है।

तीन से अतिरिक्त चौथा पुरुषार्थ नहीं है, इस का प्रत्यक्ष प्रमाण है लोकव्यवहार। लोक में उन्नति के सम्बन्ध में उक्त तीन निष्ठाएं हीं प्रचलित हैं। स्त्री-पुत्र-सम्पत्ति-राज्य-अनुचर-शारीर-सुख-स्वर्ग आदि सब लौकिक वैषयिक सुख हैं। इन लौकिक फलों की कामना से युक्त, मनुष्य ब्राह्मणोक्त नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्म्मों में प्रवृत्त होता है। यथाविधि कर्म्म करने से उसे यह काम्यफल मिल भी जाते हैं। जो गृहस्थी उक्त फलकामनामय त्रिविध कर्म्मों मे प्रवृत्त रहते हैं, पहिली कर्म्मनिष्ठा के मुख्यलक्ष्य वही गृहस्थी हैं। उक्त सम्पूर्ण कर्म्मकलापों की ओर से जिस ज्ञानी को परम वैराग्य होगया है, जो संसार को पतन की सामग्री समझ कर इस से विराम कर-लेता है, तीसरी कर्म्मत्यागलक्षणा ज्ञाननिष्ठा, किंवा सांख्यनिष्ठा ऐसे ज्ञानमूर्त्ति सन्यासी से ही सम-न्ध रखती है। मध्य का उपासनायोग स्वतन्त्र बच जाता है।

चूंकि उपासनात्मक इस बुद्धियोगनिष्ठा की सत्ता कर्म्मप्रवृत्तिलक्षण कर्म्मनिष्ठा, एवं कर्म्म-निवृत्तिलक्षण सांख्यनिष्ठा दोनों के मध्य में हैं, अतः इस में "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इस न्याय के अनुसार कर्म्म-ज्ञान दोनों का समाविष्ट होना सिद्ध हो जाता है। कर्म्मयोगनिष्ठा में निन्य, नैमित्तिक, काम्यभेद से जितनें कर्म्मों का संग्रह हुआ है, वे सब कर्म्म बुद्धियोगनिष्ठा में अन्तर्भूत हैं। अन्तर दोनो में केवल यही है कि उस में फलकामनामयी बुद्धि की प्रधानता थी, एवं इस में निष्काम बुद्धि की प्रधानता है। चूंकि इस में सर्वविध कर्म्मों का निष्काम बुद्ध्या ग्रहण है, अतएव इसे हम प्रवृत्तिनिष्ठा कहने के लिए तय्यार हैं। इसी दृष्टि से इस का हम कर्म्मयोग में अन्त-र्भाव मानने के लिए तय्यार हैं। सांख्यनिष्ठा में कर्म्म का परित्याग है तो इस निष्ठा में कामना का परित्याग है। परित्याग ही सांख्यनिष्ठा का स्वरूपधर्म्म है। कामनापरित्याग सम्बन्ध से बुद्धियोगनिष्ठा में निवृत्तिभाव का भी समावेश है। इसी दृष्टि से हम इस निष्ठा का ज्ञानयोगनिष्ठा में भी अन्तर्भाव मानने के लिए तय्यार हैं। इस प्रकार कर्म्मपरिग्रह सम्बन्ध से कर्म्मयोगत्व, एवं कामनापरित्याग से ज्ञानयोगत्व दोनों के समावेश से इस मध्यपतित योग का उभययोगत्व सिद्ध हो जाता है।

बुद्धियोग में सर्वविधकर्म्म व्यवस्थित हैं, दूसरे शब्दों में कर्म्म में पूर्ण प्रवृत्ति है, फिर भी कामना के न रहने से कर्म्मजनित वासना संस्कार का इस योग के अनुगमन में आत्मा पर लेप नहीं होता। अपेक्षाबुद्धिसहकृत कर्म्म ही संस्कारलेप का कारण है, एवं कामना ही अपेक्षा बुद्धि की जननी है। कामना के अभाव से बुद्धि में उपेक्षाभाव का उदय हो जाता है। उपेक्षाबुद्धि-सहकृतकर्म्म कभी संस्कारलेप के कारण नहीं बनते। फलतः इस बुद्धियोग का नैष्कर्म्यलक्षण ज्ञानयोग के साथ साधर्म्य सिद्ध हो जाता है। ज्ञानयोग में कर्म का अभाव है। बुद्धियोग में कर्म है, परन्तु कर्मफल रूप संस्कार लेप के न होने से इसका होना न होने के समान है। इसदृष्टि से अवश्य ही यह बुद्धियोग एक प्रकार का ज्ञानयोग बन जाता है। अन्ततोगत्वा हमारा यह बुद्धि-योग ज्ञानयोग में ही लीन होजाता है। यद्यपि कर्मप्रवृत्ति के कारण इसे कर्मयोग भी कहा जा सकता था। परन्तु चूंकि इस का उदर्क ज्ञान से ही संबन्ध रखता है, अतः इसे कर्म्मयोग का सम्बन्धी नहीं माना गया। कर्म्मयोग कर्म्मसंस्कारसत्ता पर निर्भर है, ज्ञानयोग नैष्कर्म्य भाव पर अवलम्बित है। मध्यपतित बुद्धियोग में कर्म्म के रहने पर भी कर्म्मसंस्कार नहीं हैं, इसलिए इसे कर्म्मयोग तो नहीं कहा जासकता। परन्तु कर्म्म रहने पर भी इसमें नैष्कर्म्य भाव अवश्य है, अतः ज्ञानयोग में अवश्य ही इसका अन्तर्भाव हो जाता है। स्वयं महर्षियोंने भी ऐसा ही माना है। बुद्धियोगरूपा मध्यनिष्ठा का मध्यस्थ आरण्यकभाग निरूपण करता है। मध्यपतित होने से इस में यद्यपि कर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मण, एवं ज्ञाननिरूपक उपनिषत् दोनों का ही समावेश है। फिर भी ऋषियोंने आरण्यक का कर्म्मप्रतिपादक ब्राह्मण के साथ सम्बन्ध न मान कर ज्ञान प्रतिपादक उपनिषत् के साथ ही सम्बन्ध माना है, जैसा कि–"बृहदारण्यकोपनिषत्" इत्यादि संकर व्यवहारों से स्पष्ट है। इस प्रकार बुद्धियोग के उभयधर्म्मावच्छिन्न होने पर भी इसकी ज्ञानयोग-प्रधानता ही सिद्ध होती है। यद्यपि बुद्धियोग है स्वतन्त्र वस्तु, परन्तु अन्तर्भाव यदि होसकता है तो ज्ञानयोग में ही।

कामनामूला आसक्ति से युक्त ऐहिक तुच्छ फल से सम्बन्ध रखने वाले कर्मयोग की अपेक्षा से, एवं सब कर्म्मों के आत्यन्तिक परित्यागलक्षण ज्ञानयोग की अपेक्षा से बुद्धियोग ही भग-

वान् की दृष्टि में सर्वश्रेष्ठयोग है। भगवान् ज्ञानयोग के ही पक्षपाती हैं। परन्तु वे इसमें थोड़ासा संशोधन करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि जिस वासना-लेप भय से दूर भागते हुए तुम कर्म्म का परित्याग करना चाहते हो, वह भय कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग से कभी दूर नहीं होसकता। इस के लिए तुम्हें कामना का ही परित्याग करना पड़ेगा-**"काम्यानांकर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः"** यदि कर्म छोड़ दिए, एवं कामना न छूटी तो यह संन्यास मिथ्याचार है। ऐसे संन्यास से तुम्हें कभी सिद्धि नहीं मिल सकती-**"न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति"** यदि कामना का परित्याग कर दिया तो कर्म्म छोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। हम मानते हैं कि कामना परित्याग के अनन्तर तुम्हारा कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। फिर भी जब कर्म्म से तुम्हारी हानि नहीं है, एवं लोक का उपकार है तो फिर तुम्हें लोकसंग्रहदृष्टि से ही सतत अपने नियत कर्म्म में आरूढ़ रहना चाहिए-**"नियतंकुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः" "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि"-"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि"**। बस ज्ञानयोग में उक्त संशोधन कर के ही उसे एक विलक्षण बुद्धियोग का रूप दिया गया। बुद्धियोगात्मक इसी संशोधित ज्ञानयोग का महत्व सूचित करते हुए भगवान् कहते हैं—

> **दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।**
> **बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥**
> **बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।**
> **तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम्॥**
> **तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्यश्च मतोऽधिकः।**
> **कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥**

केहने को ब्राह्मणभाग के ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् यह दो विभाग हैं। वस्तुतः ब्राह्मण, एवं उपनिषत् यह दो ही विभाग मुख्य हैं। इसी प्रकार कहने भर को कर्म्म-उपासना-ज्ञान तीन कर्त्तव्य विभाग हैं। वस्तुतः कर्म्म-ज्ञान दो ही विभाग हैं। फलतः कर्म्मनिष्ठा-बुद्धि-

निष्ठा-ज्ञाननिष्ठा यह तीन निष्ठाएं भी कहने हीं के लिए है। वस्तुतः कर्म्म-एवं ज्ञान भेद से दो ही निष्ठाएं मुख्य हैं। बात है भी ऐसी ही। उपासनात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा में कर्म्म-ज्ञान के अतिरिक्त और है क्या। फलतः इसे स्वतन्त्र निष्ठा मानना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं बनता। यदि बुद्धियोग नाम की तीसरी स्वतन्त्र स्वतन्त्र निष्ठा मानी जायगी तो निम्नलिखित गीता सिद्धान्त के साथ विरोध उपस्थित होगा। दो निष्ठाओं को भी मुख्य निष्ठा मानते हुए भगवान् कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥

जब बुद्धियोग नाम की कोई स्वतन्त्र निष्ठा नहीं तो अवश्य ही उक्त दोनों निष्ठाओं में से किसी एक में हीं इस का अन्तर्भाव मानना पड़ेगा। बस इसी बिन्दु पर आके कर्म्मपक्ष-पातियों ने भूल की है। कर्म्मयोग विधायक वचनों का वास्तविक मर्म्म न समझ कर सहसा वे यह मान बैठे कि गीता का बुद्धियोग कर्म्मयोग में ही अन्तर्भूत हैं, एवं गीता कर्म्मयोगशास्त्र ही है। वे भूल गए कि बुद्धियोग को यदि कर्म्म में अन्तर्भूत मान लिया जायगा तो– 'बृहदारण्यकोपनिषत् इस व्यवहार का कोई मूल्य नहीं रहेगा। साथ ही में कर्म्माभिनिवेश में पड़ कर वे यह भी भूल गए कि यदि बुद्धियोग को, किंवा उपसंहार में प्रयुक्त योगशास्त्रे" वाले योग को कर्म्मयोग परक मान लिया जायगा तो गीता का उपनिषत् व्यवहार प्रयत्न सहस्रों से भी सुरक्षित न रह सकेगा। क्यों कि पूर्व कथनानुसार उपनिषत् का ज्ञान के साथ सम्बन्ध है। उधर बुद्धियोग नैष्कर्म्यलक्षण ज्ञान का साधक बनता हुआ अवश्य ही उपनिषत् शब्द का सम्बन्धी बन सकता है। निष्कर्ष यही हुआ कि गीता बुद्धियोगनिष्ठात्मक ज्ञान योगनिष्ठामयी है। अतएव इसे ज्ञानयोगशास्त्र, किंवा बुद्धियोगशास्त्र ही माना जासकता है। किसी भी दृष्टि से, किसी भी प्रमाण से, किसी भी तर्क से गीता कर्म्मयोगशास्त्र नहीं माना जासकता। ज्ञानयोगत्व ही गीताशास्त्र के स्मार्त उपनिषत् व्यवहार में मूल कारण है।

गीता वेद का अन्तिम भाग न होती हुई भी उपनिषत् कैसे कहलाई ? इस प्रश्न का एक

समाधान पाठकों के सम्मुख रक्खा गया। परन्तु एक वैज्ञानिक उक्त समाधान से कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। फिर यह तो गीताविज्ञान भाष्य है। इस की तो प्रत्येक मीमांसा विज्ञानदृष्टि से ही होनी चाहिए। भारतीय प्राचीन विद्वान् जहां उक्त समाधान कर के विश्राम ले लेते हैं, वहां एक वैज्ञानिक मस्तिष्क उस प्राचीन विश्रामभूमि को अपनी गति की आरम्भभूमि समझता है। प्राचीनों की दृष्टि में अध्यात्मविद्यात्व, किंवा वेदान्तत्व भले ही उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक हो। परन्तु वैज्ञानिक इन दोनों को ही उपनिषत् का अवच्छेदक मानने के लिए तय्यार नहीं है। उस की दृष्टि में विज्ञानसिद्धान्तत्व ही उपनिषत् का अवच्छेदक है।

जिस प्रकार गीता शब्द कालान्तर में गीताशास्त्र में निरूढ बन गया है, एवमेव यच्चयावत् मौलिक विज्ञान सिद्धान्तो से सम्बन्ध रखने वाला उपनिषत् शब्द भी कालान्तर में ईश-केन-कठ आदि वेद के अन्तिम भाग में निरूढ होगया है। एतावता उपनिषत् की उस सर्वव्याप्ति को किसी दृष्टि से नहीं हटाया जासकता। कर्म्मयोग हो, उपासनायोग हो, अथवा ज्ञानयोग हो, सब के साथ उपनिषत् का सम्बन्ध है। कर्म–उपासना–ज्ञान सभी अपनी अपनी स्वतन्त्र उपनिषत् रखते हैं। इन्हीं उपनिषदों के आधार पर कर्म्म का कर्म्मत्व, उपासना का उपसनत्व, एवं ज्ञान का ज्ञानत्व प्रतिष्ठित है। जिस कर्म्म, उपासना, ज्ञान की कोई उपनिषत् नहीं, वह कर्म-उपासना-ज्ञान तीनों हीं निरर्थक हैं।

जिस प्रकार श्रद्धा, एवं विद्याभाव किसी विषय की प्रवृत्ति में मुख्य कारण हैं, वैसे ही उस विषय की उपनिषत् भी उस की प्रवृत्ति में अन्यतम कारण माना गया है। उस विषय के साथ गुणदृष्टि से मन का योग कर देना ही "श्रद्धा" है। श्रद्धा एक प्रकार का स्निग्धरस है। यही उस विषय एवं विषयी का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध कराती है। विना श्रद्धा के जिस विषय में जो आत्मा प्रवृत्त होता है, उस विषय के साथ उस आत्मा का कभी सम्बन्ध नहीं होता। कार्य-कारणभाव परिज्ञान ही विद्या है। विषय प्रवृत्ति में श्रद्धा के साथ साथ कार्यकारण सम्बन्ध परिज्ञान भी आवश्यक है। यही परिज्ञान मदिष्टजनकतापूर्विकामत्कृतिसाध्यता का जनक है। विद्या से भी कर्त्तव्यकार्य की शक्ति का अनुमान होता है। इसी अनुमान के बल पर हम उस कर्त्तव्य कर्म्म में प्रवृत्त

हो जाते हैं। तीसरा है प्रवृत्ति का अन्यतम हेतु उपनिषद्भाव। उस कर्त्तव्य कर्म्म का, किंवा जिस विषय में हम प्रवृत्त होना चाहते हैं, उस विषय का मौलिकज्ञान जिस मौलिकविज्ञान के आधार पर होता है, वही मौलिक विज्ञान उपनिषत् कहलाता है। स्वयं उपनिषद् शब्द भी अपने इसी अवच्छेदक को व्यक्त कर रहा है। उपनिषद् शब्द में उप-नि-षद् यह तीन विभाग है। उप का अर्थ है **समीप**, नि का अर्थ है **निश्चय**, षद् का अर्थ है **प्रतिष्ठा**। जिस मौलिक उपपत्ति के आधार पर हमारा आत्मा जिस विषय के समीप निश्चय रूप से बैठ जाता है, वह मौलिक उपपत्ति ही **"उप-नि-षीदति यया"** इस निर्वचन के अनुसार उपनिषत् नाम से व्यवहृत हुई है। यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि जिस विषय का हमें रहस्यज्ञान, किंवा मौलिक उपपत्ति मालूम हो जाती है, उस विषय में हमारी पूरी निष्ठा हो जाती है। यही निष्ठा उस विषय में हमारी श्रद्धा करवाती है। यज्ञोपवीत धारण करने का कोई रहस्य है। यदि वह रहस्य हम जान लेते है तो यज्ञोपवीत पर हमारी पूरी भक्ति हो जाती है। एवं इसी भक्ति से आकर्षितमना वन कर हम अपनी इच्छा से विना किसी की प्रेरणा के यज्ञोपवीतधारण करने में प्रवृत्त हो जाते है। उपनिषद् शब्द का यही रहस्यार्थ है।

साधारण दृष्टि से हम यह मानते आरहे हैं कि कर्म्ममय संसार, एवं सांसारिक कर्म्म-बंधन के कारण हैं। इसी प्रकार शास्त्रीय यज्ञ–तप–दानादि कर्म्म क्षणिक स्वर्गादि सुख के कारण बनते हुए भी परिणाम में शाश्वत आत्मानन्द के विघातक ही हैं। इसी कल्पित कर्म्मोपनिषत् से हमने कर्म्मत्याग को निःश्रेयसभावप्राप्ति का मुख्य कारण मानते हुए कर्म्ममार्ग का तिरस्कार, एवं ज्ञानमार्ग का आदर कर रक्खा है। इस सम्बन्ध में गीताशास्त्र कर्म एवं ज्ञान की वास्तविक उपनिषत् बतलाता हुआ हमें ज्ञानमय, अतएव बुद्धियोगलक्षण कर्म्म में प्रवृत्त करता है। गीताने ज्ञान–कर्म्मोभयात्मक जिस बुद्धियोग की मौलिक उपपत्ति बतलाई है, यदि उसे हम जान लेते हैं तो न कर्ममार्ग पर ही हमारा अश्रद्धा होती, एवं न उसे हम हानिकर ही समझते। चूंकि गीताशास्त्र बुद्धियोग का मौलिक रहस्य बतलाता है, एवं इस के परिज्ञान से हमारा आत्मा बुद्धियोग के समीप (उप) निश्चय (नि) रूप से बैठ (षद्) जाता है, अतएव बुद्धियोगरहस्यप्रतिपादिका गीता को हम अवश्य ही स्मार्त्त उपनिषत् कह सकते है। उदाहरण

के लिए यज्ञप्रक्रिया को ही लीजिए । यज्ञकर्म्म की सिद्धि के लिए वेदि का निर्माण होता है। गार्हपत्य-आहवनीय-दक्षिणाग्निकुण्ड बनाए जाते हैं। इन सब का आकार सन्निवेश सर्वथा नियत है। आहवनीय कुण्ड चतुष्कोण होता है, इसे वेदि के पूर्व भाग में बनाया जाता है। गार्हपत्य कुण्ड गोलाकार, एवं वेदि के पश्चिमभाग में प्रतिष्ठित रहता है। दक्षिणाग्निकुण्ड वेदि के दक्षिणभाग में, वेदि के मध्य भाग के सामने रहता है । आप प्रश्न करेंगे, ऐसा क्यों ? क्यो नहीं गार्हपत्य चतुष्कोण, एवं आहवनीय गोलाकार बना लिया जाता ? इन सब प्रश्नों का उत्तर वही मौलिक रहस्य है। इस यज्ञ का स्वरूप निर्म्माण पुरुषयज्ञ (मनुष्य) के आधार पर हुआ है। पुरुषयज्ञ का जैसा स्वरूप है, वैसा ही स्वरूप इस वैध यज्ञ का बनाया जाता है । वैध यज्ञ की उपनिषत् पुरुषयज्ञ ही है, जैसा कि-"**पुरुषो वै यज्ञः**"-"**यज्ञो वै पुरुषः**" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है।

मनुष्य एक आध्यात्मिक यज्ञसंस्था है। पार्थिव अग्नि ही गृहपति है। यह जिस स्थान में प्रतिष्ठित रहता है, वही गार्हपत्यकुण्ड है। शरीर के पश्चिम भाग में नाभि से नीचे वर्त्तुल वस्तिगुहा गार्हपत्य है। इसी में अपान नाम से प्रसिद्ध गार्हपत्याग्नि प्रतिष्ठित है। चतुष्पटल शिरोभाग ही चतुष्कोण आहवनीय है। इस में दिव्य प्राणाग्नि प्रतिष्ठित है। सायं प्रातः इसी अग्नि में आध्यात्मिक प्राणदेवताओं को तृप्त करने के लिए अन्नाहुति दी जाती है। इसी प्रकार शरीररूप वेदि के दक्षिणभाग में अन्नपरिपाक करने वाला जाठराग्निकुण्ड प्रतिष्ठित है। इसी को पित्ताशय कहते हैं। इसी आध्यात्मिकी यज्ञोपनिषत् के आधार पर पूर्वोक्त यज्ञ का स्वरूप संपन्न होता है। मनुष्य के आध्यात्मिक यज्ञ का स्वरूप ऐसा कैसे बना ? इस का उत्तर प्राकृतिक संवत्सर यज्ञ ही है। संवत्सरयज्ञ ही आधिदैविक यज्ञ है। जैसा इस का आकार है, ठीक वैसा ही आकार आध्यात्मिक यज्ञ का है। एवं इस का जैसा आकार है, वैसा ही आकार इस आधिभौतिक यज्ञ का है। आधिभौतिक (वैध) यज्ञ की उपनिषत् आध्यात्मिक यज्ञ है। आध्यात्मिक यज्ञ की उपनिषत् आधिदैविक यज्ञ है। एवं आधिदैविक यज्ञ की उपनिषत् सर्वतन्त्र स्वतन्त्र ईश्वर की स्वतन्त्र प्रज्ञा है।

निष्कर्ष यही हुआ कि जितनी भी यत्नेतिकर्तव्यताएं हैं, उन सब का प्रकृतिसिद्ध कोई न कोई मौलिक रहस्य अवश्य है। यह मौलिक विज्ञान ही तत्तत् कर्त्तव्य कर्म की उपनिषत् है। यही उपनिषत् कर्त्तव्य कर्म में श्रद्धा पूर्वक प्रवृत्त कराने का मुख्य द्वार है।

प्रमाण भक्त प्राचीन व्याख्याता उपनिषत् शब्द के पूर्वोक्त अर्थ को अप्रामाणिक मान बैठेंगे, इस की हमें चिन्ता नहीं है। हम कह सकते हैं कि उपनिषत् का जो सीमित अर्थ उन्होंनें मान रक्खा है, वह अवश्य ही प्रमाणाभाव से अप्रामाणिक माना जासकता है। परन्तु जिस विज्ञान-सिद्धान्तत्व को हमने उपनिषत् का अवच्छेदक माना है, उस की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं किया जासकता। यही नहीं, वह प्रमाण भी स्वयं प्राचीनो के ही मुख से निकला होगा। शारीरक सूत्रों के भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं—

"आरण्यामियान्न पुनरेयादित्युपनिषदिति वैखानसेभ्यो नियमो विधीयते"।
(शारी० ३।४।६८)।

उक्त वचन का तात्पर्य यही है कि "सन्यासी सब परिग्रहों को छोड़कर जब वन में चला जाय तो वापस न लोटे, संन्यास की यही उपनिषत् है"। क्या यहा ईश–केन–आदि वेद के अन्तिम भागों का ग्रहण है ? नहीं तो किस आधार पर आपने (प्राचीनों ने) वेदान्तत्व को उपनिषत् का अवच्छेदक मान लिया ? और लीजिए—

'नाना तु विद्या चाविद्या च। स यदेव विद्यया करोति,
श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति"। ((छां०उप. १।१।१०)।

"जो कर्म विद्या, श्रद्धा, एवं उपनिषत् पूर्वक किया जाता है, वह अधिक दृढ़ होता है" इस छान्दोग्य वचन में किस अभिप्राय से उपनिषत् शब्द का प्रयोग हुआ है ? यह विचार कीजिए। अवश्य ही यहा का उपनिषत् शब्द एकमात्र मौलिक रहस्य का ही वाचक है। इसीं प्रकार अपने इसी रहस्यार्थ को अपने गर्भ में रखता हुआ उपनिषत् शब्द तत्तत् स्थलविशेषों में प्रयुक्त हुआ है। उनमें से सन्तोष के लिए कुछ एक वचन यहा उद्धृत कर दिए जाते है।

१—तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत् । (शत० १०।४।५।१)

२—अथादेशा उपनिषदाम् (शत० १०।४।५ १)

३—अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच उपनिषत् । (ऐ० आ० ३।२।५)

४—वेदस्योपनिषत् सत्यं, दानस्योपनिषद्दमः ।

दमस्योपनिषद्दानं, दानस्योपनिषत्तपः ॥१॥

तपसोपनिषत्त्यागः, त्यागस्योपनिषत् सुखम् ।

सुखस्योपनिषत् स्वर्गः, स्वर्गस्योपनिषच्छमः ॥२॥

(महा० शान्तिप० मोक्ष० २५१ अ० ११-१२ श्लो०) ।

उपनिषत् शब्द के उक्त वैज्ञानिक अर्थ से किंकर्तव्यविमूढ बने हुए प्राचीनों के जब सब द्वार बंद होजाते हैं तो वे अपने इसी क्षोभ में इस सम्बन्ध में हमारे सामने एक प्रश्न उपस्थित कर देते हैं । प्रश्न का स्वरूप यह है । "ईश-केन-कठ आदि को उपनिषत् शब्द से सम्बोधित करना चिरन्तन सम्प्रदाय है । सभी विद्वान् एक स्वर से यह मानते आरहे हैं कि कर्म प्रतिपादक वेद भाग ब्राह्मण नाम से, उपासना प्रतिपादक वेदभाग आरण्यक नाम से, एवं ज्ञानप्रतिपादक वेद भाग उपनिषत् नाम से प्रसिद्ध है । जिस प्रकार ब्राह्मण शब्द शतपथ-ताण्ड्य-गोपथ आदि वेदग्रन्थों में ही निरूढ है, जैसे आरण्यक शब्द ऐतरेय-तैत्तरीय-शाङ्खायन आदि वेदग्रन्थों में ही निरूढ है, एवमेव उपनिषत् शब्द को ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्डक-माण्डूक्य आदि वेद के अन्तिम ग्रन्थो में निरूढ मानना ही वृद्ध व्यवहार से सर्वसम्मत है । एवं वृद्धव्यवहार ही शक्तिग्राहक व्याकरण-उपमान-कोश-आप्तवाक्यादि में शिरोमणि माना गया है । अवश्य ही इस वृद्धव्यवहारमूलक चिरन्तन व्यवहार में कोई मूल होगा । यदि वेदान्तत्व उपनिषत् का अवच्छेदक न होकर उपपत्तिज्ञान ही उपनिषत् का अवच्छेदक होता तो ईशादि उपनिषदों की तरह शतपथ-ऐतरेयादि ब्राह्मण-आरण्यक ग्रन्थ भी उपनिषत् शब्द से सम्बोधित देखे सुने जाते, क्योंकि इन दोनों ही वेद भागों मे पद पद पर प्रत्येक कर्म्म का मौलिक रहस्य प्रतिपादित हुआ है । परन्तु हम देखते हैं कि केवल ईशादि उपनिषदों को छोड़कर कोई

भी ब्राह्मणग्रन्थ, एवं कोई भी आरण्यक ग्रन्थ उपनिषत् नाम से सम्बोधन में नहीं आता। ऐसी दशा मे चिरकाल से चले आने वाले इस साम्प्रदायिक वृद्धव्यवहार के आधार पर हमें यही कहना पड़ता है कि उपनिषत् का एकमात्र अवच्छेदक ज्ञानयोगपूर्वकत्व वेदान्तत्व ही है। ज्ञानयोग के निरूपण के साथ साथ ईशादि वेदग्रन्थ वेद के अन्तिम भाग होनें से वेदान्त हैं। फलतः इन्हे हीं उपनिषत् शब्द से सम्बोधन करना न्यायसिद्ध हो जाता है। यद्यपि गीता के साथ वेदान्तत्व का सम्बन्ध लागू नहीं होता, फिर भी ज्ञानयोग का निरूपण करने के कारण, साथ ही में पूर्णावतार कृष्ण के द्वारा उपदिष्ट होने के कारण श्रौता उपनिषत् के समकक्ष मानते हुए आदरभाव को व्यक्त करने के लिए व्यासादिने (इसके उपनिषत् न होने पर भी) गीता को उपनिषत् कह दिया है।

प्रश्न बड़ा सुन्दर है। परन्तु उत्तर के सामने इस का सारा सौन्दर्य विलीन हो जाता है। हम वृद्धव्यवहार के विरोधी नहीं है। सम्भवतः आप से अधिक हम प्राचीन सम्प्रदायपरम्परा का समादर करते है। फिर भी वेदान्तत्व को हम कभी उपनिषत् का अवच्छेदक मानने के लिए तय्यार नहीं है। हमारे इस दुराग्रह का समाधान आगे की पङ्क्तियों से भलीभाति हो जाता है।

मौलिक रहस्य विज्ञान को हमने उपनिषत् कहा है। कर्म्मभेद से इस उपनिषत् के तीन विभाग हो जाते है। कुछ कर्म्म क्रत्वर्थ है, कुछ कर्म्म पुरुषार्थ हैं। तीसरा विभाग सामान्य रूप से कर्म्मत्वेन कर्म्म का है। जिस कर्म्म से हमे फल मिलना है, वह पुरुषार्थ कर्म्म है। फलप्रदान करने वाला कर्म्म एक महाकर्म्म है। इसी को सङ्केत भाषा में क्रतु कहा जाता है। अनेक छोटे छोटे कर्म्मों से इस महा कर्म्म का स्वरूप निर्म्माण होता है। बस जिन अङ्ग कर्म्मों से एक अङ्गी क्रतु का स्वरूप निष्पन्न होता है, वे अङ्गभूत अवान्तर छोटे छोटे कर्म्म हीं (क्रतु के लिए आत्मसमर्पण करने के कारण) क्रत्वर्थ कहलाते है। क्रत्वर्थ-एवं पुरुषार्थ दोनो कर्म्मों का फलाभिसन्धि से सम्बन्ध है। फलाकांक्षा छोड़ देने पर इन का क्रत्वर्थ-पुरुषार्थरूप (वैय्यक्तिकभाव सम्बन्धी) विशेष भाव हट जाता है। उस समय इन्हें केवल "कर्म्म" शब्द से ही व्यवहृत किया जाता है। इस प्रकार कर्म्म के क्रत्वर्थ, पुरुषार्थ, सामान्यकर्म्म भेद से तीन विभाग हो जाते हैं।

उक्त तीनों कर्म्मों की उपनिषत् सर्वथा भिन्न भिन्न है। क्रत्वर्थ कर्म्मों की उपनिषदों का स्वरूप पृथक् है, पुरुषार्थ कर्म्मों की उपनिषदों का स्वरूप पूर्व से भिन्न है, एवं सामान्य कर्म्मों की उपनिषदें अपना स्वरूप स्वतन्त्र रखती हैं। क्रत्वर्थ कर्म्म अङ्गभूत होने से संख्या में विशेष हैं। व्रतोपायन, अप उपस्पर्श, आचमन, प्राणायाम, ब्रह्मवरण, दीक्षा, पुरोडाशसम्पादन, कपालोपधान, इध्मसन्नहन आदि छोटे छोटे जितने भी क्रत्वर्थ कर्म्म हैं, उन सब की उपनिषदें (मौलिकउपपत्ति) तो स्वयं ब्राह्मण भाग में उन उन कर्म्मों के साथ ही बतला दी गई हैं। चूंकि यह सब उपनिषदें कर्म्मप्रधान ब्राह्मण की प्रधानता से अभिभूत हैं, अतएव इन्हें विशेष रूप से उपनिषत् शब्द से व्यवहृत करने का अवसर नहीं आता। पुरुषार्थ कर्म्मों में से कुछ की उपनिषदें तो स्वयं ब्राह्मण ने ही बतला दी हैं। एवं जिन का महाविज्ञान से सम्बन्ध था, उन का उपनिषद् भाग में ही निरूपण किया गया है, जैसा कि उदाहरण सहित **उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका** में बतला दिया गया है। जो पुरुषार्थकर्म्मोपनिषदें ब्राह्मण भाग में आगईं हैं, उन को भी क्रत्वर्थकर्म्मोपनिषदों की तरह उपनिषत् शब्द से व्यवहृत करने का अवसर नहीं है।

शेष रहतीं हैं, सामान्यकर्म्मोपनिषदें। बोधसौकर्य्य के लिए कारुणिक महर्षियोंनें उन का स्वतन्त्ररूप से निरूपण कर दिया है, वे ही स्वतन्त्रग्रन्थ वेद के अन्तिम भाग होने से वेदान्त नाम से, एवं उपनिषत् प्रधान होने से उपनिषत् नाम से व्यवहृत हुए हैं। कर्म किया ही क्यो जाय? इस की उपनिषत् ज्ञान है। ज्ञानोदय के बिना शाश्वत शान्ति नहीं मिल सकती, एवं बिना कर्म के ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। किन कर्म्मों से ज्ञान का उदय होता है? कर्म का अनुष्ठान किस प्रकार करना चाहिए? संस्कार जनक कर्मों का संस्कारत्व किस उपाय से हटाया जासकता है? उपनिषद्ग्रन्थ इन्हीं प्रश्नो का समाधान करता हुआ ज्ञान को, किंवा बुद्धियोग को अपना लक्ष्य बनाता है। इसी आधार पर उपनिषत् ज्ञानयोग का प्रतिपादक मान लिया गया है। परन्तु इससे यह कभी सिद्ध नहीं होसकता कि उपनिषत् का अवच्छेदक एकमात्र आत्मविद्यात्व, किंवा वेदान्तत्व ही है।

थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि उपनिषत् का अवच्छेदक वेदान्तत्व ही है। ईशादि ग्रन्थ ही उपनिषत् कहला सकते हैं। यदि ऐसा है तो एक विप्रतिपत्ति हमारे सामने

ऐसी उपस्थित होती है कि जिसका निराकरण प्रयत्न सहस्रों से भी नहीं होसकता । वेदभक्तों को यह विदित है कि ईशोपनिषत् पहिली उपनिषत् है । यह उपनिषत् यजुर्वेदसंहिता का ४० वां अध्याय है । जिसे आप वेद का अन्तिम भाग कहते हैं, वह मन्त्रात्मक वेद का भाग बनता हुआ आदिभाग है । बतलाइए आपका वेदान्तत्व कहां गया । ऋषियोंने तो मन्त्रभाग तक को उपनिषत् शब्द से सम्बोधित करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक वेदान्तत्व नहीं है । अपितु मौलिक विज्ञान सिद्धान्त का ही नाम उपनिषत् है । ओर लीजिए । शतपथब्राह्मण ब्राह्मणग्रन्थों में अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह वेद का दूसरा भाग है । आप को यह सुनकर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि शतपथब्राह्मण नाम के वेद के द्वितीय भाग के १४ वे काण्ड का ही नाम सुप्रसिद्ध 'बृहदारण्यकोपनिषत्' है । ब्राह्मणभाग में उपनिषत् का समन्वय ! राम !! राम !!! कैसा अनर्थ । इस अनर्थ का उत्तर उसी वृद्धव्यवहार से पूंछिए ।

हम तो समझते हैं, उपनिषत् की इसी सर्वव्याप्ति को सिद्ध करने के लिए ऋषियोंनें केवल ब्राह्मणग्रन्थ में हीं ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत् तीनों का समन्वय कर दिया है । शतपथब्राह्मण घन्टाघोष पूर्वक ब्राह्मण है । साथ ही में उसी घोष के साथ शतपथ के १३ काण्डों में ब्राह्मण की प्रधानता है, एवं १४ वें काण्ड में आरण्यक-उपनिषत् का विवेचन है। इन सब विस्पष्ट परिस्थितियों के रहते भी जो प्राचीन वेदांतत्व को ही उपनिषत् का अवच्छेदक मानने का अभिनिवेश कर रहे हैं, उन के सम्बन्ध में–'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' इस सूक्ति का स्मरण हो आता है ।

उपनिषत् शब्द को ऐसा क्लिष्ट बनाने की कोई आवश्यकता नहीं हैं । यावनी भाषा जिसे "उसूल" कहती है, पाश्चात्य जगत् में जो प्रिंसिपल (Principle) कहलाता है, ठीक उसी अर्थ में उपनिषत् शब्द प्रयुक्त हुआ है । हां उसूल एवं प्रिंसिपिल शब्द निर्वचन प्रणाली से शून्य रहते हुए अवैज्ञानिक शब्द हैं । इधर हमारा उपनिषत् शब्द निर्वचनभाव के कारण वैज्ञानिक शब्द है । यही तो संस्कृत भाषा का महत्त्व है ।

पूर्व सन्दर्भ से जब यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक मौलिक विज्ञान सिद्धांत है तो अब इस गीताशास्त्र को उपनिषत् कहने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती। अध्ययात्मा, एवं बुद्धियोग गीताशास्त्र इन दोनों का मौलिक विज्ञान बतलाता है। न केवल विज्ञान ही बतलाता, अपितु साथ साथ उसे व्यवहार में लाने का बालबुद्धिसुलभ उपाय भी बतलाता है। ऐसी दशा में गीता किसी महत्त्वेतर की अपेक्षा न रखती हुई स्वतन्त्र रूप से अवश्य ही उपनिषत् है।

इति-उपनिषच्छब्दरहस्यम्।

— ३ —

४—भगवद्गीतोपनिषत्—नामरहस्य

व्यष्टिरूप से पाठकों के सामने गीतानाममीमांसा रक्खी गई । अब संख्याविज्ञान पूर्वक समष्टिरूप से उक्त नाम की मीमांसा की जाती है । एक दर्शनभक्त के लिए जहां यह मीमांसा केवल कल्पना का साम्राज्य है, वहां एक वैज्ञानिक की दृष्टि में इस मीमांसा का बड़ा महत्व है । अवश्य ही एक दार्शनिक, किंवा एक साम्प्रदायिक मतवाद के अभिनिवेश के कारण अपनी कल्पना के विपरीत कुछ सुनना पसन्द नहीं करता । परन्तु विज्ञानदृष्टि को प्रधानता देने वाला, प्रत्येक विषय की उपपत्ति जानने की चेष्टा करने वाला एक विचारशील वैज्ञानिक प्रकृतिसिद्ध नित्यधर्म्म का अनुयायी बनता हुआ अवश्य ही इस मीमांसा को अपने साहित्यान्वेषण में सहायक समझेगा ।

नाम माहात्म्य कितनी विशिष्टता रखता है, यह बतलाने का अवसर नहीं है । आज जो भारतवर्ष में धर्म्मरक्षा हो रही है, उस का मुख्य श्रेय नामस्मरण को ही है । स्वयं वेद ने भी नाम (शब्द) को साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप माना है । और किसी साहित्य के सम्बन्ध में तो हमें कुछ कहने का अधिकार नहीं है, परन्तु संस्कृतसाहित्य के सम्बन्ध में तो हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि इस में तो सम्पूर्ण वैज्ञानिक रहस्य शब्दो में ही भरा पड़ा है । महर्षियो ने उन्हीं शब्दो का, उन्हीं नामों का प्रयोग किया है, जो अपनी संख्या, एवं अवयवसंनिवेश आदि की विलक्षणता से ही वैज्ञानिक भावो को प्रकट कर रहे हैं । यही नहीं, वैदिक साहित्य की तो यह भी प्रतिज्ञा है कि यदि कोई व्यक्ति शब्द ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप जान लेता है तो उसे विना किसी अन्य प्रयास के परब्रह्म का बोध हो जाता है । नाम तत्व की इसी विलक्षणता को प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं—

> द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत् ।
> शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

भारतीय वैज्ञानिकग्रन्थों के पद्य, श्लोक, वाक्य, शब्दो की कथा तो दूर है । उस का तो प्रत्येक अक्षर भी किसी गुप्त रहस्य से सम्बन्ध रखता है । विना प्रयोजन के एक स्वर, मात्रा, वर्ण का भी प्रयोग नहीं हुआ है । अपने इसी अतिशय के कारण शब्दविज्ञानवेत्ताओं (वैय्याकरणों) ने

परब्रह्मवत् शब्द को नित्य माना है। इसी विलक्षणता के कारण परमवैज्ञानिक वैदिक साहित्य अपौरुषेय कहलाया है। चूंकि गीता विज्ञानशास्त्र है, एवं विज्ञान में कोई वस्तु निरर्थक नहीं हो सकती। ऐसी दशा में हम कहेंगे कि "भगवद्गीतोपनिषद्" इस नाम का, नाम से सम्बन्ध रखने वाली अक्षर संख्या का अवश्य ही कोई मौलिक रहस्य है। उसी रहस्य का संक्षेप से दिग्दर्शन कराना इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है।

सामान्य दृष्टि से विचार करने पर गीता नाम का अर्थ करते हुए हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि–"यह स्मार्त्त उपनिषद् भगवान् के द्वारा गाई गई (विस्तार से कही गई) है, अतएव यह "भगवद्गीतोपनिषद्" नाम से सम्बोधित हुई है"। पूर्वकथनानुसार एक साम्प्रदायिक अवश्य ही इस अर्थ से सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु रहस्यार्थ के बिना एक वैज्ञानिक का केवल उक्त अर्थ से ही सन्तोष नहीं हो सकता।

पूर्व के उपनिच्छन्दरहस्य प्रकरण में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि मौलिक-रहस्य, मौलिकविज्ञान, किंवा मौलिक उपपत्ति को ही उपनिषत् कहा जाता है। किसी भी विषय के, किंवा कर्म्म के मौलिक रहस्य का जब हमें यथार्थज्ञान हो जाता है, दूसरे शब्दों में जब हम किसी विषय का तात्विक स्वरूप समझ लेते हैं तो उस विषय में हमारी पूर्ण श्रद्धा, एवं पूर्ण विश्वास हो जाता है। **"जिस रहस्यविज्ञान के परिज्ञान से हम जिस विषय के निकटतम, उस की गहराई में पहुंचने में समर्थ हो जाते हैं, वह रहस्यज्ञान ही उस विषय की उपनिषद् कहलाती है"**। 'उप-(बहुत नजदीक)-नि-(बिल्कुल गहराई में)-षद् (पहुंचने का, किंवा बैठने का साधन) ही उपनिषद् है। रहस्यज्ञान ही उपनिषत् है।

रहस्य शब्द भी कम रहस्य नहीं रखता। रहस्य शब्द उस तत्व का वाचक है, जो तत्व शास्त्रों में प्रत्यक्षरूप से प्रतिपादित न होकर परोक्षभाव से सम्बन्ध रखता है। आप को यह जान कर आश्चर्य होगा कि वैदिक साहित्य में तत्वों के जितने भी नाम प्रयुक्त हुए हैं, उन सब का परोक्ष-भाव से ही सम्बन्ध है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, अत्रि, मृत्यु, रथन्थर, आदि जितने भी नाम आप सुनते हैं, सब में परोक्षभाव का समावेश है। वास्तविक नामों को छिपा कर परोक्षप्रिय विद्वानों ने

उन के स्थानों में अग्नि-इन्द्रादि शब्दों का व्यवहार किया है। उक्त नामों के वास्तविक नाम क्रमशः अग्रि, इन्ध, वरण, अत्ति, मुच्यु, रसतम हैं। यही वैदिक साहित्य का रहस्यभाव है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है।

१—अग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षं, परोक्षकामा हि देवाः।

(शत०६।१।१।११)।

२—इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षं, परोक्षकामा हि देवाः।

(शत०६।१।१।२)।

३—तं वा एत वरणं सन्तं वरुण इत्याचक्षते परोक्षम्।

परोक्षकामा हि देवा प्रत्यक्षद्विषः। (गो० ब्रा०पू०१।७)।

४—अत्तिर्ह वै नामैतद्यदात्रिरिति। (शत०१४।५।२।२)।

५—तं वा एत मुच्युं सन्त मृत्युरित्याचक्षते परोक्षम्।

परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति, प्रत्यक्षद्विषः। (गो०पू०१।७)।

६—रसतमं ह वै तद् रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्।

(शत०६।१।२।३६)।

उक्त वचनों से हमें कैसे उदात्त लोकरक्षावृत्त का आदेश मिलता है, यह भी ध्यान में रखना चाहिए। सत्य की कल्पित परिभाषा बनाने वाले काल्पनिकों की कृपा से आज हम परोक्षभाव से सर्वथा पीछे हट गए हैं। हमने इसी में अपना महत्त्व समझ रक्खा है कि प्रत्येक विषय का, प्रत्येक कर्म्म का डिण्डिम घोष करते हुए हीं आगे बढ़ें। हमें यह पता नहीं है कि जिस विषय को रहस्य में नहीं रक्खा जाता, वह आत्मशक्ति से वञ्चित होता हुआ निर्बल बन जाता है। क्योंकि आत्मा सर्वथा परोक्ष है। फलतः सर्वत्र काम करती हुई भी आत्मशक्ति प्रत्यक्ष में नहीं आती। हमारा प्रत्येक कार्य रहस्य में होना चाहिए। मन्त्रणा ही कर्तव्य कर्म्म का जीवन है। किया कुछ नहीं, घोषणा सारे विश्व में कर दी, यही हमारी अवनति का मूल

कारण है। सचमुच आज हम बिलकुल फोश होगए हैं। आचार, व्यवहार, सम्भाषण सब में सत्यता का पुट लगाते हुए आज हम निर्लज्ज बन गए है, परोक्षभाव सर्वथा छोड़ दिया है, मर्यादा को जलाञ्जलि समर्पित कर दी है। इसी महाराजयक्ष्मा ने हमारे अन्तर्जगत् को खोकला कर डाला है। स्मरण रखिए आप अपने कर्तव्य में जितने ही गुप्त रहेंगे, आप की आत्मशक्ति उतनी ही अधिक विकसित होगी। शक्तिवृद्धि के लिए परोक्षभाव से बढ़कर अन्य उपाय का अभाव है।

अस्तु प्रसङ्ग यह था कि आर्यसाहित्य के प्रत्येक शब्द में गुप्त रहस्य रहता है। एवं वह गुप्त रहस्य या तो ईश्वरदत्त दिव्य अलौकिक प्रतिभा से सुरक्षित रहता है, अथवा गुरुपरम्परा में सुरक्षित रहता है। अपने परिमित सामान्य ज्ञान से विना किसी गुरू का आश्रय लिए केवल शब्दो के आधार पर उस रहस्य पर आप का आत्मा कभी नहीं पहुच सकता। जो व्यक्ति अपने बुद्धिवाद के अभिमान में पड़कर सम्प्रदाय की उपेक्षा कर अपने आप ही शास्त्रों के गुप्त रहस्य को जानने की चेष्टा करता है, उसका यह प्रयास सर्वथा व्यर्थ चला जाता है। गुरू हमें दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं। उसी दृष्टि के बल पर हम गुप्त रहस्यों पर पहुंचने में समर्थ बनते हैं। अर्जुन जैसा महाबुद्धिमान् मनुष्य भी तबतक उस बुद्धियेग को, भगवान् के उस गुप्त रहस्य को न समझ सका, न देख सका, जब तक कि भगवान् ने उसे दिव्यदृष्टि प्रदान नहीं कर दी। सच्छिष्य अर्जुन सद्गुरू कृष्ण के अनुग्रह से ही गीतोपनिषत् नाम के रहस्य-शास्त्र के सम्यक् परिज्ञान का अधिकारी बन सका। इस परिस्थिति से कहना हमें यही है कि केवल भाष्य, टीका, टिप्पणियों के आधार पर विना गुरुदीक्षा के रहस्य शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेना सर्वथा असम्भव है। अतएव आगमशास्त्र ने दीक्षा को ही ज्ञानप्राप्ति का मुख्य द्वार माना है। तन्त्र की दृष्टि से अदीक्षित मनुष्य किसी भी ज्ञान का अधिकारी नहीं है।

रहस्य रहस्य है, एकान्त की वस्तु है, गुप्तनिधि है। सभी मनुष्य इस के अधिकारी नहीं बन सकते। यही कारण है कि देवयुगकाल में होने वाली ब्रह्मपर्षदों में किसी कुलपति के उपदेश करने पर यदि कोई रहस्य की बात आजाती थी तो कुलपति गुरू सब के सामने उस

को प्रकट न कर अपने जिज्ञासु प्रिय शिष्य को हाथ पकड़ कर एकान्त स्थान में लेजाते थे, एवं उस रहस्य का उपदेश देते थे। महर्षि गार्ग्य ने अपने सच्छिष्य अजातशत्रु को इसी प्रणाली से रहस्य का उपदेश दिया था [देखिए शत० १४।५।१।]। रहस्य परिज्ञान रहसि [एकान्त] में होने से ही रहस्य कहलाता है, एवं उसके लिए प्रत्येक दशा में गुरुपरम्परा का आश्रय ही अपेक्षित है। इसी अभिप्राय से अभियुक्त कहते हैं—

१—यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥
(गीता० २।७)।

२—स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ (गीता० ४।३।)।

३—तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ (४।३४।)।

सचमुच गीता एक रहस्य शास्त्र है। रहस्यज्ञान ईश्वरीय ज्ञान होने से ईश्वर की देन है। इसीलिए तो इस रहस्यग्रन्थ [वेद] को महर्षियों ने अपौरुषेय कहा है। ऋषियों के पवित्र अन्तःकरण में उन के अजस्र तपःप्रभाव से जिस अलौकिक रहस्य ज्ञान का, किंवा ईश्वरीय ज्ञान का उदय हुआ, उसी को उन्हों ने मन्त्रवाक् द्वारा संसार के सामने रक्खा। यही इलहाम है, पाक साफ खुदा के पाक साफ कलाम है। यही वेद है। इधर हमारा गीताशास्त्र यद्यपि वेद नहीं है, परन्तु रहस्यज्ञानात्मक यह गीताशास्त्र भी श्रुति से कम महत्त्व नहीं रखता। तभी तो यह [स्मृति होते हुए भी] उपनिषत् शब्द से सम्बोधित हुआ है।

श्रौती उपनिषत्, एवं इस स्मार्त्ती गीतोपनिषत् में विज्ञान दृष्टि से यद्यपि समानता है। तथापि वाक्दृष्टि से दोनो में अहोरात्र का अन्तर है। इसी अन्तर के कारण इसे अपौरुषेय नहीं माना गया, इसीलिए इस की गणना श्रुतिशास्त्र में नहीं की गई, अतएव इसे वेदवत् स्वतःप्रमाण नहीं माना गया। श्रौती उपनिषत् का जहां विज्ञानवाक् से सम्बन्ध है, वहां इस स्मार्त्ती गीतोप-

निपद् का शब्दवाक् से सम्बन्ध है। विज्ञानवाक् को मन्त्र कहा जाता है। मन्त्र की परिभाषा सर्वथा स्वतन्त्र है। प्राकृतिक विज्ञान तत्व का जिस रूप से, जिस उच्चावचभाव से, जिस स्वरलहरी से प्रकृति में सन्निवेश है, ठीक उसी की प्रतिकृति पर जिस वाक् का सन्निवेश हुआ है, वही वाक् विज्ञानवाक् कहलाती है, उसे ही मन्त्र कहा जाता है। जो महत्व मन्त्रप्रतिपाद्य विषय का है, वही महत्व तद्वाचक मन्त्र का है, यही मन्त्र का मन्त्रत्व है। उदाहरण के लिए गायत्रीमन्त्र को ही लीजिए। अग्निप्रधान देवता गायत्र है। वह गायत्री छन्द से छन्दित रहता है। गायत्री मन्त्र उस गायत्री तत्व की प्रतिकृति है। गायत्री मन्त्र में उसी के अनुसार उदात्तादि स्वरों का समावेश हुआ है। यदि उस गायत्री देवता को आप अपने अध्यात्मजगत् में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं तो गायत्री मन्त्र का जप कीजिए। चूंकि यह उस की प्रतिकृति है, अतएव इस के अजस्र जप से समानाकर्षण सिद्धान्त के अनुसार वह देवता आकर्षित होता हुआ आप के आत्मा में प्रतिष्ठित हो जायगा। यदि आप ने मन्त्रप्रयोग में एक मात्रा की, स्वर की, वर्ण की भी त्रुटि कर डाली तो सम्बन्ध टूट जायगा, एवं उस दशा में वही मन्त्र अभ्युदय के स्थान में नाश का कारण बन जायगा। साथ ही में आप को यह भी ध्यान रखना पड़ेगा कि, आप गायत्रीदीक्षा के अधिकारी हैं, अथवा नहीं। एकहेलया सभी गायत्री जप करने लगें, यह असम्भव है। जिस के अन्तरात्मा में जन्म से बीज रूप से इस देवता की प्रतिष्ठा होती है, वही द्विजाति कहलाता है। वही इस दीक्षा का अधिकारी है। इसीलिए धर्मसूत्रों ने शूद्र को इस सम्बन्ध में अनधिकारी माना है। वक्तव्य यह है कि मन्त्र का स्वरूप सर्वथा निश्चित है, एवं उस के उसी रूप से प्रयोग करने में लाभ है। यदि कोई मन्दबुद्धि भाषान्तर में उस का जप करने का दुःसाहस करता है तो यह उस की भ्रान्ति है। मन्त्र बाजारू सौदा नहीं है। मन्त्र मन्त्र है, रहस्यविज्ञान की प्रतिच्छाया है। जरा भी गड़ बड़ कर देने से मन्त्रशब्द दुष्ट हो जाता है, इष्टजनकता के स्थान में अनिष्ट जनक बन जाता है। देखिए इस सम्बन्ध में श्रुति क्या कहती है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

गीताशास्त्र का शब्दवाक् से सम्बन्ध है। इसीलिए हम गीता के श्लोकों को मन्त्र न कह-कर श्लोक शब्द से ही सम्बोधित करते हैं। जिह प्रकार वेद का पारायण एक विशेष महत्व रखता है, वैसे गीताश्लोकों के पारायण का कोई विशेष महत्व नहीं है, इन के जप से कोई विशेष सिद्धि नहीं है। यद्यपि शब्दविज्ञान के अनुसार पारायण भी कालान्तर में अवश्य ही अतिशय का कारण बन जाता है, इसीलिए गीतामाहात्म्य में गीतापारायण को भी महत्व दिया गया है, तथापि विशेष लाभ गीतार्थ के अनुसरण पर ही अवलम्बित है। मन्त्रवाक् की शब्द भी उपयोगी है, परन्तु शब्द-वाक् का अर्थ ही प्रधानरूप से हमारा उपकारक बनता है। बुद्धियोग शब्द सुनने से ही हमारा कल्याण नहीं हो जाता। अपितु इस के लिए हमें बुद्धियोगसम्पत्ति प्राप्त करनी पड़ेगी। विज्ञानवाक्, एवं शब्दवाक् में यही अन्तर है। इसी अन्तर ने गीतोपनिषत् को श्रौती उपनिषत् से पृथक् कर रक्खा है। वेद जैसे ईश्वरकृत है, तथैव गीताज्ञान भी ईश्वरावतार श्रीकृष्णद्वारा उद्भावित है। मनुष्यों के द्वारा विरचित शास्त्रों के शब्दों में भले ही कोई विशेष रहस्य न हो, परन्तु ईश्वरीय गीता-शास्त्र अवश्य ही किसी निगूढ रहस्य से सम्बन्ध रखता है।

गीताशास्त्र चतुर्विध बुद्धियोगो के द्वारा चतुर्विध क्लेशो को हटाता हुआ आत्मा में धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य इन चार भगों के उदय का कारण बनता है। गीता एकमात्र क्लेशनिवृत्तिपूर्वक भगप्राप्ति का उपाय बतलाती है। जिस मनुष्य की बुद्धि में भग प्रतिष्ठित रहेगा, यह उपनिषत् उसी की उपनिषत् होगी। गीता भग-वान् की है। जो इसे अपनी मूलप्रतिष्ठा बना लेता है, वह अपनी प्रातिस्विक भगसम्पत्ति से युक्त होता हुआ अवश्य ही भग-वान् बन जाता है। "गीता भग प्राप्ति का उपाय बतला कर जीव को भगवत् सम्पत्ति से युक्त कर देती है"। इसी रहस्य को सूचित करने लिए व्यास ने इसे "भगवद्गीतोपनिषत्" [भगवत् प्राप्ति का उपाय बतलाने वाली गीतोप-निषत्] नाम से सम्बोधित करना आवश्यक समझा है।

भगसम्पत्ति का प्रदाता यह गीताशास्त्र केवल विधि—निषेधात्मक शास्त्र ही नहीं है। इसमें मन्वादि अन्य स्मृतियों की तरह "यह करो वह मतकरो"—इस प्रकार की आज्ञा एवं निषेधों का ही सग्रह नहीं है। अपितु इस सम्बन्ध में जो शैली श्रौती उपनिषत् की है,

वही शैली इसकी भी है । मन्वादि स्मृतियों का कर्त्तव्य केवल विधि–निषेधभावों पर ही समाप्त हो जाता है । वे धर्म्म का मौलिक रहस्य बतलाने में तटस्थ हैं । यदि उनसे कोई रहस्य ज्ञान की जिज्ञासा करता है तो उनकी ओर से इस जिज्ञासु को– 'धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" यह उत्तर मिलता है । उत्तर का अभिप्राय यही है कि यदि तुम धर्म्म के रहस्य-ज्ञान की जिज्ञासा रखते हो तो इस के लिए तुम्हे वेद की शरण में ही जाना चाहिए । वही मौलिक रहस्य का उपदेश है । ठीक यही स्थिति गीता की समझिए । विधि–निषेधभावों के साथ साथ गीता वेद पर अपना भार न छोड़कर–"इसलिए ऐसा करो, इसलिए ऐसा मत करो" इत्यादि उपपत्तिएं भी स्वयं बतला देती है । मौलिक उपपत्ति ही तो ज्ञानकर्म का रहस्य है, रहस्य ही तो उपनिषत् है । इसीलिए अपने विधि–निषेधभावों के कारण जहां गीता की अनुमान-प्रमाणरूप स्मृतिशास्त्र में गणना की है, वहां श्रुतिवत् रहस्यज्ञान का प्रतिपादन करने के कारण इसे उपनिषत् भी कहना उचित मान लिया गया है । इस प्रकार भगवत् शब्द भगभाव का सूचक है, गीताशब्द शब्दशास्त्र का सूचक है, एवं उपनिषत् शब्द रहस्य ज्ञान का परिचायक है । गीताशास्त्र से भगवद्भाव की प्राप्ति होती है, इसलिए यह भगवत् है । यह शास्त्र शब्द वाङ्मय है, इसलिए यह गीता है । यह शास्त्र रहस्य का प्रतिपादक है, इसलिए यह उपनिषत् है । इस दृष्टि से "भगवद्गीतोपनिषत्" इस नाम का "भगवत्प्राप्त्युपायभूतशब्दवाङ्मयरहस्यशास्त्र" यही निष्कर्ष निकलता है । यही इस नाम की द्वितीय व्याख्या है ।

१–भगवत्प्राप्त्युपायभूतं-शास्त्रम्–→भगवत्,
२–शब्दवाङ्मयं-शास्त्रम् ————→गीता
३–रहस्यज्ञानमयं-शास्त्रम् ————→उपनिषत्
} →"भगवद्गीतोपनिषत् शास्त्रम्"

प्रकारान्तर से विचार कीजिए । शब्दब्रह्मरहस्यवेत्ता विद्वानों को यह विदित है कि व्यञ्जन एक भिन्न वस्तु है, एवं स्वर एक स्वतंत्र तत्व है । इन दोनों का आलम्बन, अतएव

सर्वालम्बन स्फोट एक तीसरा ही तत्व है । व्यञ्जन अर्द्धमात्रिक है, स्वर मात्रिक है, एवं स्फोट अमात्रिक है । व्यञ्जन की प्रतिष्ठा स्वर है । इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि विना स्वर को आधार बनाए आप विशुद्ध व्यञ्जन का उच्चारण नहीं कर सकते । इसी प्रकार स्वर की प्रतिष्ठा स्फोट है । इसी से अर्थ स्फुट होता है ।

यह एक बड़ा ही चमत्कार है कि जहां व्यञ्जन अपनी प्रतिष्ठा, किवा स्थिति के लिए केवल एक विन्दु की अपेक्षा रखता है, वहां स्वर स्वप्रतिष्ठाके लिए २ विन्दुओं का आश्रय लेता हुआ ९ विन्दुओं को अपना व्याप्ति स्थान बनाता है । ९ विन्दुओं में से ५–६ इन दो विन्दुओ पर तो स्वय स्वर उक्थ [मूलविम्ब] रूप से प्रतिष्ठित रहता है, एवं शेष ७ विन्दुओ में [४ पूर्व की विन्दुओ, एवं ३ उत्तर की विन्दुओं में] वही स्वरतत्व अर्क (रश्मि) रूप से व्याप्त होता है । अपने इन्ही अर्कों के आधार पर स्वर व्यञ्जनो को अपने धरातल पर प्रतिष्ठित रखता है । स्वर का ऐसा स्वरूप क्यो है ?, यह ९ विन्दुओं में ही अपनी व्याप्ति क्यों रखता है ?, व्यञ्जन क्यो नहीं विना स्वर के उच्चारण का विषय बनता ? इन सब प्रश्नो की उपनिषत् सूर्य्यदेवताहै ।

छन्दोविज्ञान के अनुसार सूर्य्य बृहतीछन्द पर प्रतिष्ठित माना गया है। क्रान्तिवृत्त में सात अहोरात्रवृत्त माने गए है । इन्हीं को पूर्वापरवृत्त भी कहते हैं । इन्हीं सातो को विज्ञान भाषा में दक्षिण से आरम्भ कर क्रमशः गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती इन नामों से व्यवहृत किया जाता है । यही सूर्य के हिरणमय [अग्निमय] रथ के सातो अश्व हैं, अश्व को ही छद कहा जाता है । छन्द पर ही प्राकृतिक देवता प्रतिष्ठित रहते है ।

उक्त सातो छन्दो में मध्य का छन्द सबसे बड़ा है, अतएव इसे बृहतीछन्द कहा जाता जाता है । इसी को आसुर ज्योतिष में विषुवद्वृत्त, किवा विष्वद्वृत्त कहा गया है । यही पाश्चात्य भाषा में इक्वेटर (Equator) नाम से प्रसिद्ध है । गायत्री के ६ अक्षर हैं, उष्णिक् ७ अक्षर का, अनुष्टुप् ८ अक्षर का है, एवं बृहतीछन्द ९ अक्षर का माना गया है । नवाक्षर बृहतीछन्द ही सूर्य्य की प्रतिष्ठा है । इसीलिए सूर्य्य को 'बृहत्" भी कहा जाता है,

जैसा कि—"सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति"—"बृहद्ध तस्थौ भुवनेष्वन्तः"—'विभ्राड् बृहत् पिबतु" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है ।

बृहतीछन्द के दो अक्षरों में तो स्वयं सूर्य्य बिम्ब प्रतिष्ठित है । एवं शेष ७ अक्षरों में सूर्य्य की रश्मिएं व्याप्त हैं । इस प्रकार अक्षररूप बृहती की ९ बिन्दुओं में सौर संस्था प्रतिष्ठित है । इस की रश्मिसंस्था में हीं पृथिव्यादि उपग्रह प्रतिष्ठित हैं । "निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च" इस यजुःसिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य में अमृत–मृत्यु दोनों भाव है, जैसा कि पूर्व के भगवच्छन्द-रहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है । अमृतभाग असङ्ग है, मर्त्यभाग ससङ्ग है । ससङ्ग मर्त्य भाग से ही पृथिवी उत्पन्न हुई है । अमृत ही मर्त्यभाव की प्रतिष्ठा है । अतएव मर्त्या पृथिवी अमृतसूर्य्य की अमृतरश्मियो के आकर्षण से ही स्वस्थान पर (क्रान्तिवृत्त की परिधि पर) प्रतिष्ठित रहती हुई अपने प्रभव (सूर्य्य) के चारों ओर परिक्रमा लगाती रहती है ।

अमृत सूर्य्य से ही अकार–इकार–उकारादि स्वरों का विकास हुआ है । एवं मर्त्या पृथिवी से ही ककार–चकार–टकारादि व्यञ्जनो की उत्पत्ति हुई है । जिस प्रकार अमृत सूर्य के मर्त्यभाग से उत्पन्न पृथिवी अमृतसूर्य्य के विना स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती, एवमेव अमृतसूर्यात्मक स्वरों के विना मर्त्य पृथिव्यात्मक व्यञ्जन उच्चारण के विषय नहीं बन सकते । "स्वरर्द्देवाः सूर्यः" इत्यादि रूप से सूर्य का स्वरत्व स्पष्ट है । इसी स्वरभाव के कारण सूर्य स्वर्लोक, स्वर्ग आदि नामो से प्रसिद्ध हैं । स्वर का चूंकि अमृत असङ्ग सूर्य से सम्बन्ध है, अतएव उच्चारण काल में हम स्वरों को सर्वथा असङ्ग पाते हैं । स्वरोच्चारण काल में हमारे कण्ठ–ताल्वादि का स्पर्श नहीं होता । यही स्वर का असङ्गभाव है । उधर व्यञ्जनो का ससङ्ग मर्त्य भूपिण्ड से सम्बन्ध हैं, अतएव उच्चारणकाल में हम व्यञ्जनों को सर्वथा ससङ्ग पाते हैं । व्यञ्जनोच्चारणकाल में कण्ठ ताल्वादि का स्पर्श होता है । यही व्यञ्जन का ससङ्गभाव, किंवा मर्त्यभाव है । इसी आधार पर—"कादयो मावसानाः स्पर्शाः" यह वचन प्रसिद्ध है । बृहती छन्द के सम्बन्ध से सूर्य चूंकि नवाक्षर में अपनी व्याप्ति रखता है, अतएव तदभिन्न स्वर भी ९ बिन्दुओं में ही अपनी व्याप्ति रखता है ।

उक्त स्वर-व्यञ्जन निदर्शन से पाठकों को यह भी विदित हो गया होगा कि एक स्वर की छत्र छाया में १-२-३-४-५-६-७ तक व्यञ्जन प्रतिष्ठित रह सकते हैं। यदि ८ वा व्यञ्जन आवेगा तो वह एक स्वर उसे आश्रय देने में असमर्थ हो जायगा। तत्काल दूसरा स्वर आकूदेगा। उदाहरण के लिए "स्त्र्यर्कूट्" शब्द को लीजिए। निम्न लिखित परिलेख में पाठक देखेंगे कि स्वर एक है, एवं व्यञ्जन सात हैं। एक ही स्वर ने ७ व्यञ्जनों का भार अपने आत्मा पर ले रक्खा है।
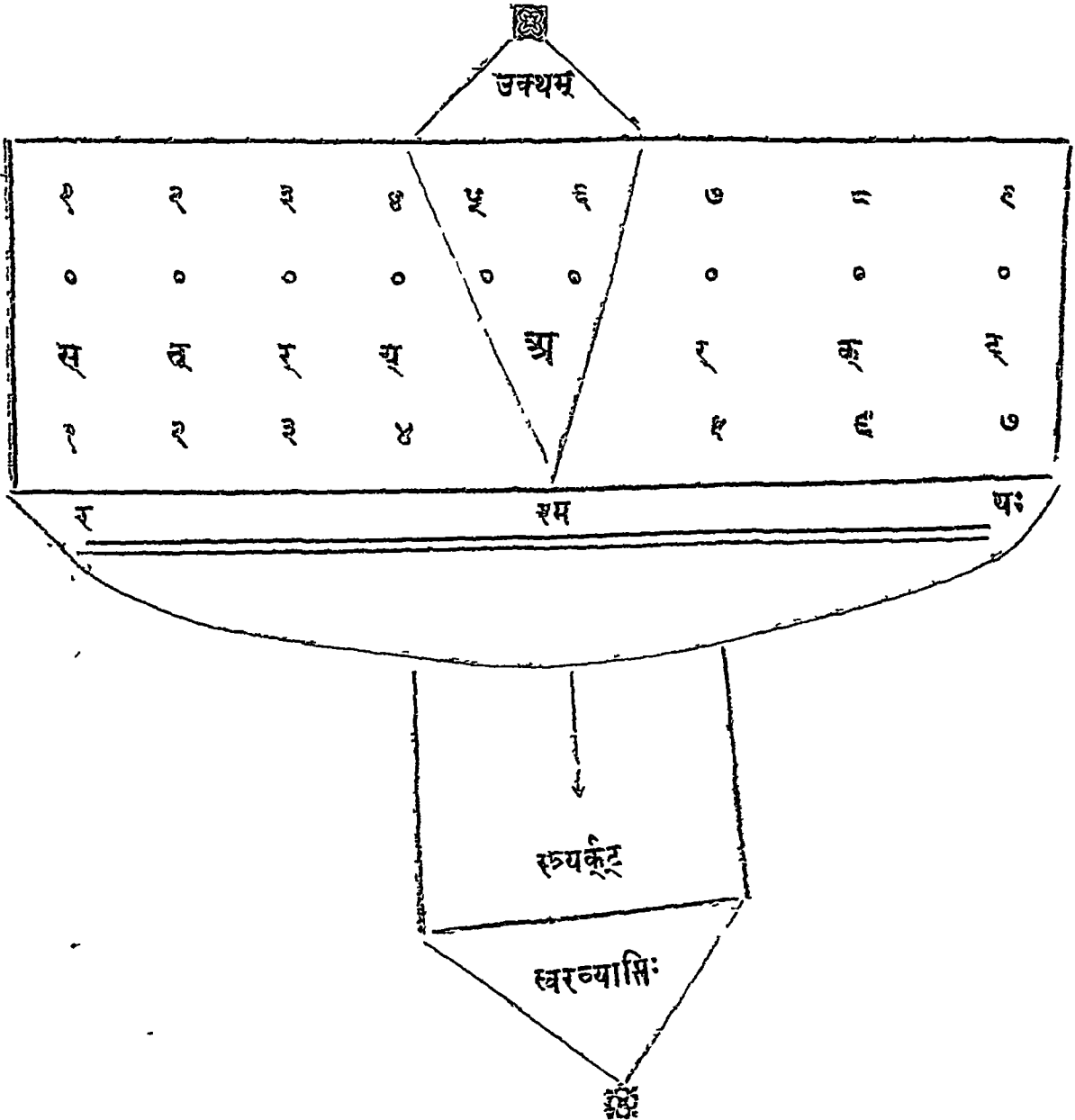
स-त्-र्-य्-र्-क्-ट् इस सप्तव्यञ्जन समष्टि का आलम्बन अकार है, एवं स्त्यर्कट् इस समष्टि का (व्यञ्जनयुक्त स्वर का) आलम्बन अक्षरपारीण आलम्बनतत्व वही तीसरा स्फोट है। यह स्फोट सर्वथा नित्य है। व्यञ्जन सर्वथा अनित्य है, एवं मध्यस्थ स्वर स्फोट के अनुग्रह से नित्य, व्यञ्जनोपाधि से अनित्य बनता हुआ नित्यानित्य है। तीनों की समष्टि ही शब्दब्रह्म है। वैय्याकरण इस शब्दब्रह्म में स्फोट की आराधना करते हैं। चूंकि स्फोट नित्य है, अतएव नित्यस्फोटानुयायी वैय्याकरणों की दृष्टि में शब्द नित्य है। भौतिक पदार्थ मर्त्यभावप्रधान हैं। उधर व्यञ्जन भी पूर्व-कथनानुसार मर्त्य हैं इसीलिए पदार्थ विद्या के आचार्य्य नैय्यायिकों का प्रधान उपास्य व्यञ्जन भाग है। व्यञ्जन चूंकि अनित्य है, अतएव यह शब्द को अनित्य मानते हैं। दोनों हीं मत स्फोट, एवं व्यञ्जन दृष्टि से सर्वथा मान्य हैं।

इसी शब्दब्रह्म के समानधरातल पर **परब्रह्म** प्रतिष्ठित है। जैसा संस्थानक्रम शब्दब्रह्म का है, ठीक वैसा ही क्रम परब्रह्म का है। शब्दब्रह्म ही परब्रह्म का वाचक है। "ओम्" इत्याकारक शब्द से ही परब्रह्म का अभिनय किया जाता है जैसा कि—"तस्य वाचकः प्रणवः" (पा० यो० १।२७)—"ओंतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" (गी० १७।१३) इत्यादि से स्पष्ट है। "ओम्" शब्द में एक अक्षर है, किंवा "ओम्" स्वयं एकाक्षर है। "स्वरोऽक्षरम्" इस प्रातिशाख्य सिद्धान्त के अनुसार स्वर को ही अक्षर कहा जाता है। 'ओम्' हीं उसका वाचक है, इस लिए "ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्" इत्यादि रूप से ओङ्कार द्वारा ही आत्मलक्षण परब्रह्म की उपासना का विधान है। वाच्य वाचक से अभिन्न है। अतएव वाचक शब्द ब्रह्म, एवं वाच्य परब्रह्म दोनों का अभेद सिद्ध हो जाता है। शब्दार्थनित्यता का यही मौलिक रहस्य है। इसी रहस्य के आधार पर वाचक शब्द एवं वाच्य अर्थ का औत्पत्तिक सम्बन्ध माना गया है—(देखिए पूर्वमीमांसा १।१)। इसी आधार पर दाक्षीपुत्र भगवान् पाणिनि का—"सर्वे सर्वार्थ-वाचकाः" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। शब्दब्रह्म से समतुलित परब्रह्म का यद्यपि आगे के आत्मप्रकरण में विस्तार से निरूपण होने वाला है। तथापि प्रकरणसङ्गति के लिए यहां भी उस का संक्षेप से दिग्दर्शन करा देना अनावश्यक न होगा।

शब्दब्रह्म के स्फोट, स्वर, व्यञ्जन किंवा वर्ण की तरह परब्रह्म के भी अव्यय, अक्षर, क्षर यह तीन हीं विवर्त्त हैं। अर्थप्रधान क्षर विश्वमूर्त्ति है, क्रियाप्रधान अक्षर पुरुष विश्व का निमित्त कारण है, एवं ज्ञानमूर्त्ति अव्यय विश्व का आलम्बन है। अक्षर क्षर की प्रतिष्ठा है, अव्यय सर्वप्रतिष्ठा है। भौतिक क्षणिक विश्व क्षरात्मक है, वह वाक्प्रधान है, मर्त्य है, अनित्य है। क्षणिक, भौतिक, वाङ्मय, अर्थप्रधान, विश्वमूर्त्ति क्षरकूट की आलम्बनभूमि, प्राणमय क्रियाप्रधान अक्षरपुरुष है। दोनो का आलम्बन मनोमय ज्ञानप्रधान अव्ययपुरुष है। अव्यय नित्य है, क्षर अनित्य है, मध्यपतित अक्षर दोनों धर्म्मों से आक्रान्त रहता हुआ नित्यानित्य है। इन तीनो में अव्यय को स्फोटस्थानीय समझिए, अक्षर को स्वरस्थानीय मानिए एवं क्षर को वर्ण के समकक्ष समझिए। तीनों की समष्टि को परब्रह्म मानिए। इसी परब्रह्म से आगे जाकर ईश्वर, जीव, जगत् इन तीन स्वतन्त्र संस्थाओं का उदय होता है। इन तीनो में ईश्वर भगवान् है, जीव-क्लेशवान् है, एवं विश्व क्लेशमूर्त्ति है। मध्यस्थ जीव जब तक क्लेशमूर्त्ति विश्व का (भौतिक विषय वासनाओं का) अनुचर बना रहता है, तब तक इस क्लेशसम्पत्ति के लेप से यह क्लेशवान् बना रहता है। यही जब क्लेशरूप विश्व से पराङ्मुख बन कर भगमूर्त्ति ईश्वर का अनुगामी बन जाता है तो उस भगवान् की भगवत्ता का इस पर अनुग्रह होजाता है। उस समय यह अपने जीवसंस्था सम्बन्धी क्लेशवान् जीवन का परित्याग करता हुआ भगवान् बन जाता है। यही इस आध्यात्मिक पुरुष का परम पुरुषार्थ है।

क्षर अक्षर के गर्भ में, एवं अक्षर अव्यय के गर्भ में यदि चला जाता है तो अव्ययपुरुष प्रधान बन जाता है। इस दशामें अव्यय का पूर्ण विकास रहता है। "बिभर्त्यव्यय ईश्वरः" (गी. १५।१७) इस गीता सिद्धान्त के अनुसार अव्यय साक्षात् ईश्वर है। इस ईश्वर की ईश्वरता क्षर अक्षर के गौणभाव पर ही अवलम्बित है। अतएव क्षराक्षरगर्भित अव्यय को ही हम ईश्वर, किंवा भगवान् मानने के लिए तय्यार हैं। क्षर अव्यय के गर्भ में, एवं अव्यय अक्षर के गर्भ में यदि समाविष्ट है तो अक्षर पुरुष की प्रधानता हो जाती है। इस दशा में अक्षर का विकास रहता है। "जीवभूतां महाबाहो" (गी० ७ ५) इस गीता सिद्धान्त के अनुसार पराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध यह अक्षर ही

जीवात्मा, किंवा चेतनप्राणी का स्वरूप समर्पक है। यह भगलक्षण अव्ययसम्पत्ति से च्युत है। अतएव इस जीव को हम अवश्य ही क्लेशवान् कहने के लिए तय्यार हैं। अव्यय अक्षर के गर्भ में, एवं अक्षर क्षर के गर्भ में यदि चला जाता है तो क्षर पुरुष प्रधान आसन ग्रहण कर लेता है। इस परिस्थिति में क्षर का पूर्ण विकास रहता है। "क्षरः सर्वाणि भूतानि" (गी० १५।१६) इस गीता सिद्धान्त के अनुसार अपराप्रकृति नाम से प्रसिद्ध यह क्षर ही विश्व, किंवा विश्व का स्वरूप समर्पक है। यही भूतभाग जीव के क्लेश का कारण है, अतएव भूतात्मक इस क्षर को, किंवा क्षरात्मक विश्व को हम अवश्य ही क्लेश कहने के लिए तय्यार हैं। इस प्रकार त्रिपुरुष के तारतम्य से एक ही परब्रह्मने तीन स्वरूप धारण कर रक्खे हैं। यद्यपि तीनों हीं स्वरूपों में (प्रत्येक में) अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों पुरुष प्रतिष्ठित हैं, परन्तु प्रधानता तीनों में क्रमशः अव्यय-अक्षर-क्षर की ही है, अतएव तद्वाद्न्याय के अनुसार अव्यय को ईश्वर, अक्षर को जीव, एवं क्षर को विश्व मान लिया जाता है।

साक्षात् परब्रह्म को उक्त तीन स्वरूपों में परिणत होने की क्या आवश्यकता हुई ? इस प्रश्न की उपनिषत् वही त्रिगुणभावमयी माया, किंवा प्रकृति है। प्रकृति का सत्वभाव ईश्वरसृष्टि का, रजोभाव जीवसृष्टि का, एवं तमोभाव विश्वसृष्टि का प्रवर्तक बनता है। अज अव्यय को स्व-स्वरूप से अजन्मा रहते हुए भी इसी दुरत्यया माया की कृपा से ईश्वर-जीव-विश्व इन तीन स्वरूपों में परिणत होना पड़ता है, जैसा कि-"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया" इत्यादि गीता सिद्धान्त से स्पष्टतम है। सम्पूर्ण विश्व तमोगुणप्रधान बनता हुआ क्लेशरूप है। तम अविद्या है। अविद्या भाग ही रागद्वेष, मोह, अस्मिता, अभिनिवेश भेद से चार भागों में विभक्त है, यही साक्षात् क्लेश हैं। इन्हीं क्लेशों के आक्रमण से जीवात्मा दुःख पाया करता है। क्लेशप्रधान विश्व में रहने वाले, विश्वासक्त (विषयासक्त) जीवमात्र रजोगुणप्रधान बनते हुए क्लेशवान हैं। रजोगुण ही कामनामयी प्रवृत्ति का मूल है, एवं कामना ही विषयासक्ति की जननी है। इसी प्रकार विश्व में एक रूप से असङ्गभावेन व्याप्त ईश्वर सत्वगुणप्रधान बनता हुआ भगवान् है। सत्व ही विद्या है। विद्याभाग

ही वैराग्य–ज्ञान–ऐश्वर्य्य–धर्म भेद से चार भागों में विभक्त है। यही चारों साक्षात् भग हैं। तद्वान् ईश्वर अवश्य ही भगवान् है। जिस जीव ने प्रकृति के इस गुप्त रहस्य को समझ कर भगवत्ता प्राप्त कर ली, वह सचमुच बड़ा भाग्यवान् है।

उधर भगवान् (ईश्वर) है, इधर क्लेश (विश्व) है, मध्य में सदंश पतित क्लेशवान् (जीव) है। यदि इस क्लेशवान् की प्रवृत्ति क्लेशरूप विश्व की ओर है तो यह क्लेशवान् है। यदि बुद्धियोग का आश्रय लेता हुआ, तद्द्वारा अव्ययात्मा का साक्षात्कार करने में यह समर्थ हो जाता है तो इस आत्मज्ञान के प्रभाव से इस का कर्मात्मा स्वत एव क्लेशमय विश्व से पराङ्मुख बन जाता है। फलतः अव्ययेश्वर की भगवत्ता के अनुग्रह का सत्पात्र बनता हुआ यह भगवान् है। भगवान् ने क्लेशवान् को भगवान् बनाने के लिए ही तो गीतायोग का संस्करण किया है।

दूसरे शब्दों में यों समझिए कि ज्ञानप्रधान ईश्वर नित्य सुखी है, अर्थप्रधान विश्व दुःखमूर्त्ति है, मध्यपतित जीव समयानुसार दोनों से युक्त होता हुआ कभी सुखी है तो कभी दुःखी है। इस का यह क्षणस्थायी सुख भी रागात्मक बनता हुआ अन्ततः क्षोभरूपा अशान्ति का ही जनक बन जाता है। ऐकान्तिक सुखप्राप्ति के लिए तो इसे उस अव्ययेश्वर की शरणागति ही अपेक्षित है। वहीं उसे "तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युमसारसागरात्" यह आश्वासन मिल सकता है।

ईश्वर–जीव–विश्व तीनों हीं यद्यपि परब्रह्म के विवर्त्त हैं। परन्तु आगे जाकर यह उपाधि केवल ईश्वर के लिए नियत हो जाती है। कारण इसका यही है कि संकेतभाषा के अनुसार पर शब्द अव्यय का वाचक है, **परावर** शब्द अक्षर का, एवं अवर शब्द क्षर का वाचक है। यद्यपि तीनों हीं संस्थाओं में पर अव्यय, परावर अक्षर, अवर क्षर तीनों प्रतिष्ठित हैं। ऐसी दशा में तीनों को ही परब्रह्म, परावरब्रह्म, अपरब्रह्म इन तीनो नामों से ही व्यवहृत किया जा सकता है। तथापि अव्यय-अक्षर-क्षर की क्रमिक प्रधानता से परब्रह्म शब्द अव्ययप्रधान ईश्वर में हीं, परावरब्रह्मशब्द अक्षरप्रधान जीव में हीं, एवं अवरब्रह्मशब्द क्षरप्रधान विश्व में ही निरूढ बन गया है। इन तीनों संस्थाओं में से प्रकृत में परब्रह्म नाम की ईश्वरसंस्था का ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

परब्रह्मतत्व विश्व से सम्वन्ध करके प्रजापति रूप में परिणत हो जाता है। इस प्राजापत्य दशा में हीं परब्रह्म ईश्वर कहलाता है । विशुद्ध दशा में तो उसे केवल परब्रह्म शब्द से ही पुकारा जायगा। कारण इसका यही है कि ईश्वरशब्द साकांक्ष है। शासन करने वाले प्रभु को ही ईश, किंवा ईश्वर कहा जाता है। ईश शब्द सुनते ही किसका ईश ? यह जिज्ञासा होती है। क्षर—और अक्षर तो अव्यय की अन्तरङ्ग प्रकृतिएं हैं, स्वभाव है, यह तो शासन के द्वार हैं। अवश्य ही शासित होने वाले पदार्थ क्षर अक्षर से पृथक् होनें चाहिएं। विना उन के सम्वन्ध के ईश्वर की ईश्वरता अपूर्ण है। इस कमी को विश्व ही पूरा करता है।

उदाहरण के लिए अध्यात्मसंस्था को अपने सामने रखिए। इस संस्था में आत्मा और शरीर यह दो भाग हैं। आत्मा इस शरीर का प्रभु है, ईश्वर है। यही दो विभाग आपको आधिदैविक संस्था में मानने पड़ेंगे। महाविश्व उस का शरीर है, विश्व के पर्व में प्रतिष्ठित रहने वाला क्षराक्षरगर्भित वही अव्यय इस का आत्मा है, दोनों की समष्टि ईश्वर है। हम जिस महाविश्व के दर्शन कर रहे हैं, वह साक्षात् ईश्वर के दर्शन है। शरीर ही चक्षु का विषय बनता है, आत्मा आख से देखने की वस्तु नहीं है। इस दृष्टि से विश्वरूप ईश्वर के शरीर के दर्शन करना ईश्वर का प्रत्यक्ष कहा जासकता है। इसी विश्वशरीर के कारण उसे **विश्वात्मा, विश्वेश्वर, जगदाधार, जगन्नियन्ता, जगदीश्वर, विश्वम्भर** इत्यादि उपाधियों से विभूषित किया गया है। अब देखना यह है कि वह परब्रह्म इस विश्व में किस रूप से प्रतिष्ठित होता है।

उत्तर स्पष्ट है। स्वयं परब्रह्म के (ईश्वरात्मा के) जब अव्यय, अक्षर, क्षर यह तीन रूप हैं तो विश्व में इन तीन रूपों के अतिरिक्त उस की प्रतिष्ठा का स्वरूप और क्या हो सकता है। विश्वदृष्टि से वही तीन संस्थाएं क्रमशः **अव्यक्तसंस्था, व्यक्ताव्यक्तसंस्था, व्यक्तसंस्था** इन नामों की अधिकारिणी हैं। **स्वयम्भू-परमेष्ठी** यह पर्व अव्यक्तसंस्था से, **सूर्य्य** व्यक्ताव्यक्तसंस्था से, एवं **चन्द्रमा-पृथ्वी** व्यक्तसंस्था से सम्बन्ध रखते हैं। प्रथम संस्था अव्ययप्रधान है, दूसरी अक्षरप्रधान है, एवं तीसरी क्षरप्रधान है। अव्ययप्रधानसंस्था में अमृत की, क्षरप्रधानसंस्था में मृत्यु की, एवं अक्षरप्रधानसंस्था में अमृत-मृत्यु दोनों की प्रतिष्ठा है। अध्यात्मसंस्था में प्रस-

गात्मा (आध्यात्मिक ईश्वर), शारीरक आत्मा (जीवात्मा), एवं शरीर यह तीन विभाग हैं। इन तीनों का उक्त तीनों आधिदैविक संस्थाओं से सम्बन्ध है। अव्ययसंस्था प्रत्यगात्मा की, अक्षरसंस्था शारीरक आत्मा की, एवं क्षरसंस्था शरीर की प्रतिष्ठा है। जब तक जीवात्मा क्षरसंस्था में प्रतिष्ठित है, तब तक इसे जन्म-मृत्यु के प्रवाह में प्रवाहित रहना पड़ता है। क्षरसंस्था से पृथक् होकर जब यह अक्षरसंस्था में चला जाता है तो क्षरग्रन्थिविमोक से यह मुक्त हो जाता है, यही इस की सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्यलक्षणा अपरामुक्ति है। उसी बुद्धियोग की कृपासे जब यह उस परलक्षण अव्ययसंस्था में चला जाता है तो "परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति" "परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" इत्यादि श्रौत-सिद्धान्तों के अनुसार पर अव्यय में लीन होता हुआ समबलयभाव को प्राप्त हो जाता है, यही अक्षरग्रन्थिविमोकलक्षणा परामुक्ति है। सीधी भाषा में यों समझिए कि जब तक जीवात्मा चन्द्रगर्भिता पृथिवी के आकर्षण में है, तब तक यह बद्ध है, मृत्युभाव से आक्रान्त है। सूर्य्य में पहुंचने के अनन्तर यह मुक्त है। एवं सूर्य्य से ऊपर जाने पर यह ब्रह्म में लीन है। ऐसे भाग्यशाली जीवात्मा को ही सूर्य्यभेदी कहा जाता है। जिस का जीवात्मा ब्रह्माण्ड (शिरःकपाल) का भेदन करता हुआ निकलता है, वह अवश्य ही सूर्य्यभेदी बनता है। आगे के परिलेखों से उक्त विषय का भलीभाति स्पष्टीकरण होजाता है।

१—

१—स्फोटः→अमात्रिकः (सर्वालम्बनः)→सर्वथा नित्यः (अव्ययः)
२—स्वरः→मात्रिकः (व्यञ्जनालम्बनः)→नित्यानित्यः (अक्षरः)
३—वर्णः→अर्द्धमात्रिकः (व्यवहारालम्बनः)→अनित्यः (क्षरः)

}→शब्दब्रह्मविवर्त्त

—o—

२—

१—अव्ययः-अमात्रिकः-सर्वालम्बनः-नित्यः—अमृतः—→ज्ञानम्
२—अक्षरः-मात्रिकः—क्षरालम्बनः-नित्यानित्यः-मृत्युगर्भितोऽमृतः→क्रिया
३—क्षरः—अर्द्धमात्रिकः-विश्वालम्बनः-अनित्यः—मृत्युमयः—→अर्थः

}→परब्रह्मविवर्त्त

—o—

१—अव्ययप्रधानोऽव्ययः-अव्ययः
१—२—अव्ययप्रधानोऽक्षरः—अव्ययः } →क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययपुरुषः-भगवान्-परब्रह्म
३—अव्ययप्रधानः क्षरः—अव्ययः

———०———

१—अक्षरप्रधानोऽक्षरः-अक्षरः
२—२—अक्षरप्रधानोऽव्ययः-अक्षरः } →क्षराव्ययगर्भितोऽक्षरपुरुषः-क्लेशवान्-परावरब्रह्म
३—अक्षरप्रधानः क्षरः-अक्षरः

———०———

१—क्षरप्रधानः क्षरः—क्षरः
३—२—क्षरप्रधानोऽक्षरः—क्षरः } →अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरपुरुषः-क्लेशः-अवरब्रह्म
३—क्षरप्रधानोऽव्ययः-क्षरः

———०———

१—क्षराक्षरगर्भितोऽव्ययपुरुषः—अव्ययः→ईश्वरः—भगवान्-सत्वमूर्त्तिः—नित्यसुखी
१—२—क्षराव्ययगर्भितोऽक्षरपुरुषः—अक्षरः—जीवः—क्लेशवान्-रजोमूर्त्तिः—सुखी-दुःखी
३—अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरपुरुषः क्षरः—जगत्—क्लेशः-तमोमूर्त्तिः—नित्यदुःखी

———०———

परब्रह्मसंस्थानपरिलेखः (सैषा-अधिदैवतसंस्था)।

———०———

१—परब्रह्मात्मिका-अव्यक्तसंस्था——अव्ययप्रधाना-प्रत्यगात्मप्रतिष्ठाभूमिः

२—परब्रह्मात्मिका-व्यक्ताव्यक्तसंस्था —अक्षरप्रधाना—शारीरकात्मप्रतिष्ठाभूमिः

३—परब्रह्मात्मिका-व्यक्तसंस्था——क्षरप्रधाना—शरीरप्रतिष्ठाभूमिः

———०———

१—प्रत्यगात्मा——आध्यात्मिकः परमात्मा
२—शारीरकात्मा-जीवात्मा
३—शरीरम्——आध्यात्मिकं विश्वम्
—→सैषा—अध्यात्मसंस्था।

———०———
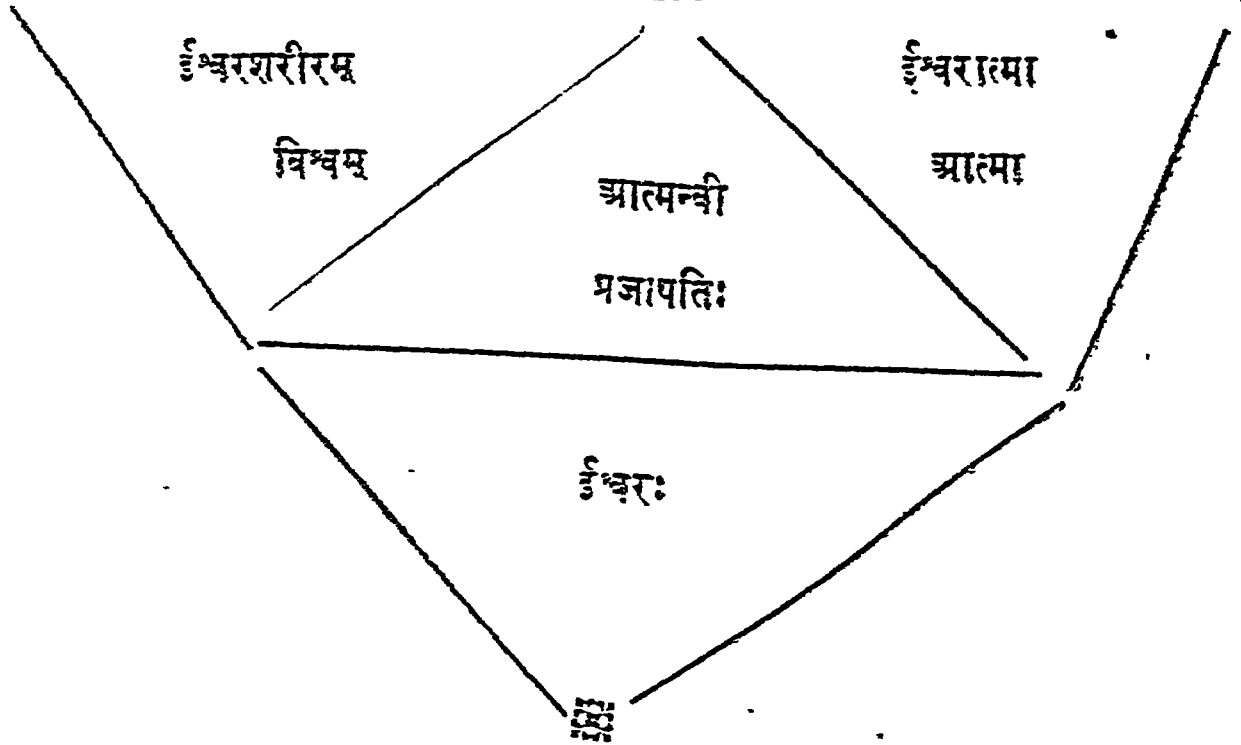
उक्त विषय का ही दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। अव्यय–अक्षर–क्षर की समष्टि ही सर्व हैं। आत्मन्वी प्रजापति के यही प्रधान तीन आत्मविवर्त्त हैं। अव्यय ईश्वरात्मा है, यही आधिदैविक आत्मा नाम से प्रसिद्ध है। अक्षर जीवात्मा है, इसी को आध्यात्मिक आत्मा कहा जाता है। एवं क्षर शिपिविष्टात्मा है, यही आधिभौतिक आत्मा है। अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत की समष्टि ही सर्व है। यह तीनों ही स्वतन्त्र आत्मन्वी, किंवा प्रजापति हैं। सपरिग्रहआत्मा को ही आत्मन्वी कहा जाता है। आत्मन्वी ही प्रजापति कहलाता है। इस दृष्टि से प्रत्येक आत्मन्वी के आत्मा–शरीर यह दो दो पर्व होजाते हैं।

महामायावच्छिन्न, पञ्चपुण्डीरात्मक सहस्रवल्शामूर्त्ति ब्रह्माश्वत्थ ही महाविश्व है। यही उस त्रिपुरुषात्मक, परब्रह्ममूर्त्ति, अव्ययलक्षण, व्यापक ईश्वरात्मा का शरीर है। भूः, भुवः, स्वः, इन तीन महाव्याहृतियों से युक्त उक्त महाविश्व में यह ईश्वरात्मा अविभक्त रूप से व्याप्त हो रहा है। यह ईश्वरात्मा अव्ययप्रधान है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि इस प्रथमसंस्था में क्षर-अक्षर गर्भ में हैं, एवं अव्यय पूर्णरूप से विकसित है। अव्यय का पूर्ण विकास ही चतुर्विध भग की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव इस पहिले आत्मन्वी को हम अवश्य ही भगवान् कहने के लिए तय्यार हैं। यही भगवान् शब्द आगे जाकर भगवद् स्वरूप में परिणत हो गया है। कारण स्पष्ट है। विद्या को ही ज्ञान शब्द से सम्बोधित किया गया है। उधर मनोमय अव्यय ज्ञानशक्तिघन बनता हुआ विद्याप्रधान है। यह विद्या उस विद्यामय अव्यय से अभिन्न है। विद्या शक्ति है, अव्यय शक्तिमान् है। शक्ति शक्तिमान् से उसी प्रकार अभिन्न है, जैसे कि तापशक्ति शक्तिमान् अग्नि से अभिन्न है। अतएव विद्याशक्तिमय अव्यय को हम अवश्य ही विद्यामूर्त्ति कहने के लिए तय्यार हैं। इस अव्ययविद्या के वैराग्य ज्ञान ऐश्वर्य्य-धर्म्म भेद से चार पर्व हैं। यही विद्या के चार पाद हैं। इन चार विद्यापादों के सम्बन्ध से अव्ययब्रह्म चतुष्पाद्ब्रह्म है। एक एक पाद एक एक अक्षर है, विशुद्ध अव्यय इन चार पादों के कारण चतुरक्षर है।

चतुरक्षर, किंवा चतुष्पाद् अव्यय ब्रह्म से ही अक्षर द्वारा क्षरोपादान से सारी सृष्टिएं हुई हैं, जैसा कि—"**मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्**"—"**अहं सर्वस्य प्रभवः**"—"**मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते**"—"**प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्**" इत्यादि गीतासिद्धान्तों से स्पष्ट है। चतुष्पाद् अव्यय ब्रह्म के तीन अक्षर, किंवा तीन पाद स्वतन्त्र रहते हैं, केवल एक ही पाद सृष्टिधारा में संयुक्त बनता है। सृष्टि मर्त्य है। इस मर्त्यसृष्टि में उसका एक ही अक्षर समाविष्ट है। शेष तीन अक्षर अमृतरूप से सर्वथा असङ्ग रहते हैं, जैसा कि-"**त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः**" (यजुः ३१।४।) इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। चतुरक्षर ईश्वर एक ही अक्षर से मृत्युमय विश्व में व्याप्त रहता है, एक ही अक्षर मर्त्यभाव से संश्लिष्ट बन कर अक्षर मर्य्यादा से च्युत हो जाता है, चारो अक्षर विशुद्ध अमृतमय न रहकर

तीन हीं अक्षर अक्षर रहते है। इन्ही सब रहस्यों को लक्ष्य में रखकर उसे तीन अक्षरों के नाम से ही सम्बोधित किया गया है । ईश्वर शब्द में भी तीन हीं अक्षर हैं, एवं भगवान् शब्द में भी तीन ही अक्षर हैं।

"स्वरोऽक्षरं सहाद्यैर्व्यञ्जनैः" इस प्रातिशाख्य सिद्धान्त के अनुसार स्वर को ही अक्षर कहा जाता है। साथ ही अक्षर से व्यञ्जन परिगृहीत रहते हैं, अतएव अक्षरगणना में उन की स्वतन्त्र गणना नहीं की जाती। उदाहरण के लिए स्वयं अक्षर शब्द को ही लीजिए। इस में यद्यपि वर्ण "अ–क्–ष्–अ–र्–अ-म्" यह ७ हैं। परन्तु अक्षर (स्वर) तीन हीं हैं। अतएव "अक्षरमिति" (अ-क्ष-रम्-इति) त्र्यक्षरम् (ता०ब्रा० ४।४ ३।) के अनुसार अक्षर तीन हीं माने जाते हैं। वाक् शब्द में–व्–अ–अ–क् यह ४ वर्ण हैं, परन्तु अक्षर दृष्टि से वाक् एक ही अक्षर माना जाता है। "वागित्यक्षरम्" [तां४।४।३।] यह इसी अक्षर रहस्य को सूचित करता है। इसी आधार पर वर्णानेकता के रहने पर भी "ओम्" को एकाक्षर ही माना गया है। इसी श्रुतिसिद्ध विज्ञानसिद्धान्त के आधार पर भगवान्-ईश्वर-भगवत् शब्दों में जहां "भ्–अ–ग्–अ–व्–अ–अ–न् (भगवान्)–"इ–इ–श्–व्–अ–र्–अः"-(ईश्वरः)-"भ-अ–ग्–अ व्–अ–त भगवत्' इत्यादि रूप से क्रमशः ८,८,७, वर्ण हैं, वहां अक्षर तीन तीन हीं हैं। तीनों ही शब्द भ–ग–वान्, ई–श्व–रः, भ–ग–वत् इस रूप से त्र्यक्षर हैं । यही विशुद्ध अव्ययब्रह्म की त्रिपाद्विभूति है। यही पहिली आधिदैविक संस्था है।

योगमायावच्छिन्न, पञ्चप्राणात्मक, कर्माश्वत्थरूप पाञ्चभौतिक शरीर ही सेन्द्रिय जीवात्मा का विश्व है। अव्यय-क्षरगर्भित, अक्षरानुगृहीत वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति कर्म्मात्मा ही जीवात्मा है। इसमें अक्षर का विकास है। इस का यह अक्षर भाग क्षरमूर्त्ति विश्व की ओर झुका हुआ है। इसी लिए यह क्लेशवान् बन रहा है। यही दूसरी आध्यात्मिक संस्था है।

विश्वमायावच्छिन्न चित्याग्निमय भौतिक पिण्ड ही शिपिविष्टात्मा का शरीर है। एवं अव्यय, अक्षरगर्भित क्षरानुगृहीत चितेनिधेय प्राणाग्नि ही इस शरीर का आत्मा है। यही तीसरी आधिभौतिक संस्था है।

१—अव्ययप्रधानः—ईश्वरात्मा——आधिदैविकसंस्था	——तदिदं सर्वम्
२—अक्षरप्रधानः——जीवात्मा———आध्यात्मिकसंस्था	
३—क्षरप्रधानः———शिपिविष्टात्मा——आधिभौतिकसंस्था	

—०—

१—१—क्षराक्षरगर्भितः—अव्ययात्मा———आत्मा	——आत्मन्वी-ईश्वरः
२—क्षरप्रधानं ब्रह्माश्वत्थात्मकं विश्वम्—शरीरम्	

—०—

२—१—क्षराव्ययगर्भितः—अक्षरात्मा———आत्मा	——आत्मन्वी-जीवः
२—क्षरप्रधानं कर्म्माश्वत्थात्मकं शरीरम्——शरीरम्	

—०—

३—१—अव्ययाक्षरगर्भितः क्षरात्मा——आत्मा	——आत्मन्वी-शिपिविष्टः
२—क्षरप्रधानश्चित्याग्निपिण्डः———शरीरम्	

—०—
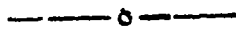
ईश्वर ज्ञानप्रधान है, शिपिविष्टात्मक जगत् विज्ञानप्रधान है, मध्यस्थ जीव उभयात्मक है। ज्ञानप्रधान आत्मा भगवान् है, यह उस छोर में है, यही प्रथमपर्व है। विज्ञानप्रधान विश्व अन्तिम पर्व है। यह विश्व ही उस ज्ञानमूर्त्ति भगवान् की उपनिषत् (बैठने की जगह) है। यदि आप भगवान् से साक्षात्कार करना चाहते हैं तो आप को विश्वलक्षण उपनिषत् की ही आराधना करनी पड़ेगी। निराकार भगवान् की प्राप्ति साकार विश्व की उपासना से ही होगी। वह आप को मिलेगा अवश्य, परन्तु यहीं, इसी शरीर में, इसी विश्व में, विश्वान्तर्गत इन्हीं भौतिक पदार्थों में। "एष

सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (कठोप० १।३।१२।) के अनुसार वह इन्हीं भूतों में प्रतिष्ठित है। बुद्धियोग ही उस के दर्शन का अन्यतम उपाय है। "भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति" (केनोप. २।१।३) के अनुसार धीर बुद्धियोगी इन भूतों में ही उसे पा कर मुक्त होते हैं । यदि आपनें यहीं, इसी शरीर से उसे प्राप्त न किया तो विनाश है। इसी जगह ढूंढिए। मिलेगा, अवश्य मिलेगा। यदि आपनें यहीं उसे पा लिया तो आपका जीवन धन्य है। भूतात्मिका इसी भगवदुपनिषत् का माहात्म्य वतलाते हुए ऋषि कहते हैं—

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्मसमश्नुते ॥

उस ओर भगवत्सम्पत्ति है, इस ओर उपनिषत्सम्पत्ति है, मध्य में जीवसम्पत्ति है । जीव क्या है ? इस का उत्तर है, उसी सूक्ष्म भगवान् का वितान । भगवान् का गीत ही (वितत भाव ही) जीव है "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" के अनुसार वह एक ही (ईश्वर ही) नाना रूपों में (जीवस्वरूपों में, परिणत हो रहा है। ईश्वर सत्यमूर्त्ति है, जीव यज्ञमूर्त्ति है । ईश्वरसत्य अपने आप को यज्ञरूप में परिणत कर इस यज्ञ से ही जीवसृष्टि का वितान करता है, जैसा कि- "यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै" इत्यादि ब्राह्मणश्रुतियो से स्पष्ट है। "सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः" इत्यादि गीतासिद्धान्त भी ईश्वर प्रजापति के यज्ञ से ही प्रजोत्पत्ति मान रहा है । सत्य उस का सूक्ष्मरूप है, निगूढ रूप है, संकुचित रूप है । यज्ञ उसी का स्थूलरूप है, प्रकट रूप है, फैला हुआ स्वरूप है। विततभाव ही गीत, किंवा गान है, जैसा कि पूर्व के गीताशब्द-रहस्य में विस्तार से वतलाया जा चुका है । यज्ञात्मक जीव सत्यात्मक ईश्वर का गीत है । गीत नहीं, गीता है। स्वयं अव्यय का वितान होता, तब तो जीव को गीत कहा जा सकता था । परन्तु "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" के अनुसार अव्यय की अक्षर प्रकृति ही जीवस्वरूप

में परिणत होती है, जैसा कि—"जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्" इत्यादि वचन से स्पष्ट है। अक्षर को ही पूर्व में हमने जीवसंस्था का स्वरूप समर्पक बतलाया है, एवं—"तथाऽऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" इत्यादि श्रुति भी उक्त कथन का ही समर्थन कर रही है। यह अक्षर उस की परा प्रकृति है, यही जीव का जीवत्व है। इसी स्त्रीभावप्रधान अक्षरप्रकृतिभाव के कारण हम यज्ञमूर्त्ति जीव को गीत न कह कर भगवान् की गीता कहेंगे।

भगवद्गीता वाक्य स्वतन्त्र है, उपनिषत् वाक्य स्वतन्त्र है। भगवान् की उपनिषत् भी विश्व ही है, एवं गीतारूप जीव की उपनिषत् भी विश्व ही है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि उस की उपनिषत् वह महाविश्व है वह इस के गर्भ में प्रतिष्ठित है, एवं इस की उपनिषत् यह छोटासा शरीर है, यह इसी के गर्भ में प्रतिष्ठित है। ईश्वर जहां अपनी उपनिषत् (विश्व का सदुपयोग करता हुआ नित्यमुक्त है, वहा जीव अपनी उपनिषत् (शरीर) को विषयासक्त बनाता हुआ बद्ध है। जीव के इसी बन्धनभाव को हटाने के लिए भगवान् की यह उपनिषत् हमारे सामने आई है। शास्त्रोपदेश एकमात्र मनुष्य से सम्बन्ध रखता है। मनुष्यावच्छिन्न जीवात्मा को सन्मार्ग बतलाने के लिए ही शब्दशास्त्र का संकलन हुआ है। इस प्रकार जीवात्मा ही शास्त्र का प्रधान लक्ष्य है। गीताशास्त्र भी उसी मर्य्यादा से आक्रान्त है। "अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" यह प्रतिज्ञा उक्त सिद्धान्त का ही समर्थन कर रही है। चूंकि जीवात्मा अक्षरप्रधान है, एवं यही गीताशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है, ऐसी दशा में हम इस गीताशास्त्र को अवश्य ही "अक्षरशास्त्र" कह सकते हैं। यही कारण है कि भगवत्-गीता-उपनिषत् तीनों में से केवल गीता शब्द ही आगे जाकर रूढ बना है। केवल भगवत् शब्द से, एवं केवल उपनिषत् शब्द से कभी गीताशास्त्र का बोध नहीं होता। परन्तु केवल गीता शब्द सुनने से तत्काल हमारी दृष्टि गीताशास्त्र पर पर चली जाती है। गीताशब्द जीवात्मा का सूचक है, यह कहा ही जाचुका है।

इस प्रकार यद्यपि गीताशास्त्र का अक्षरशास्त्रत्व ही सिद्ध होता है, परन्तु साथ साथ ही गीता ने भगवल्लक्षण अव्यय, एवं विश्व का भी सुविशद निरूपण किया है। इस दृष्टि से हम इसे

सर्वशास्त्र, किंवा पूर्णशास्त्र भी कह सकते हैं। "किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः" का यही मूल है। इसी पूर्णता को व्यक्त करने के लिए यह भगवद्गीतोपनिषत् इतने बड़े नाम से सम्बोधित हुई है। भगवद्गीतोपनिषत् एकमात्र भगवत्-गीता-उपनिषत् (ईश्वर-जीव-जगत् । इन तीन विवर्त्तों का ही विश्लेषण करती है। स्वयं नाम ही इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण कर रहा है। गीता मध्यस्थ जीव को उस की आत्मसम्पत्ति का परिचय कराती है। गीतोपदेश मध्यस्थ जीव को ज्ञान (भगवत्)-विज्ञान (उपनिषत्) द्वारा समत्वयोग पर ले जाती है।

ईश्वर-जीव-शिपिविष्ट यह तीन अर्थ हैं। इन तीनों के वाचक क्रमशः भगवत्-गीता-उपनिषत् यह तीन शब्द हैं। ये अर्थभाव क्रमशः त्र्यक्षर, द्वयक्षर, चतुरक्षर हैं। अतएव तद्वाचक शब्द भी क्रमशः त्र्यक्षर-द्वयक्षर चतुरक्षर ही हैं। ईश्वर आदि में है, शिपिविष्ट अन्त में है, जीव मध्य में है। इसी क्रम के अनुसार ईश्वरार्थवाचक भगवत् शब्द को आदि में, शिपिविष्टार्थ-वाचक उपनिषत् शब्द को अन्त में, एवं जीवार्थवाचक गीताशब्द को मध्य में रखते हुए ईश्वर-जीव-शिपिविष्टात्मक इस शास्त्र को भगवद्गीतोपनिषत् कहा गया है।

गीता को हमनें पूर्ण शास्त्र कहा है। विचारणीय विषय यह है कि विज्ञानदृष्टि से पूर्ण क्या तत्व है ? संक्षेप से इस का भी उत्तर हृदयङ्गम कर लेना चाहिए। "शून्यमन्यत् स्थानं, पूर्णमन्यत् स्थानम्" इस आप्त सिद्धान्त के अनुसार परब्रह्म के शून्य-पूर्ण दो स्थान माने जाते हैं। शून्य स्थान ही पूर्ण स्थान की प्रतिष्ठा है, पूर्णता ही शून्यभाव की जननी है। अतएव शून्य को पूर्ण कहा जाता है, एवं पूर्ण को शून्य कहा जाता है। संख्याविज्ञान के अनुसार ९ संख्या को पूर्ण संख्या माना गया है। यद्यपि लोकदृष्टि से १० संख्या पूर्ण है, एवं ९ संख्या, अपूर्ण है। परन्तु विज्ञानदृष्टि से ९ को ही पूर्ण माना गया है। कारण इस का यही है कि पूर्णता में आगे का सम्बन्ध टूट जाता है, आगमन रुक जाता है। अपूर्णता में आगे से सम्बन्ध बना रहता है। इसीलिए दान सम्बन्ध में ९-११-२१-५१-१०१-१००१ यही व्यवस्था रक्खी

गई है। परलोकगत प्रेतात्मा का उसके सम्बन्धियों से विच्छेद हो जाता है, अतएव तत्तृप्तिलक्षण श्राद्धकर्म में १-१०-१०० इस प्रकार से पूरी ही दक्षिणा का विधान है। अपूर्णता ही सृष्टि की जननी है। पुरुष पुरुष का समन्वय पूर्ण-पूर्ण का समन्वय है। इससे सृष्टि नहीं होसकती। स्त्री पुरुष का दाम्पत्यभाव अपूर्ण है, न्यून है। "न्यूनाद्धि प्रजाः प्रजायन्ते" इस सिद्धान्त के अनुसार यही न्यूनभाव प्रजातन्तुवितान [सन्तान] प्रवृत्ति का कारण है। इन्हीं सब रहस्यों को लक्ष्य में रखकर वैज्ञानिकोंनें न्यूनभाव को पूर्ण माना है। इसी आधार पर अपूर्ण ९ संख्या को पूर्ण संख्या माना गया है। ९-९९-९९९९ इत्यादि क्रम से संख्यामात्र का विराम ९ पर हो जाता है, यही इस संख्या की पूर्णता है।

दशाक्षरछन्द को विराट् कहा जाता है। यदि एक, अथवा दो अक्षर विराट् में से कम हो जाते हैं तो वह निचृद्विराट् कहलाती है, एवं एक अथवा दो अक्षर अधिक होजाने से वही भूरिग्विराट् कहलाती है। छन्दोमात्र में यह सामान्य नियम समझना चाहिए। 'न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति, न द्वाभ्याम्" [ऐ०ब्रा०१।६।२।३७] इस सिद्धान्त के अनुसार एक दो अक्षर कम, अथवा अधिक हो जाने पर भी वैदिक छन्दों के स्वरूप की कोई हानि नहीं मानी जाती। बस जहां शास्त्रकारों को कोई रहस्य बतलाना होता है, वहा वे इस संख्याक्रम का ही आश्रय लिया करते हैं। गीताशास्त्र पूर्णशास्त्र है। इस की पूर्णता पूर्वकथनानुसार ९ अक्षरों पर निर्भर है। नवाक्षरछन्द न्यूनविराट् है, न्यूनभाव पूर्णभाव है। इसी गुप्त रहस्य को सूचित करने के लिए परमवैज्ञानिक आचार्यों ने इसका "भगवद्गीता-उपनिषत्" यह ९ अक्षर का नाम रक्खा है। इस प्रकार समष्टिरूप से विराट्द्वारा अपनी पूर्णता प्रकट करता हुआ, एवं व्यष्टिरूप से ईश्वर-जीव-शिष्टिविष्टद्वारा अपनी पूर्णता प्रकट करता हुआ भगवद्गीतोपनिषद्-शास्त्र पाठकों के सम्मुख आता है।

१–ईश्वरः——→ई–(श्व्)–अ–(र्)–अः———→परब्रह्म

२–भगवत्—→(भ्)–अ—(ग्) अ–(व्) अ–(त्)—→शब्दब्रह्म

——०——

१–जीवः—→(ज्)–ई–(व्)–अः——→परब्रह्म

२–गीता—→(ग्)–ई–(त्)–आ——→शब्दब्रह्म

——०——

१–शिपिविष्टः→(श्)–ई–(प्)–इ–(व्)–इ–(ष्ट्)–अः—→परब्रह्म

२–उपनिषत्—→उ–(प्)–अ–(न्)–इ–(ष्) अ–(त्)—→शब्दब्रह्म

——<०>——

त्र्यक्षरः—ईश्वरः → द्व्यक्षरः—जीवः ← चतुरक्षरः—शिपिविष्टः
(भ्)-अ-(ग्)-अ-(व्)-अ-(त्) । (ग्)-ई-(त्)-आ । उ-(प्)-अ-(न्)-इ-(ष्)-अ-(त्) ।
भगवत्
गीता
उपनिषत्
३
२
४
९—विराट्पुरुषः—पूर्णपुरुषः
गीता
उपनिषत्
भगवत्
जीवप्रपञ्च
शिपिविष्टप्रपञ्च
ईश्वरप्रपञ्च
अव्ययप्रधान
मनः
ज्ञानम्
अमृतम्
ज्ञानयोग
अक्षरप्रधान
प्राणः
क्रिया
अमृतमृत्यू
मोक्षयोग
क्षरप्रधान
वाक्
अर्थः
मृत्यु
कर्मयोगः
अध्यात्मम्
अधिभूतम
अधिदैवतम्
यतद्ध्येवाक्षरं—
—ज्ञात्वा
"(एतद्ध्येवाक्षरं-पर-(अव्यय.)"
"(एतद्ध्येवाक्षरं-ब्रह्म-(क्षरः)"
बुद्धियोगो
गीताशास्त्रनिष्कर्ष
इतिगीतानाममीमांसायां—भगवद्गीतोपनिषन्नामरहस्यम्
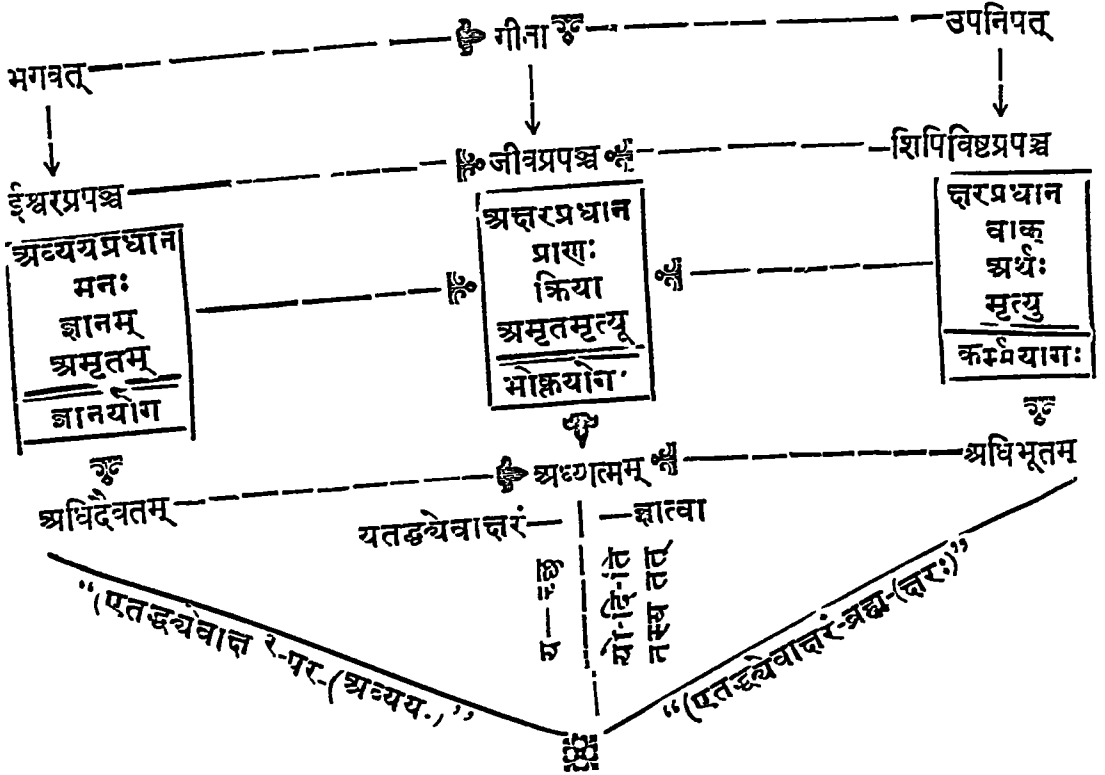
॥ श्रीः ॥

५—गीताशब्दनिरुक्ति

नाममीमांसा समाप्तप्राय है। व्यष्टि, एवं समष्टिरूप से उभयथा नाम का रहस्य पाठकों के सम्मुख रक्खा जाचुका है। अब इस सम्बन्ध में कोई विशेष वक्तव्य नहीं है। अब केवल गीता शब्द के सम्बन्ध में दो अक्षर और कहने हैं। पूर्वप्रतिपादित गीताशब्दरहस्य में यह बतलाया जाचुका है कि गीता कोई रूढ शब्द नहीं है। जिस प्रकार **श्रीमद्भागवत, वैशेषिकदर्शन, सांख्यदर्शन, न्यायदर्शन** आदि नाम तच्छब्दग्रन्थो में ही निरूढ हैं, ऐसे **गीता** शब्द नाममर्यादा में आता हुआ भी वस्तुतः इस ग्रन्थ का नाम नहीं है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है वृद्धव्यवहार। गीता के प्रत्येक अध्याय के उपसंहारमें '**इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु**" यह उल्लेख मिलता है। यदि गीताशब्द श्रीमद्भागवतादि की तरह इस ग्रन्थ का नाम होता तो "**इति श्रीमद्भागवते महापुराणे**" इत्यादिवत् इस ग्रन्थ के अध्यायों के उपसंहार में भी "**इति श्रीमद्भगवद्गीताशास्त्रे उपनिषत्सु**" यह वचन उद्धृत रहता। फलतः पूर्व उल्लेख के अनुसार गीता शब्द का यौगिकत्व ही सिद्ध होता है।

इस शास्त्र में जितनीं भी उपनिषदें हैं, वे सब भगवान् के द्वारा गाईं गईं (कहीं गईं) हैं, एकमात्र इसी हेतु से इसे गीता कहा गया है। गीता शब्द शब्दार्थक "गै" धातु से निष्पन्न हुआ है—(कै गै शब्दे पा० धातुपा० भ्वादि)। ऐसी दशा में मुखशास्त्र के अनुसार भी गीता शब्द का '**कथिता—प्रोक्ता—शब्दिता—उक्ता**" यह यौगिकार्थ ही सिद्ध होता है।

यह एक और चमत्कार है कि उक्त शब्दों में से किसी का प्रयोग न कर व्यास ने गीता शब्द का ही प्रयोग किया है। दो एक रहस्य तो इसके पूर्व में बतलाए जाचुके हैं। अब एक रहस्य का दिग्दर्शन और कराया जाता है। शब्द को वागिन्द्रिय से बाहर निकालने का नाम हीं शब्दव्यवहार, किंवा कथन है। इस कथन का वाक्तत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वाक्समुद्र में उत्पन्न होनें वालीं वीचिएं (तरंगें) हीं शब्द की जननीं हैं। बोलने से सर्वव्यापक वाक्समुद्र में लहरें पैदा होतीं हैं, वे ही लहरे कर्णशष्कुली पर आके वहां बैठे हुए प्रज्ञान मन से परिगृ-

हीत बनकर शब्दवाक् की जननी बनती हैं। यही शब्दवाक् श्रुति है। इसी प्रकार हम जो शब्द मुख से बोलते हैं, उसकी जननी भी वाक् ही है। लोम, एवं नखाग्रों को छोड़कर हमारे सर्वाङ्ग शरीर में वैश्वानर अग्नि धधक रहा है। इसी अग्नि को "तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्" (शत०१०।५।१।१।) के अनुसार वाक् कहा जाता है। यही वागग्नि मन की प्रेरणा से वायु द्वारा प्रत्याहत बनकर मुखद्वार से निकलती हुई शब्दरूप में परिणत होती है। अग्निमयी मूल-वाक् ही शब्दात्मिका तूल वाक् रूप में परिणत होकर हृदय स्थान से चलकर मुखस्थान में में प्रवेश करती है, जैसा कि—""अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" .ऐ०उप०२।४।) इत्यादि से स्पष्ट है। पाणिनीय शिक्षाने भी शब्दोत्पत्ति का यही क्रम माना है-(देखिए पा० शिक्षा६-१०)। तात्पर्य्य कहने का यही है कि शब्दतत्व उक्ति-श्रुति भेद से दो भागों में विभक्त है। हम जो शब्द मुख से बोलते हैं, वह उक्तिरूप शब्द है। एवं जो शब्द हम कानों से सुनते हैं, वह श्रुतिरूप है। दोनों का मूल वाक्तत्व ही है। अन्तर दोनो में केवल यही है कि उक्तिरूप शब्द का आध्यात्मिक वागग्नि से सम्बन्ध है, एवं श्रुतिरूप शब्द का आधिदैविक वागग्नि से सम्बन्ध है। शरीर में रहने वाला वागग्नि आध्यात्मिक है, एवं इस विशाल आकाश में सर्वत्र समुद्ररूप से व्याप्त वागग्नि आधिदैविक है। पूर्वकथनानुसार आध्यात्मिक वागग्नि की तरंगों से उक्तिरूप शब्द उत्पन्न होता है। इस शब्द का उस आधिदैविक वागग्नि पर आघात होता है। इससे उसमें तरंगें पैदा हो जातीं हैं। यही तरंगे पूर्वकथनानुसार कान पर आकर श्रुतिरूप शब्द की जननी बनती है। उभयथा वाक् ही शब्द की जननी है, यह सिद्ध विषय है।

गीताशास्त्र वाङ्मय है, शब्दवाक्प्रधान है, उधर श्रौती उपनिषदों का विज्ञानवाक् से सम्बन्ध है, जैसा कि पूर्व के गीताशब्दरहस्य में कहा जाचुका है। इसी वाक्भाव को सूचित करने के लिए इसे "उक्ता" "कथिता" इत्यादि शब्दों से व्यवहृत न कर गाता शब्द से निर्देश किया है। द्व्यक्षरभाव जहां जीवात्मा का सूचक है, वहां गीताशब्द वाक्प्रपञ्च का द्योतक है। वाक्प्रपञ्च की सूचना से व्यास का तात्पर्य क्या है? यह भी जान लेना आवश्यक होगा।

हम बतला आए हैं कि गीता में आत्मा—विश्व (ज्ञान—विज्ञान) दोनों का निरूपण

हुआ है। गीताशास्त्र दोनों का निरूपण करता है, वाङ्मय गीताशब्द के प्रयोग का यही कारण है। आत्मतत्व के अनेक विवर्त्त होते हैं। उन सब का यथाशक्य आगे के आत्मप्रकरण में निरूपण किया जायगा। यहां इस सम्बन्ध में केवल यही जान लेना बस होगा कि आत्मब्रह्म के विश्व, विश्वात्मा, विश्वातीत यह तीन प्रधान विवर्त्त माने गए हैं। आनन्द-विज्ञान-मनोमय वही आत्मा विश्वातीत है। मन-प्राण-वाङ्मय वही आत्मा विश्वात्मा है, एवं वाक्-आप-अग्निमय वही आत्मा विश्व है। इन तीनों में विश्वातीत आत्मा शब्दातीत बनता हुआ शास्त्रानधिकृत है। शेष रहते हैं विश्वात्मा, एवं विश्व। इन दोनों आत्मविवर्त्तों के मध्य में दोनों से सम्बन्ध रखने वाला वाक्तत्व ही है। मनःप्राणवाङ्मय विश्वात्मा भी वाक् से संगृहीत है, एवं वाक् आप-अग्निमय विश्व भी वाक् से ही परिगृहीत है। वाक् संदशपतित है। इस प्रकार उपभयनिष्ठ यह वाक्तत्व आत्मा-विश्व दोनों का संग्राहक बन रहा है।

आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञानयोग का इसी से सम्बन्ध है। सुप्रसिद्ध सांख्यनिष्ठा का मूलाधार ज्ञानमूर्त्ति यही आत्मा है। विश्व कर्म्ममय है, कर्म्मयोग का इसी से सम्बन्ध है। प्रसिद्ध योगनिष्ठा (कर्मयोग) का मूलाधार कर्म्ममूर्त्ति यही विश्व है। उधर मध्यस्थ वाक्तत्व आत्मा के ज्ञान से ज्ञानमय, एवं विश्व के कर्म्म से कर्ममय बनता हुआ ज्ञानकर्म्ममय है। भगवान् की दृष्टि में विशुद्ध ज्ञानयोग भी अच्छा नहीं है, एवं विशुद्ध कर्मयोग को भी यह बुरा समझते हैं। इनका प्रधान विषय है—**ज्ञानकर्म्ममय बुद्धियोग**।

भगवान् बुद्धि का योग चाहते हैं बहिरंग प्रकृति प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद भेद से पांच भागों में विभक्त है। इन पांचों का क्रमशः विश्वात्मा के पञ्चपर्वा विश्व के स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी इन पांचो पर्वों से सम्बन्ध है। सूर्य्य से नीचे का भाग मर्त्य विश्व है, सूर्य्य से उपर विश्वातीत आत्मा है। मध्य में सूर्य है। इस प्राकृतिक क्रम में सूर्य्य की मूलप्रकृति वाक्तत्व ही है। वाङमय यही सूर्य बुद्धि का प्रभव है। अतएव हम बुद्धि को अवश्य ही वाङ्मयी कहने के लिए तय्यार हैं। गीताशास्त्र चूंकि वाङ्मयी, किंवा वाक्प्रकृतिक बुद्धि-योग का निरूपण करता है, वाक्तत्व शब्द की मूल प्रतिष्ठा है, एवं गीता शब्द शब्दार्थक गै

वातु से संपन्न हुआ है, ऐसी दशा में इस शास्त्र को "गीता" शब्द से सम्बोधित करना सर्वथा अन्वर्थ बन जाता है ।
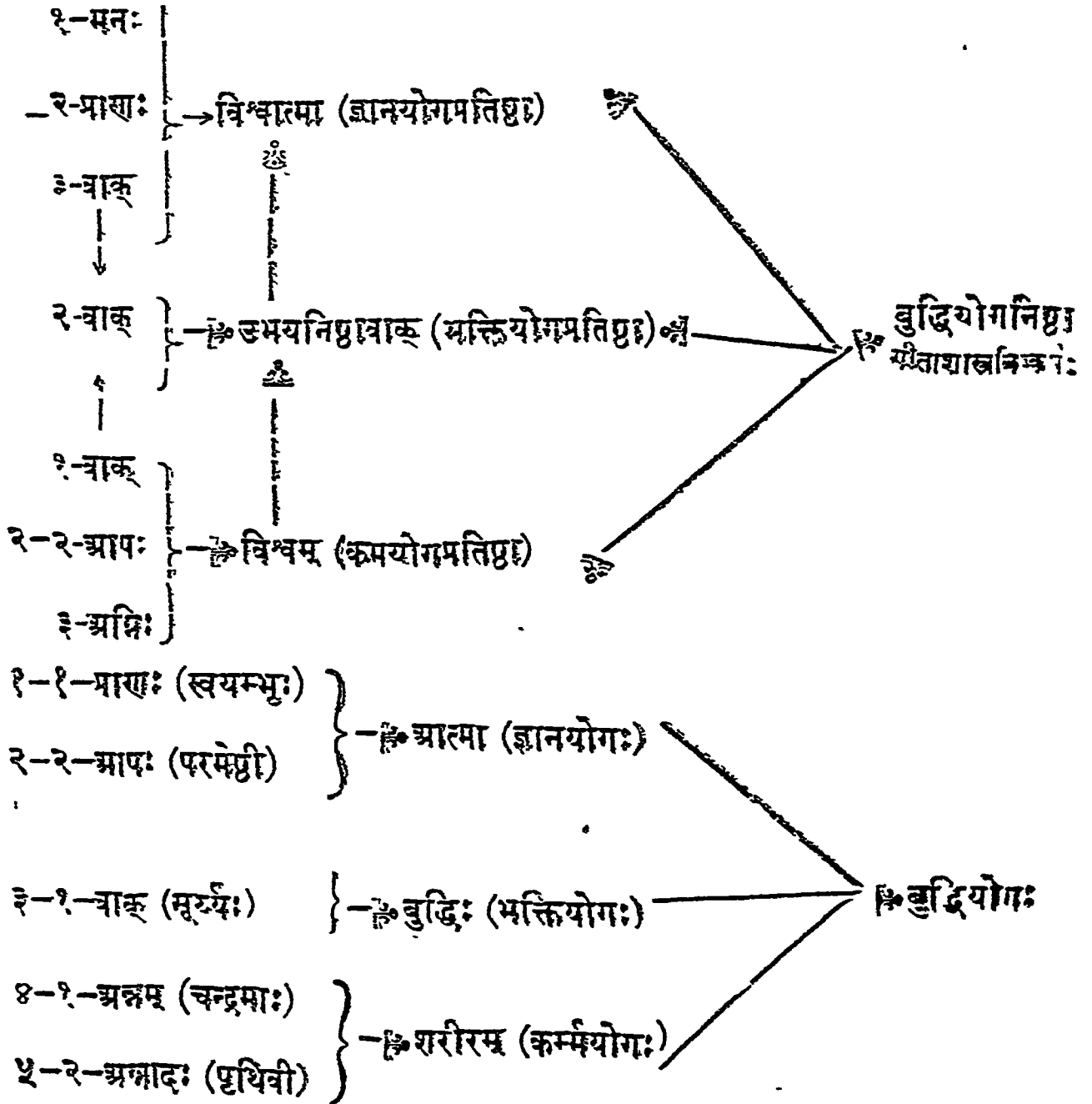
इति गीतानाममीमांसायां गीताशब्दनिरुक्तिः

—— ५ ——

समाप्ता चेयं गीतानाममीमांसा

—— ७ ——

८—गीताशास्त्र की अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता

❀ श्रीः ❀

गीताशास्त्र की अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता

जिस शास्त्र के नाम में ही अपूर्व मौलिक रहस्य छिपा हुआ है, उस शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय कैसा रहस्यपूर्ण होगा ? यह प्रश्न पूर्व की नाममीमांसा से ही गतार्थ है । सचमुच गीताशास्त्र इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण है । गीता विषय किस दृष्टि से अपूर्व है ? कैसे पूर्ण है ? क्या विलक्षणता है ? प्रकृत प्रकरण में संक्षेप से इन्हीं प्रश्नों के समाधान की चेष्टा की जायगी ।

गीता की अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता का एकमात्र विज्ञान दृष्टि से ही सम्बन्ध है । विना विज्ञानदृष्टि के हमारी दृष्टि में गीता का कोई महत्व नहीं रहता । यदि प्राचीन व्याख्याताओं के अनुसार गीता को विशुद्ध दर्शन ग्रन्थ मान लिया जाता है तो गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ न रहकर गतानुगतिक शास्त्र रह जाता है । प्राचीन शास्त्रो नें समष्टि, एवं व्यष्टिरूप से आत्मकल्याण के लिए ज्ञान - भक्ति - कर्म्म नाम के तीन योगों का निरूपण किया है । शास्त्रो का कहना है कि मनुष्य अपनी योग्यता की परीक्षा करता हुआ ज्ञान–भक्ति–कर्म्म तीनो में से किसी एक का (अधिकारी भेद से) आश्रय लेता हुआ अपना हित साधन कर सकता है । तीनों ही कल्याण के पथ हैं । क्योंकि तीनो हीं मार्ग वेद सम्मत है ।

वेद का ब्राह्मणभाग मनुष्य के कर्तव्य की शिक्षा देता है । मनुष्य का कर्त्तव्य अधिकारी भेद से कर्म्म–भक्ति–ज्ञान भेद से तीन भागों में वटा हुआ है । इसी लिए वेद के ब्राह्मणभाग के विधि–आरण्यक–उपनिषत् यह तीन अवान्तर विभाग उपलब्ध होते हैं । विधि भाग कर्म्म का गुप्त रहस्य वतलाता हुआ कर्म्मयोग का, आरण्यक भाग उपासना, किंवा भक्ति का गुप्त रहस्य वतलाता हुआ भक्तियोग का, एवं उपनिषत् भाग ज्ञान का गुप्त रहस्य वतलाता हुआ ज्ञानयोग का निरूपण करता है ।

इन्हीं तीन वेद भागों पर जैमिनि, शाण्डिल्य एवं व्यास ने तीन स्वतन्त्र दर्शन लिखे हैं । जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शन ब्राह्मणोक्त कर्म्म की मीमांसा करता है । ब्राह्मणभाग चूंकि पूर्वभाग है, अतएव यह दर्शन पूर्वमीमांसा नाम से प्रसिद्ध है । विधि आदेश है, आदेश चोदना

(प्रेरणा) है। यही इस पूर्वमीमांसा का मुख्य विषय है। इसी आधार पर मीमांसा ने धर्म्म का—"चोदनालक्षणोऽर्थोधर्म्मः" (पू० मी०..........) यह लक्षण किया है। शाण्डिल्य प्रणीत शाण्डिल्यदर्शन आरण्यकोक्त भक्ति की मीमांसा करता है। ईश्वर के साथ अनुरक्ति ही पराभक्ति है। इसी आधार पर शाण्डिल्यदर्शन का आरम्भ "सा परानुरक्तिरीश्वरे" (..........) से हुआ है। व्यासप्रणीत शारीरकदर्शन उपनिषदुक्त ज्ञान की मीमांसा करता है। उपनिषत् चूंकि वेद का उत्तर, एवं अन्तिम भाग है, अतएव तद्मीमांसक इस व्यासदर्शन को उत्तरमीमांसा, वेदान्त आदि कहा गया है। ज्ञान ब्रह्म का सूचक है। "ब्रह्म कर्म्म च मे दिव्यम्" में ज्ञान के अभिप्राय से ही ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसी आधार पर ज्ञानप्रतिपादक वेदान्तदर्शन का आरम्भ "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" (व्यास सू० १।१।१) इस रूप से हुआ है। इस प्रकार वेद का कर्त्तव्य भाग प्रतिपादक ब्राह्मणभाग (विधि-आरण्यक-उपनिषत् भाग), एवं तद्मीमांसारूप तीनों दर्शनशास्त्र क्रमशः कर्म्म-भक्ति-ज्ञान का स्वतन्त्र रूप से निरूपण कर रहे हैं।
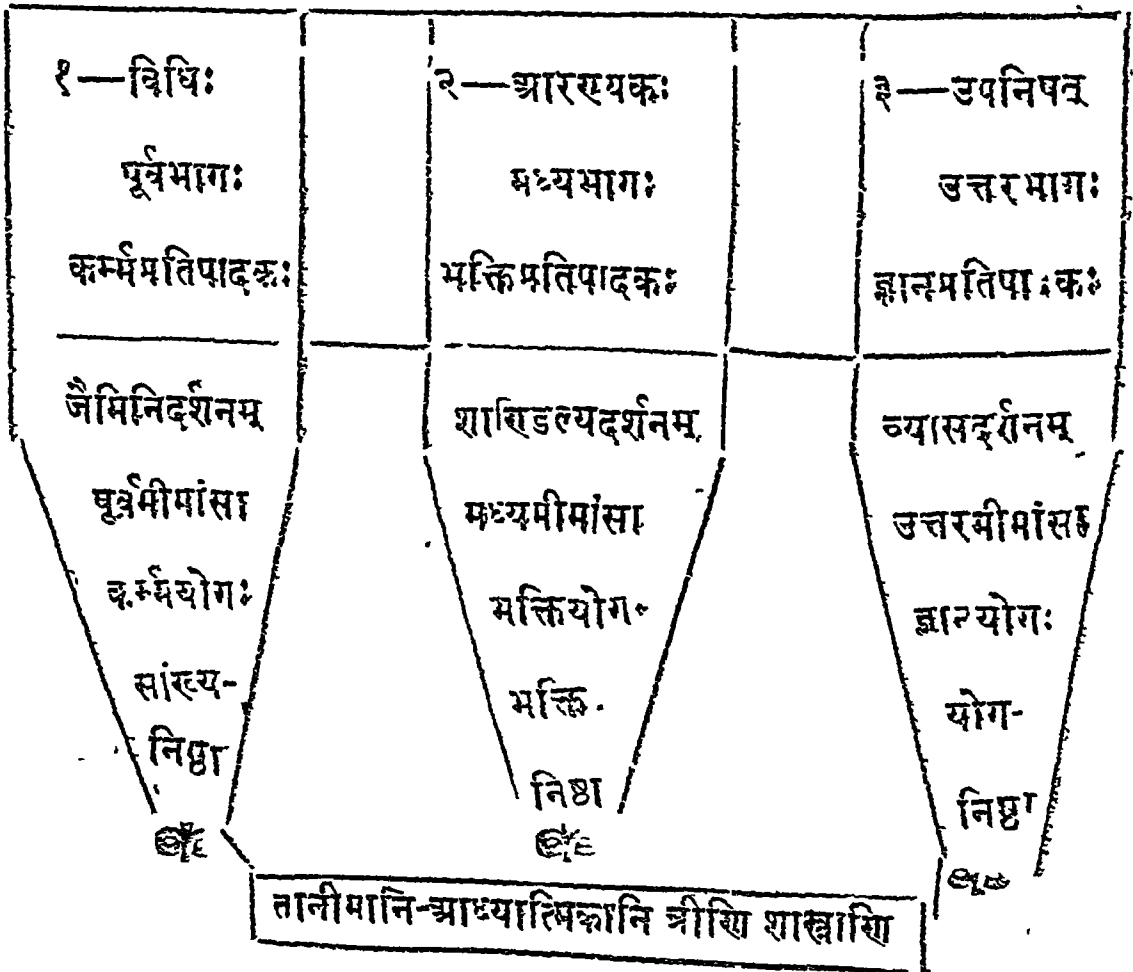
यदि उक्त शास्त्रदृष्टि को प्रधानता देते हुए हम विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि से ही गीता के प्रतिपाद्य विषय का विचार करते हैं तो इसमें हमें कोई अपूर्वता नहीं मिलती। तब तो हम गीता के सम्बन्ध में केवल यही कह सकते हैं कि जिन कर्म्म–भक्ति–ज्ञानयोगों का वेद के पृथक् पृथक् तीन भागों में निरूपण हुआ है, एवं जिन तीनों का तीन आचार्योंने पृथक् पृथक् निरूपण किया है, भगवान् ने केवल एक ही शास्त्र में तीनों का संग्रह कर लिया है। गीता-शास्त्र कर्म–भक्ति–ज्ञान अधिकारी भेद से तीनों का ही निरूपण करता है। ऐसी दशा में गीता-शास्त्र एक प्रकार से सर्वथा व्यर्थ, एवं केवल पिष्टपेषण रह जाता है। सभी तो तीनों के अधिकारी हैं नहीं, एवं तीनों का निरूपण पूर्व से सिद्ध है ही। फिर व्यास को इस स्वतन्त्र रचना की कोई आवश्यकता न थी। गृहस्थी पूर्वमीमांसायुक्त विधिभागद्वारा कर्म्मकाण्ड में, वान-प्रस्थी मध्यमीमांसायुक्त आरण्यकभागद्वारा भक्तिकाण्ड में, एवं सन्यासी उत्तरमीमांसायुक्त उपनिषत् भागद्वारा ज्ञानकाण्ड में प्रवृत्त होता हुआ बिना गीता के भी अपने पुरुषार्थ को जब सिद्ध कर सकता था तो फिर गीता का एक भार और हमारे मत्थे डाल देना कोई महत्व नहीं रखता। जब हम प्राचीन व्याख्याताओं से इस प्रश्न का उत्तर पूंछते हैं तो वे मौन धारण करलेते हैं। कारण उनकी दृष्टि दर्शनमात्र से सम्बन्ध रखती है। एवं दार्शनिक दृष्टि से "तीनों का एक ही ग्रन्थ में निरूपण हुआ है" इस के अतिरिक्त और उत्तर बन नहीं सकता।

गीता की विषयसङ्गति प्राचीनोंनें इसी रूप से हमारे सामने रक्खी है। प्राचीनों के मतानुसार आरम्भ के ६ अध्याय ज्ञानयोग का निरूपण करते हैं, मध्य के ६ अध्याय भक्तियोग के प्रतिपादक हैं, एवं अन्त के ६ अध्यायों में कर्म्मयोग का निरूपण हुआ है। ज्ञानयोगप्रति-पादिका षडध्यायी ६ अध्यायों में क्रमशः १–विषादयोग, २–सांख्ययोग ३–कर्म्मयोग ४–ज्ञानकर्म्मसंन्यासयोग, ५–कर्म्मसंन्यासयोग, ६–आत्मसंयमयोग इन ६ योगों का निरूपण हुआ है। प्रत्येक में क्रमशः ४७/१, ७२/२, ४३/३, ४२/४, २९/५, ४७/६ इतने इतने, सम्भूय २८० श्लोक हैं।

भक्तियोगप्रतिपादिका मध्य की षडध्यायी के ६ अध्यायों में क्रमशः १-ज्ञानविज्ञानयोग २-अक्षरब्रह्मयोग, ३-राजगुह्ययोग, ४-विभूतियोग, ५-विश्वरूपदर्शनयोग ६-भक्तियोग इन ६ योगो का निरूपण हुआ है। प्रत्येक में क्रमशः $\frac{३०}{१}$, $\frac{२८}{२}$, $\frac{३४}{३}$, $\frac{४२}{४}$, $\frac{५५}{५}$ $\frac{२०}{६}$ इतने इतने, सम्भूय २०९ श्लोक है।

कर्म्मयोगप्रतिपादिका अन्त की षडध्यायी के ६ अध्यायो में क्रमशः १-प्रकृतिपुरुषविभागयोग, २-गुणत्रयविभागयोग, ३-पुरुषोत्तमयोग, ४-देवासुरसंपत्तियोग, ५-श्रद्धात्रययोग, ६-संन्यासयोग इन ६ योगों का निरूपण हुआ है। प्रत्येक में क्रमशः $\frac{३४}{१}$, $\frac{२७}{२}$, $\frac{२०}{३}$, $\frac{२४}{४}$, $\frac{२८}{५}$, $\frac{७८}{६}$ इतने इतने सम्भूय २११ श्लोक हैं। इस प्रकार काण्डत्रय में विभक्त ७०० श्लोकों का यह गीता शास्त्र तीन योगों का ही निरूपण करता है। प्राचीन व्याख्याताओंने उक्त विषय विभाग को ही प्रधानता दी है। फलतः उनके अनुयायी भारतीय विद्वान भी इसी पथ का अनुगमन कर रहे हैं। यह त्रिपथ सम्प्रदायवाद का जनक बना है। इसी विभक्तिने सम्प्रदायो में कलह का बीज वपन किया है। होसकता है, साधारण लौकिक मनुष्य केवल इसी विभक्ति पर विश्राम करले। परन्तु एक वैज्ञानिक इस विषय विभाग को किसी भी दृष्टि से उपयोगी नहीं मान सकता, जैसा कि आगे आने वाले **विषयविभागप्रदर्शन** में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

प्राचीनदृष्टिसम्मतविषयविभाग

काण्ड	अध्याय	श्लोक	योग	षट्क	निष्ठा
१ ज्ञानकाण्डम्	१——विषादयोगः	४७	२८०	ज्ञानयोगप्रतिपादिका षड्ध्यायी	सांख्यनेष्ठा
	२——सांख्ययोगः	७२			
	३——कर्म्मयोगः	४३			
	४——ज्ञानकर्म्मसंन्यासयोग	४२			
	५——कर्म्मसंन्यासयोगः	२९			
	६——आत्मसंयमयोगः	४७			
२ भक्तिकाण्डम्	७ (१)–ज्ञानविज्ञानयोगः	३०	२०९	भक्तियोगप्रतिपादिका षड्ध्यायी	भक्तिनिष्ठा
	८ (२)–अक्षरब्रह्मयोगः	२८			
	९ (३)–राजगुह्ययोगः	३४			
	१०(४)–विभूतियोगः	४२			
	११(५)–विश्वरूपदर्शनयोगः	५५			
	१२(६)–भक्तियोगः	२०			
३ कर्म्मकाण्डम्	१३(१)–प्रकृतिपुरुषविभागयोगः	३४	२११	कर्म्मयोगप्रतिपादिका षड्ध्यायी	योगनिष्ठा
	१४(२)–गुणत्रयविभागयोगः	२७			
	१५(३)–पुरुषोत्तमयोगः	२०			
	१६(४)–देवासुरसम्पत्तियोगः	२४			
	१७(५)–श्रद्धात्रययोगः	२८			
	१८(६)–संन्यासयोगः	७८			
३	स एष गीताशास्त्रनिष्कर्षोदार्शनिकः		७००		

प्राचीन व्याख्याताओं का उक्त विषय विभाग, एवं अध्याय विभाग सर्वथा निर्मूल हो यह बात तो नहीं है। अवश्य ही ऐतिहासिक दृष्टि से गीता के १८ अध्याय मानना, एवं दार्शनिक दृष्टि से गीता के ३ काण्ड मानना एक प्रकार से युक्तिसङ्गत अतएव आदरणीय है। सर्वसाधारण के लिए यही विषय विभाग सहज रूप से ग्राह्य भी है। सभी व्यक्ति विज्ञान के अधिकारी नहीं वन सकते। फलतः विज्ञानसम्मत विषय विभाग सर्वसाधारण का उपयोगी नहीं वन सकता। "कश्चिद्यतति सिद्धये"–'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" के अनुसार गीता के वैज्ञानिकतत्त्व को समझने वाले विरले ही मिलते हैं। यही कारण था कि अर्जुनोपदेशकाल से पहिले कई शताब्दियों तक वह विद्यातत्त्व सर्वथा विलुप्त ही वना रहा। उस समय विद्वान् न थे, यह वात न थी। परन्तु वे इस रहस्य को भूले हुए थे। "स कालेन महता योगो नष्टः परन्तप"। इत्यादि रूप से भगवान् स्वयं यह सिद्ध कर रहे हैं कि मैंने देवयुग में जिस गीताविज्ञान का, किंवा सहकृत-कर्म्मरूप वुद्धियोग का उपदेश दिया था, वह नष्ट होगया है। कुछ शताव्दियों से लोक में ज्ञान एवं योग नाम की दो स्वतन्त्र निष्ठाएं प्रचलित हैं। ज्ञान–कर्म्म की समुच्चयरूपा वुद्धियोगनिष्ठा को लोग भूल गए हैं। मैं आज तुझे वही विलुप्तयोग (अपना प्रिय समझ कर) वतला रहा हूं।

क्या आश्चर्य है, भगवान् का यह उपदेश कुछ समय तक तो यथावत् चलता रहा हो, एवं पुनः इसने उन्हीं लोकनिष्ठाओं का रूप धारण कर लिया हो। आश्चर्य नहीं, ऐसा ही हुआ है। इतिहासग्रन्थ (महाभारत) में पड़े रहने के कारण अवश्य ही गीताशास्त्र आगे जाकर व्याख्याताओं के द्वारा पुनः विलुप्त होगया है। फिर भारतवर्ष में वही सांख्य एवं कर्म्मनिष्ठा पनप गई है। परिणाम स्वरूप आज भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदाएं उत्पन्न होगई हैं। गीता का सार्वदैशिक सिद्धान्त जनता भूल गई है। अद्वैत पक्षपाती व्याख्याताओंने इसे केवल ज्ञानप्रधान ग्रन्थ मान लिया है। वल्लभ–रामानुज--निम्वार्क--माध्वादि वैष्णवों ने इसे एकमात्र भक्तिग्रन्थ मान लिया है। एवं इधर कुछ समय से कुछ राष्ट्रवादियोंनें अपनी कल्पना के वल पर इसे कर्म्म योग की उपाधि से विभूषित कर डाला है। इस प्रकार गीता आज व्यक्तितुष्टि का कारण वनती हुई अवश्य ही अपनी व्यापक वुद्धियोगनिष्ठा से वञ्चित होगई है।

गीता का उपदेश महाभारत युद्ध के समय हुआ था। युद्ध प्रसङ्ग से भगवान् व्यास ने महाभारत ग्रन्थ लिखा। चूकि गीतोपदेश भी इस ऐतिह्यकाल से सम्बन्ध रखता था, अतएव उसी इतिहास ग्रन्थ में व्यासने अपने शब्दों से गीता का भी समावेश करदिया। किसी कारणविशेष से महाभारत में १८ पर्व रक्खे गए हैं। यह अष्टादशभाव इतिहास मर्य्यादा का सूचक माना गया है, जैसा कि आगे आनेवाले संख्याविज्ञान में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। ऐतिह्य-मर्य्यादा के रक्षक, साथ ही में परोक्षप्रिय व्यासने इतिहास दृष्टि को प्रधान लक्ष्य मानते हुए गीता को भी १८ ही अध्यायों में विभक्त किया। गीता का वास्तविक विद्यातत्व क्यों तिरोहित होगया, इसका एक कारण जहा यह ऐतिह्यभाव है। वहां दूसरा कारण व्याख्याताओं की संकुचित बुद्धि है। उन्होने पहिले अपना एक सिद्धान्त निश्चित कर लिया है, अनन्तर स्वसिद्धान्तानुसार गीता के अर्थ करने का प्रयास किया है। गीता क्या कहती है, इसकी उपेक्षा कर व्याख्याताओंने—"हमने जो समझ रक्खा है, वह गीता में है, अथवा नहीं" इस दृष्टि से गीता की व्याख्या की है। यही कारण है कि आज लगभग सभी व्याख्याए (अभिनवगुप्ताचार्य की व्याख्या को छोड़ कर) इसी ऐतिह्यदृष्टिमूल दार्शनिक रग से रगी हुई है। इसी व्याख्यादोष से गीता का विज्ञानरहस्य तिरोहित होरहा है।

गीता इतिहास में उद्धृत है, इस दृष्टि से इस के १८ अध्याय होना न्यायसङ्गत है। किन्तु एकमात्र इसी हेतु से गीता को विद्यामर्य्यादा से पृथक् नहीं किया जासकता। विद्या का गुरु-शिष्य सम्प्रदाय से सम्बन्ध है, तत्वदर्शी विद्वान् विद्या के उपदेष्टा है। गीता ने "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्"- "उपदेक्ष्यति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः" इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में अपने आप को जब विद्याग्रन्थ बतलाया है तो ऐसी दशा में इसे केवल ऐतिह्यग्रन्थ नहीं माना जासकता। फलतः एक दृष्टि से गीता शास्त्र अपने १८ अध्यायों, एवं उक्त तीनो काण्डो को साथ लेता हुआ जहा ऐतिहासिक, किंवा इतिहास मर्य्यादा से आक्रान्त दार्शनिकग्रन्थ है, वहां अपनी चतुर्विधा विद्या, एव चतुर्विध वेद्याबुद्धियोग निरूपण के कारण अवश्य ही एक विज्ञानशास्त्र है। जो महानुभाव इतिहास, दर्शन, एवं सम्प्रदायवाद के भक्त हैं, उन के लिए

दार्शनकगीता, एवं प्रचलित विषय विभाग आदरणीय है, परन्तु जो विद्या के अनुयायी· तत्वदर्शी किञ्चित् मर्य्यादा से युक्त विद्वान् हैं, उन की दृष्टि में न प्रचलित अध्याय क्रम का ही कुछ मूल्य है, एवं न स्वतन्त्र तीन काण्डो का ही कुछ महत्व है। विद्योपदेश का जैसा क्रम है, उसी के अनुसार एक विद्वान् गीता का विषय विभाग करेगा। एवं उसी विषय विभाग के बल पर वह गीता की इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता सिद्ध करेगा। साथ ही में उस का यह सिद्धिभाव विज्ञानजगत् के लिए अवश्य ही एक अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण वस्तु होगी।

गीता पर पीछे दृष्टि डालिए, पहिले स्वयं गीताचार्य की ही परीक्षा कीजिए। भगवान् कृष्ण आर्यजाति के परम उपास्य देव हैं, इस में कोई सन्देह नहीं। परन्तु हम देखते हैं कि उन की यह उपासना भी आज दो भागों में बटी हुई है। आज ही क्या, यह उपासना द्वैविध्य चिरकाल से चला आरहा है। इस द्वैधीभाव का मुख्य कारण स्वयं भगवान् का द्वैविध्य है। भगवान् का जीवन मनुष्यभाव, ईश्वरभाव भेद से दो भागों में बटा हुआ है। बालसुलभ साधारण चरित्र, मित्रगोष्ठी, युद्धप्रसंगो में सहयोग, दूतभाव, विवाह पुत्र-कलत्र संगति, आदि मनुष्य सुलभ भाव भी कृष्ण में विद्यमान थे, साथ ही में विराट्स्वरूपप्रदर्शन, असंगता, परमैश्वर्य, परमवैराग्य, ज्ञानोदय, धर्म्मोदय, आदि ईश्वरानुगत धर्म्म भी इन में पूर्णरूप से विकसित थे। भगवान् आधिकारिक जीव थे। लोककल्याण के लिए भगवान् का अवतार हुआ था। लोक सामान्य, एवं विशेषभावों से दो भागों में विभक्त है। भगवान् को दोनो का ही कल्याण अभीष्ट था। अतएव उन्हें अपने जीवन को दो भागो में विभक्त करना पड़ा। अपने मनुष्यरूप से जहां उन्होंने बालकों, स्त्रियों, एवं सामान्य मनुष्यों का कल्याण किया, वहां अपने ईश्वरभाव से वे योगियों की उपासना के धरातल बने।

भगवान् के इन्हीं दोनों रूपों को हम क्रमशः ऐतिहासिक, एवं वैज्ञानिकरूप कह सकते हैं। इतिहासदृष्ट्या भगवान् ने एक स्थान में जन्म लिया था, एवं अपने अलौकिक गुणों, एवं अतुलित शक्तियों के आधार पर दुष्टो का दमन किया था। विज्ञानदृष्टि से यह सम्पूर्णविश्व के आत्मा थे। स्वय नन्ददम्पति भी भगवान् के इन सर्वथा विरुद्ध दोनों रूपों को देख कर कभी कभी व्यामोह में पड़ जाते थे। साधारणरूप से नन्ददम्पति इन्हें अपना प्रिय बालक समझते थे। भगवान् भी

योगमायाद्वारा इन की इस वात्सल्यभावना को सुरक्षित रखते थे। परन्तु जिन्होने इस सामान्य रूप से कृष्ण को देखा था, वे भी कभी कभी इन के उन अद्भुत ईश्वरीय चरित्रों को देख कर अवाक् रह जाते थे। थोड़ी देर के लिए वे अपना वह सखाभाव भूल जाते थे। परन्तु तत्काल भगवान् योगमायाद्वारा उन्हे विस्मृति के गर्भ में डाल देते थे।

भगवान् के यही दोनों स्वरूप हमारी दृष्टि में **नन्दनन्दन**, एवं **वसुदेवनन्दन** इन नामों से व्यवहृत होनें चाहिएं। पहिला रूप मनुष्यविध है, ऐतिहासिक है। दूसरा रूप ईश्वरविध है, वैज्ञानिक है। यही कारण था कि जिस आयु तक भगवान् नन्दनन्दन बने रहे, तभी तक उन में मानुपभावों की प्रधानता रही। जिस क्षण में गोकुल से लोट कर उन्होने वसुदेवनन्दन का वाना पहिना, उसी क्षण से उन का जीवन एक गम्भीर भाव में परिणत होगया। इन दोनो में पहिले रूप के उपासक अधिक संख्या में हैं, परन्तु दूसरे रूप के उपासक परिगणित हैं। नन्दनन्दन को सभी जानते, एवं मानते हैं. बालभाव सभी को प्रिय है। परन्तु वासुदेवकृष्ण का स्वरूप जानने वाले वैज्ञानिक दुर्लभ ही नहीं, अपितु सुदुर्लभ है। **"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः"** इत्यादिरूप से स्वयं भगवान् ने अपने इस वासुदेवरूप को क्वाचित्क बतलाया है।

उक्त निदर्शन से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि जिन साम्प्रदायिकों की दृष्टि कृष्ण के ऐतिहासिक मानुष रूप पर है, दूसरे शब्दो में जो नन्दनन्दन के उपासक हैं, वे अवश्य ही गीता के इतिहास सम्बद्ध अध्याय विभाग का आश्रय लेते हुए केवल अक्षरार्थ द्वारा, अथवा गीता पारायण से सन्तोष कर सकते हैं। परन्तु जिन की दृष्टि कृष्ण के वैज्ञानिक ईश्वरभाव पर है, जो वासुदेवसत्यकृष्ण को व्यापक समझते हैं, उन के लिए विज्ञानभाव ही सन्तोप का कारण बन सकता है। वे ही तात्विकदृष्टि से गीता का विचार कर सकते हैं। उन्हीं की दृष्टि में गीताशास्त्र इतरशास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण हो सकता है। साथ ही में हमारा यह विज्ञान-भाष्य भी उन्हीं की तुष्टि कर सकता है। विज्ञानदृष्टि को प्रधान मानने से गीता में क्या अपूर्वता आजाती है? इसी प्रश्न का समाधान कर यह प्रकरण समाप्त किया जाता है।

आत्मतत्त्व स्वस्वरूप से सर्वथा आनन्दघन है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आत्मा कभी भूल कर भी दुःख की कामना नहीं करता। इस प्रकार अपने रूप से नित्यानन्दघन बनता हुआ भी यह आत्मा संस्कार विशेषों की कृपा से दुःख पाया करता है। यही संस्कार विशेष इस की जन्मप्रवृत्ति के कारण हैं। संचित संस्कारों के भोग के लिए ही इसे दुःखघन (बलघन) संसार में जीवरूप से आना पड़ता है। प्रवृद्ध विश्वदुःख के आघात से ताडित, एवं योगमाया के दृढ बन्धन से सर्वथा परतन्त्र बनता हुआ आनन्दमय (भी) आत्मा दुःखी होजाता है। इस सांसारिक दुःखसंघ को हटाकर आत्मा को उसके वास्तविक (शान्ति लक्षण आत्मरूप) आनन्द का अधिकार दिलाने के लिए ही हमारा गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। "अपने आप को पहिचान लेना" दूसरे शब्दों में "आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान करलेना" ही जीवात्मा का परम पुरुषार्थ है। आत्मा के स्वरूपज्ञान से मोह की ऐकान्तिक निवृत्ति होजाती है। मोहनिवृत्ति के अव्यवहितोत्तर काल में ही दुःखत्रय को (आध्यात्मिक—आधिदैविक—आधिभौतिक दुःखों की) सर्वथा निवृत्ति होजाती हैं। विना आत्मा का ज्ञान प्राप्त किए दुःखनिवृत्ति सर्वथा असम्भव है। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इस यजुः श्रुति के अनुसार आत्मज्ञान के अतिरिक्त शाश्वतशान्ति के लिए अन्य उपाय का अत्यन्ताभाव ही है।

"सर्वं चतुरस्रम्" इस आभाणक के अनुसार सर्वता, किंवा पूर्णता चतुःस्रक्ति (चार कोनों)-भाव पर निर्भर है। इसी आधार पर लोक में सर्वाधिपत्य के सम्बन्ध में "अमुकने चारों कोनें रोक लिए"—"अमुक न चारों कूटें रोकली, अब वहा दूसरे का प्रवेश असम्भव है"—"अमुक ने अमुक को चारों खानें चित्त कर डाला" "अमुक का तो राज्य चारों दिशाओं में फैला हुआ है" इत्यादि किंवदन्तिएं प्रचलित हैं। इसी आधार पर वेद का "चतुष्टयं वा इदं सर्वम्" [कौ० ब्रा० २।१] यह अनुगम प्रतिष्ठित है। आत्मा को "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" के अनुसार पूर्ण माना जाता है। पूर्णता, किंवा सर्वता चतुःस्रक्ति भाव पर, किंवा चतुष्पर्वसत्ता पर निर्भर है।

विचार यह प्रस्तुत है कि आत्मा की वे चारों स्रक्तिएं कौनसी हैं, जिनके सम्बन्ध से

आत्मा पूर्ण बना हुआ है ? एवं आत्मा की जिन चारों शक्तियों के सम्यक् परिज्ञान से अपने अपूर्ण कर्म्मात्मा का उस चतुःशक्ति पूर्णात्मा के साथ सम्बन्ध कराते हुए हम पूर्णभाव को प्राप्त कर आत्मलक्षण, अतएव पूर्ण भूमानन्द के अधिकारी बनजाते हैं ? विज्ञानवेत्तामहर्षि उत्तर देते हैं कि—आत्मा में विद्याबुद्धि के सम्बन्ध से आत्मा में पहिले से प्रतिष्ठित, पूर्णता सम्पादक वैराग्य—ज्ञान—ऐश्वर्य—धर्म्म इन चारो विद्यासम्पत्तियों का उदय होजाता है। इन चारों विद्याओ के सम्यक् परिज्ञान, एवं सम्यक् अनुष्ठान से ही आत्मा की पूर्णता का परिज्ञान, एव पूर्ण आत्मा की पूर्णसम्पत्ति का कर्म्मात्मा में उदय होता है ।

चूंकि वैराग्य—ज्ञानादि इन चारों विद्याबुद्धियों से आत्मा की वैराग्य—ज्ञानादि चारों विद्याओं का विकास होता है, अतएव साधकरूप इन विद्याबुद्धियों को हम अवश्य ही आत्मविद्या कहनें के लिए तय्यार हैं । यही चारों आत्मविद्याएं चार प्रकार के विद्याबुद्धियोगों की मूलप्रतिष्ठा है। आत्मविद्या ज्ञानप्रधाना है, बुद्धियोग कर्म्मप्रधान है। ज्ञान—कर्म्म दोनों हीं आत्मा की प्रातिस्विक (निजी) सम्पत्ति है। इन दोनों आत्मविवर्त्तों में से आत्मविद्या जहां आत्मा के ज्ञान भाग को विकसित करती है, वहां बुद्धियोग आत्मा के कर्म्मभाग को पूर्णरूप से विकसित कर देता है। इस प्रकार आत्मविद्यालक्षणा विद्या, एवं बुद्धियोग लक्षणयोग यह दोनों उपाय ज्ञान-कर्म्ममय आत्मा को सर्वात्मना प्रसन्न कर देते हैं । संसार के यच्चयावत् भौतिक पदार्थों की अपेक्षा आत्मा की यही अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता है । एवं इन तीनों भावों का एकमात्र श्रेय हमारे इस गीताशास्त्र को ही है।

हमारा गीताशास्त्र क्रमशः ६—२—४—६ इन अध्यायों से जहां आत्मविद्यारहस्य प्रतिपादिका **राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या** इन चार आत्मविद्याओ का परिज्ञान, एवं अनुष्ठान का उपाय बतलाता है, वहा यही गीताशास्त्र उसी क्रम से, उन्हीं अध्यायो के द्वारा क्रमशः **वैराग्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग** इन आत्मकर्म्मों का सम्यक् परिज्ञान करवाता हुआ, इनके सम्यक् अनुष्ठान का उपाय बतलाता है। गीताशास्त्र हमें पूर्णसम्पत्ति देता है, आत्मा की पूर्णसम्पत्तिएं बतलाता हुआ हमारे कर्म्मात्मा को

पूर्ण बनाता है। अतः हम इस शास्त्र को अवश्य ही इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण मानने के लिए तय्यार हैं।

गीताशास्त्र के अतिरिक्त और और शारीरक, वैशेषिक, प्राधानिक जितने भी आत्मशास्त्र, किंवा आत्मदर्शन हैं, वे सब इस प्रयत्न में आंशिक रूप से ही सफल हुए हैं, जैसाकि आगे के आत्मपरीक्षाप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृत में विषय संगति के लिए केवल यही जानलेना पर्याप्त होगा कि वैशेषिक दर्शन क्षरतत्व को आत्मा मानता है। इसीलिए उसने आत्मा को भी द्रव्य शब्द से सम्बोधित किया है। प्राधानिक (सांख्य) शास्त्र की दृष्टि अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध अक्षरतत्त्व पर है। एवं शारीरकदर्शन क्षरयुक्त अक्षर को ब्रह्म (आत्मा) मानता है। वेदान्तदर्शन का ब्रह्म पदार्थ कभी शाश्वत पदार्थ नहीं होसकता। कारण स्पष्ट है। ब्रह्म की जिज्ञासा शान्त करने के लिए व्यासने "जन्माद्यस्य यतः" "तत्तुसमन्वयात्" यह कहा है। इन सूत्रो का तात्पर्य यही है कि जिससे जन्म, स्थिति, भंग की प्रवृत्ति होती है, जो समन्वय के कारण विश्व की जन्म, स्थिति, भंग का कारण बनता है, वही ब्रह्म है। यह लक्षण क्षरयुक्त अक्षर पर ही चरितार्थ होता है। जन्म-स्थिति-भंग से सम्बन्ध रखने वाला आत्मा कभी मुख्य आत्मा नहीं माना जासकता। उपनिषत् सिद्धान्त के अनुसार आत्मा तो अजर, अमर, अभय, एवं द्वन्द्वातीत है। उसका जन्म-भोग-मृत्यु से क्या सम्बन्ध।

क्षराक्षररूप आत्मा मृत्युप्रधान बनता हुआ संसार में आता है, संसार से जाता है, संसार में रह कर अनुकूलवेदनात्मक सुखों, एवं प्रतिकूलवेदनात्मक दुःखों का भोग किया करता है। शास्त्रान्तर इसी आत्मा पर अपने प्रतिपाद्य विषय को समाप्त कर देते हैं। उन की दृष्टि मुख्य आत्मा पर जाती ही नहीं। जिस आत्मा के साथ शास्त्रान्तर जन्म-स्थिति-भंगात्मक मृत्युभावों का सम्बन्ध बतला रहे हैं, उसे हम किसी भी दृष्टि से आत्मा कहने के लिए तय्यार नहीं है। चूंकि इतर शास्त्रों ने क्षराक्षर को आत्मा कहा है, साथ ही में उस के साथ मृत्युत्रयी का सम्बन्ध भी माना है, एवं आत्मा इस मृत्युत्रयी से सर्वथा असंसृष्ट है। ऐसी दशा में हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि आत्मा अवश्य ही क्षर-अक्षर से कोई

पृथक् तत्व है। यदि उस का हमें परिज्ञान है तो अवश्य ही हम जीवन्मुक्त है । वह आत्मा वही आप का सुप्रसिद्ध "अव्ययपुरुष" है। यही विद्याकर्म्ममय है , यही मुख्य आत्मा है।

अन्यशास्त्रों ने जिन क्षर-अक्षरों को आत्मा मान रक्खा है, वे दोनो तो गीतासिद्धान्त के अनुसार अव्ययात्मा की अन्तरङ्ग प्रकृतिएं हैं। अक्षर पराप्रकृति है. क्षर अपराप्रकृति है । इन दोनों का शास्ता है-अव्यय पुरुप। पुरुप शब्द आत्मा का सम्बन्धी है। अव्यय-अक्षर-क्षर इन तीनों में पुरुप–कहलाने योग्य केवल अव्यय ही है प्रकृतिरूप अक्षर क्षर इस पुरुप के स्वभाव हैं, इसलिए गौणदृष्टि से गीता ने "द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च" इत्यादिरूप से पुरुप कह भर दिया है। वस्तुतः पुरुपशब्द अव्ययात्मा में ही निरूढ है॥

यह मान लेने में हमें अणुमात्र भी संकोच नहीं होता कि इस अव्ययात्मा का स्वरूप इतने विस्पष्ट रूप से एकमात्र गीताशास्त्र ने ही हमारे सामने रक्खा है। गीता से अतिरिक्त और और जितने आत्मशास्त्र हैं, वे इस सम्बन्ध में तटस्थवत् ही रहे हैं । चूंकि अव्यय पूर्णपुरुप है, इतर आत्माओं से अपूर्व (अनादि–सर्वादि) है, सर्वत्र रहता हुआ भी लिप्त न होने के कारण इतर पदार्थों की अपेक्षा विलक्षण है, एवं गीता शास्त्र ने ही इस अपूर्व-पूर्ण, एवं विलक्षण अव्यय का रहस्योद्घाटन किया है। दूसरे शब्दो में आत्मविद्याघन अव्यय का सर्वप्रथम गीताने ही स्पष्टीकरण किया है। अव्ययविद्यानिरूपणात्मिका इसी अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता के कारण हम इस गीता शास्त्र को वैशेषिकादि इतर आत्मशास्त्रो की तुलना में अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण कहने के लिए तय्यार है । इसी दृष्टि से अव्यय-अक्षर-क्षर इन तीन विद्याओं में से हम गीताशास्त्र को **अव्ययविद्याशास्त्र**, किंवा **ब्रह्मविद्याशास्त्र** नाम से सम्बोधन करने के लिए तय्यार है।

विद्या (विद्यात्मक अव्यय) दृष्टि से गीता की अपूर्वता का विचार किया गया। अब योग (कर्म्म) दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाली विशेषता पर दृष्टि डालिए । जिस प्रकार अन्यशास्त्र ज्ञान आत्मज्ञान, आत्मस्वरूप) के स्वरूप निरूपण में असमर्थ रहे है, इसी प्रकार वे कर्म्म के सम्बन्ध में भी अपूर्ण ही रहे हैं । कर्त्तव्यभाग का ही नाम कर्म्म है। पूर्व में हमने इस कर्त्तव्यभाग को प्राचीनों की दृष्टि से ज्ञान--भक्ति-कर्म्म तीन भागों में विभक्त वतलाया है। इन तीनो के सम्बन्ध

में प्राचीनों का मन्तव्य सर्वथा अपूर्ण है। उनकी दृष्टि में सर्वकर्म्मसंन्यासलक्षणा सांख्यनिष्ठा ज्ञानयोग है, कर्म्मपरिग्रहलक्षणा कामनामयी कर्म्मनिष्ठा कर्म्मयोग है, एवं उभयधर्म्मावच्छिन्न, किन्तु ईश्वरानुग्रहरूपफलोन्मुखा ईश्वरप्रणिधानलक्षणा भक्तिनिष्ठा भक्तियोग है। तीनों का धरातल सर्वथा स्वतन्त्र है। ज्ञानयोगानुयायी ऐहलौकिक पारलौकिक सभी कर्म्मों को छोड़ने में अपना परम पुरुषार्थ समझ रहे हैं। कर्म्मयोगी कामनामयीफलासक्ति को आगे कर कर्म्म में प्रवृत्त होरहे हैं। एक भक्तियोगी ईश्वरानुग्रहरूपफल की कामना से बद्ध होरहे हैं। एक में ज्ञानासक्ति है, एक में कर्मासक्ति है, एक में ईश्वरासक्ति है। आसक्ति की दृष्टि से तीनों ही योग कामनामय है। जहां कामना है, वहां संस्कारलेप है। जहां संस्कारलेप है, वहां आत्मा बन्धन में है। एवं बंधन ही आत्मा की अपूर्णता है। फलतः प्राचीनाभिमत तीनों हीं योगों की अपूर्णता सिद्ध होजाती है।

इसी अपूर्णता के कारण गीताशास्त्र की दृष्टि में उक्त तीनों हीं योग आत्मा की पूर्णता को उससे वियुक्त करने के कारण बनते हुए अयोग, किंवा भ्रष्टयोग है। एक देहधारी के लिए कर्म्म का एकान्त संन्यास सर्वथा असम्भव है, इसलिए तो प्राचीनों की सांख्यनिष्ठा का कोई महत्त्व नहीं। प्रवृत्तिमूलक कर्म्म आसक्तिमय बनते हुए मुक्ति के स्थान में बंधन के कारण हैं, इसलिए उनकी इस कर्म्मनिष्ठा का भी आत्मदृष्टि से कोई महत्व नहीं। उधर भक्तियोगनिष्ठा भी ईश्वर प्राप्तिरूपफल की अनुगामिनी बनती हुई उत्कृष्ट नहीं रहती।

तीनों निष्ठाएं अपूर्ण हैं। अपूर्णता विषमता की जननी है। विषमता समता की विघातिका है। समता का अभाव ही पारस्परिक क्लेश का, किंवा मताभिनिवेश का जनक है। यही कारण है कि उक्त तीनो निष्ठाओं के अनुयायी तीनो दल एक दूसरे की निष्ठा के आगे एक दूसरे की निष्ठा को निन्दनीय बतलाते हुए परस्पर में झगड़ते रहते हैं। सांख्यनिष्ठ ज्ञानी कर्म्मनिष्ठ कर्म्मठ को, साथ ही में उसकी योगनिष्ठा को, एवं भक्तिनिष्ठ भक्त को, साथ ही में भक्तिनिष्ठा को, हेय बतला रहा है। भक्तिपथानुगामी ज्ञान–कर्म्म को तिरस्कार की दृष्टि से देख रहे हैं। एवं कर्म्मठ ज्ञानी–एवं भक्त का उपहास कर रहे हैं।

आश्चर्य तो यह है कि आज यह तीनों अपूर्णयोग भी स्वरूप से सुरक्षित नहीं है। हां कहने भर को आज भक्ति ने अवश्य ही अपना प्रभुत्व जमा रक्खा है। ज्ञान-कर्म्म का कहीं पता भी नहीं है। बाल-वृद्ध-युवा-स्त्री-धनिक-निर्धन-मूर्ख-विद्वान् सब अपने आपको भक्तराज मानने का दम भर रहे हैं। कर्त्तव्यकर्म्म में असमर्थ आज का भारतवर्ष अपने आलस्य को भक्ति के पर्दे से ढकने का प्रयास कर रहा है। वर्णाश्रमधर्म्म का आज कोई महत्व नहीं है।

हमारा तो विश्वास है कि यदि शास्त्र में कुछ भी सत्यता है, यदि "स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" इस भगवदादेश में कुछ भी तथ्य है तो शास्त्रप्रतिषिद्ध आज की भक्ति का कोई महत्व नहीं है। स्मरण रखिए, हाथ जोड़ देने से ही भगवान् कभी हमारे पाप क्षमा नहीं कर सकते। हमें अपने कृताकृत का फल अवश्य ही भोगना पड़ेगा। भगवान् के दर्शन से, नाम स्मरण से पापजनित दुःखो को भोगने के लिए, आत्मा में एक प्रकार का बल अवश्य आजाता है। परन्तु भगवान् ऐसे दयालु नहीं है कि हम रातदिन जघन्य सांसारिक स्वार्थों में लिप्त रहें, पूर्ण विषयासक्त बने रहें, और मन्दिर में जाकर हाथ जोड़कर-"हे भगवान्! तू बडा दयालु है, हमारे पाप क्षमा करना" यह कह देने मात्र से, अथवा लोकख्याति के व्याज से घन्टे दो घन्टे के लिए झांझ-मंजीरे-ढोलक-करताल लेकर घुंघुरू बांधकर हरे राम, हरे राम कर लेने मात्र से भगवान् हमारे ऊपर सचमुच प्रसन्न हो जाय। बडा मिथ्या विश्वास है।

हमारा तो यह भी विश्वास है कि ऐसे उत्पथगामी भगवान् के पवित्र नाम की ओट में भोली जनता को व्यामोह में डाल कर अपनी वासना को और भी अधिक उत्तेजित करते हैं। भक्ति बाजारू चीज नहीं है। वह एकान्त की वस्तु है। सर्वश्री साधु तुकाराम, ज्ञानेश्वर महाराज, समर्थ रामदास स्वामी, नरसी मेहता, भक्तिपरायणा मीरा, आदि महापुरुषो के उदाहरण हम संसारियो के लिए कोई काम नहीं दे सकते। हमें इनके चरित्रो की ओट में भक्ति का स्वांग भरने का कोई अधिकार नहीं है। यदि हम वैसे ही बन जाय, तब लोक-शास्त्र

मर्य्यादा की अवहेलना की जासकती है। भगवत् सम्पत्ति से युक्त महापुरुषों का आचरण हमारे लिए प्रमाण नहीं है, अपितु उनका आदेश ही हमारे लिए हितकर है। [देखिए श्रीमद्भागवत् १० स्कन्ध पू० ३३ अ० ३०-३१-३२ श्लो०।

अस्तु, वक्तव्य यही है कि शास्त्रान्तरों में जिन ज्ञान-भक्ति-कर्म्मनिष्ठाओं का निरूपण हुआ है, वे सब पूर्वकथनानुसार अपूर्ण हैं। इधर हमारे गीताशास्त्र ने इन तीनों की मर्य्यादा सुरक्षित रखते हुए, तीनों के समष्टिरूप, अतएव तीनों की अपेक्षा सर्वथा अपूर्व बुद्धियोग का उपदेश दिया है, जो कि अन्यशास्त्रों में सर्वथा अनुपलब्ध है। भगवान् ने—"न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते—न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति"—"कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताजनकादयः" "नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्मज्यायोह्यकर्म्मणः" इत्यादि रूप से बड़े आवेश के साथ प्राचीनाभिमत सर्वकर्म्मात्यन्तसंन्यास लक्षण ज्ञाननिष्ठा का एकान्ततः खण्डन करते हुए, साथ ही में "त्रैगुण्यविषया वेदा निःस्त्रैगुण्योभवार्जुन"—"कामात्मानः स्वर्गपराः"-"भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां"-"स शान्तिमाप्नोति न कामकामी" इत्यादि रूप से प्रवृत्तिप्रधान वैदिककर्म्ममयकर्म्मयोग का खण्डन करते हुए, साथ ही में भक्तियोगनिष्ठा की फल प्रवृत्ति का एकान्ततः निरोध करते हुए, इस में ज्ञान-वैराग्य का समावेश करते हुए निम्न लिखित रूप से बड़े आरोप के साथ बुद्धियोगनिष्ठा का उपदेश दिया है।

कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मातेसङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ १ ॥
दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ २ ॥
दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥ ३ ॥
कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ४ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५ ॥

इस प्रकार गीताशास्त्र त्रिब्रह्म में से अव्यय ब्रह्म का, एवं त्रियोग से विलक्षण, सर्वथा अपूर्व बुद्धियोग का निरूपण करता हुआ अवश्य ही इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण है ।

इस सम्बन्ध में एक आक्षेप उपस्थित होता है । "गीताशास्त्र अपूर्व अव्ययात्मा का, एवं सर्वथा अपूर्व बुद्धियोग का निरूपण करता हुआ अवश्य ही अपूर्व, एवं विलक्षणशास्त्र माना जा सकता है । परन्तु जिन क्षर-अक्षर नाम के दो आत्माओं का, एवं जिन ज्ञान-भक्ति-कर्म्म योगों का वैशेषिकादि अन्य शास्त्रों में निरूपण हुआ है, उन का चूंकि गीताशास्त्र निरूपण नहीं करता । ऐसी दशा में गीता को अपूर्व, एवं विलक्षण शास्त्र मानते हुए भी हम इसे पूर्ण, किंवा सर्वशास्त्र नहीं मान सकते" ।

कहना नहीं होगा कि उक्त आक्षेप का गीता की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। केवल इसी आक्षेप के बल पर गीता की पूर्णता की कोई क्षति नहीं होती । यदि गीताने आत्मविवर्त्तों में से अव्ययविवर्त्त का, एवं योगविवर्त्तों में से बुद्धियोगविवर्त्त का निरूपण कर दिया तो कुछ भी शेष नहीं रहा । क्षर-अक्षरादि इतर खण्डात्माओं की मूलप्रतिष्ठा परमात्मा नाम से प्रसिद्ध अव्ययपुरुष ही है । "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय"–"मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव"-"परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः पर"–"गतिर्भर्ताप्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् । प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम्"-"यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः"–"भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः" "मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्" "अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" इत्यादि रूप से गीताशास्त्र ने स्पष्ट शब्दों में अव्ययात्मा को ही इतर आत्मप्रपञ्च की मूलप्रतिष्ठा बतलाया है। वास्तव में कोशात्मक अव्ययब्रह्म सर्वालम्बन है । अव्यय के सुप्रसिद्ध वे पांचों कोश आनन्द-विज्ञान-मन प्राण-अन्न (तै०उप०ब्र०व०) नामों से प्रसिद्ध है। पञ्चकल अक्षरात्मा, एवं

पञ्चकल क्षरात्मा दोनोंकी प्रतिष्ठा यही पञ्चकल अव्यय है। अक्षरब्रह्मा, एवं क्षरप्राण अव्यय के आनन्दमयकोश से गृहीत हैं। अक्षरविष्णु, एवं क्षरआप अव्यय के विज्ञानमयकोश से गृहीत है। अक्षरइन्द्र, एवं क्षरवाक् अव्यय के मनोमयकोश से संगृहीत हैं। अक्षरसोम, एवं क्षर अन्न अव्यय के अन्नमयकोश में अन्तर्भूत हैं। अक्षर, अग्नि, एवं क्षर-अन्नाद अव्यय के प्राणमयकोश में अन्तर्भुक्त है। इसप्रकार अक्षर–क्षर दोनो पञ्चकल अव्यय से सगृहीत है। यदि सर्वालम्बन अव्यय को पकड़लिया तो वाकी क्या रह गया। सर्वालम्बन अव्यय की इसी सर्वता, किंवा पूर्णता का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है–

एतदालम्वनं श्रेष्ठमेतदालम्वनं परम्।
एतदालम्वन ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्। (कठ० १।२।१७)।

अपिच आत्मा के *अमृत–ब्रह्म–शुक्र यह तीन विवर्त्त मानें गये हैं। वाक्–आप अग्नि यह तीन शुक्र[१] हैं। शुक्रत्रय की समष्टि ही भूतात्मा है। प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद यह पांचों वहिरङ्ग प्रकृतियों की समष्टि ब्रह्म[२] है। प्राणब्रह्म अव्यक्तात्मा है, आपोब्रह्म महानात्मा है, वाग्ब्रह्म विज्ञानात्मा [बुद्धि] है, अन्नब्रह्म प्रज्ञानात्मा [मन] है, एवं अन्नादब्रह्म प्राणात्मा (कर्म्मात्मा–जीवात्मा–शारीरकआत्मा) है। अव्यय, अक्षर, क्षर की समष्टि अमृतम्[३] है। अमृतात्मा पुरुषात्मा, किंवा पुरुष है। ब्रह्मात्मा प्राकृतात्मा किंवा प्रकृति है। एवं शुक्रात्मा वैकारिकआत्मा, किंवा विकृति है। शुक्ररूप वैकारिक आत्मा, किंवा भूतात्मा की प्रतिष्ठा अमृतात्मा का क्षर भाग है–"क्षरः सर्वाणि भूतानि"। ब्रह्मरूप पांचों प्राकृतात्माओं की प्रतिष्ठा अमृतात्मा का अक्षरभाग है–"अक्षरं ब्रह्म परमम्"। स्वयं अमृतात्मा अव्ययप्रधान है। आनन्द विज्ञान–मनोमूर्ति ज्ञानात्मा अव्यय स्वय अपनी प्रतिष्ठा है–"स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः"। इस ज्ञानात्मक अव्यय से युक्त प्राणमूर्त्ति अव्यय अक्षर का प्रवर्त्तक है, एवं वाङ्मूर्ति अव्यय क्षर का

* इन तीनों विवर्त्तों का विशद वैज्ञानिक विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य (प्रथमखण्ड) में देखना चाहिए।

प्रवर्त्तक है। इसप्रकार अन्ततोगत्वा वही अव्यय अमृत है, वही अव्यय ब्रह्म है, वही अव्यय शुक्र है। अमृत–ब्रह्म–शुक्रात्मक अव्यय में सब कुछ अन्तर्भूत है। जिसने अव्यय को पहिचान लिया, उसने सब कुछ जान लिया। अव्यय की इसी पूर्णता को लक्ष्य में रखकर महर्षि कठ कहते हैं—

> "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
> तदेवशुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते।
> तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन। एतद्वै तत्"
> (कठोप० ५।१)।
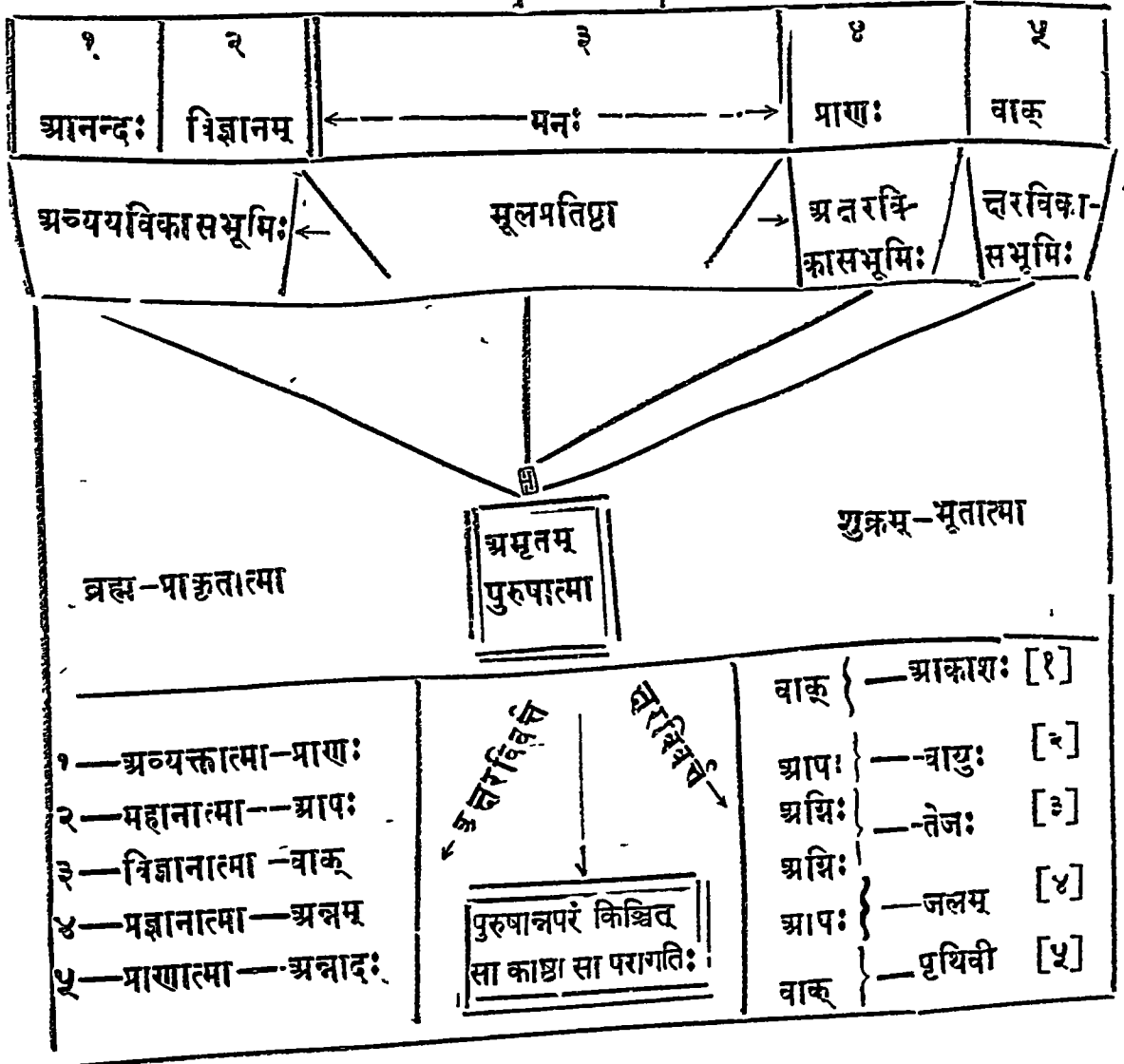
अपिच अव्ययनिरूपक गीताशास्त्र ने-"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च"-"इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसस्तु परा बुद्धिः" इत्यादि रूप से स्पष्टशब्दों में इतरखण्डात्माओं पर भी पूर्ण प्रकाश डालते हुए अपनी सर्वशास्त्रता को सर्वात्मना चरितार्थ किया है। यही स्थिति बुद्धियोग की है। भगवान् ने बड़े विस्तार के साथ ज्ञान-भक्ति-कर्म्म तीनों योगों का निरूपण करते हुए, तीनों में संशोधन कर, इन्हें बुद्धियोग का बाना पहिनाया है। भगवान् की दृष्टि में तीनों ही योग स्वतन्त्र रहते हुए ज्ञान-कर्म्म की विषमता के कारण श्रेयोभाव के स्थान में प्रेय के ही कारण बनते हैं। इन की विषमता समत्वमूलकशान्तिभाव की महाविरोधिनी है। इसीलिए भगवान् ने तीनों का समन्वय करते हुए अपूर्वबुद्धियोग का स्वरूप हमारे सामने रक्खा है। जो अन्यत्र है, वह तो यहां है ही, परन्तु जो अन्यत्र नहीं है, वह भी यहां विद्यमान है। इस प्रकार आत्माओं में अव्ययात्मा को, योगों में बुद्धियोग को अपना प्रधान लक्ष्य बनाता हुआ गीताशास्त्र इतर शास्त्रों में प्रतिपादित आत्म-योगों का संग्रह करता हुआ अवश्य ही पूर्ण शास्त्र है।

आत्मविद्या ब्रह्मविद्या है, यही ज्ञानसम्पत् है। बुद्धियोग योग है, यही कर्म्मसम्पत् है। चतुर्विध आत्मविद्या की दृष्टि से गीता **ब्रह्मविद्याशास्त्र** है, एवं चतुर्विधबुद्धियोग की दृष्टि से गीता **योगशास्त्र** है। गीता दोनों का निरूपण कर रही है। इसीलिए अध्यायोप संहार में-"इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" यह उद्धृत रहता है। यह अध्याय समाप्ति सूचक वचन भी गीता की इतर शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता ही सिद्ध कर रहा है।

६-विज्ञानगीता का विषय विभाग

॥ श्रीः ॥
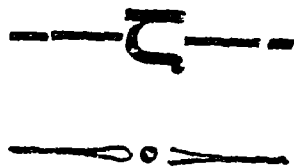
६–विषयविभागप्रदर्शन

गीताशास्त्र की इतर शास्त्रो की अपेक्षा अपूर्वता, पूर्णता, एवं विलक्षणता बतलाते हुए पूर्व के प्रकरण में हमने आत्मशास्त्रो को वैशेषिक, प्राधानिक, शारीरक इन तीन भागो में विभक्त बतलाया है-देखिए ८ प्रकरण पृष्ठसं० १४८ से १६७ तक । यदि वास्तविक दृष्टि [विज्ञान-दृष्टि] से विचार किया जाय तो इन तीनों शास्त्रो में से हम शारीरकशास्त्र (वेदान्तदर्शन) को ही प्रधानरूप से आत्मशास्त्र कहेंगे । कारण इसका यही है कि वैशेषिकशास्त्र क्षरात्मा का निरूपण करता है, एवं प्राधानिकशास्त्र क्षरविशिष्ट अक्षरात्मा का निरूपण करता है । इन दोनो में क्षर तो मुख्य आत्मा किसी भी दृष्टि से नहीं माना जासकता । रहा क्षरयुक्त अक्षर । यह भी प्रकृतिभाव के कारण व्यापक आत्मा की विभूति से वञ्चित रहता हुआ आत्ममर्य्यादा से वहिर्भूत ही है । इसीलिए सांख्यने प्रतिशरीरमें भिन्न भिन्न आत्मा माना है । क्षरयुक्त अक्षर वास्तव में प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है । यही शारीरक (शरीराभिमानी) आत्मा है । इस दृष्टि से सांख्य का प्रतिशरीरभिन्नतालक्षण आत्मभेद सर्वथा सुव्यवस्थित है । यही आत्मा सुख-दुःख-पुण्य-पाप उच्च-नीच आदि द्वन्द्वभावो का अधिकारी है । इसी शारीरक आत्मा के साथ एक प्रत्यगात्माको और सम्बद्ध रहता है । यह सर्वत्र समानरूप से, एकरूप से प्रतिष्ठित है । इसी को साक्षी कहा जाता है । सांख्यदर्शन जहां क्षररूपभूतात्मा को उद्देश्य बनाकर अक्षररूप शारीरक-आत्मा का विधान करता है, वहां शारीरकतन्त्र इस शारीरकआत्मा को उद्देश्य बनाकर इसके स्थान में सर्वत्र समरूप से व्याप्त प्रत्यगात्मा का विधान करता है ।

पदार्थों में परस्पर में जो भेद देखा जाता है, वही तत्तत् पदार्थों की विशेषता है । अणुभेद ही विशेषता का कारण है । भौतिक अणु, किंवा परमाणुओं की विशेषता ही भूत-भौतिकरूप पदार्थों की विशेषता है । चूंकि कणाददर्शन इसीका निरूपण करता है, अतएव इसे (विशेषभाव प्रवर्त्तक अणुवाद के कारण) वैशेषिकशास्त्र कहागया है ।

क्षरकूट ही विशेष है। इस विशेष का अव्यक्त अक्षर है। परमाणुओं को एक सूत्र में बद्धकर उन्हें पिण्डरूप देना इसी अक्षर का काम है। प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में बैठाहुआ यही अक्षर अपनी प्राणशक्ति से उस पदार्थ के क्षरकूट का नियमन किया करता है, अतएव इस विवर्त्त अक्षर को अन्तर्यामी कहाजाता है, जैसा कि **"तस्य वा एतस्य अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्य्या चन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"** [शत० १४।६ ८।] इत्यादि से स्पष्ट है। अक्षर की इसी कूटस्थता को लक्ष्य में रखकर—**"कूटस्थोऽक्षर उच्यते"** यह कहा गया है। यह कूटस्थ अक्षर ही विश्व का कारण है। क्षरकूटरूप विश्व कार्य है। इस कार्य की पूर्वावस्था कारणरूप अक्षर ही है। अव्यक्त अक्षर ही व्यक्तविश्व का निर्माता बनता है, जैसाकि—**"अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे"** इस सिद्धान्त से स्पष्ट है। इसी कारणता को सूचित करने के लिए अक्षर को **प्रकृति** (कृतेः प्राक्—कृतेः कार्यस्य पूर्वावस्था) कहा गया है। विश्वरचना में इसी की प्रधानता है। अतएव इसे प्रधान कहा जाता है। **अक्षर—अव्यक्त—प्रकृति—प्रधान** सब शब्द प्रायः समानार्थक हैं। यही अक्षर पराप्रकृति है। **"जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यते जगत्"** इस सिद्धान्त के अनुसार यही अक्षरप्रकृति प्रतीशरीरभिन्न जीवात्मा की स्वरूपसमर्पिका बनती है। सांख्यशास्त्र का लक्ष्य प्रकृतिरूप, किंवा अक्षररूप यही जीवात्मा है। अतएव इस शास्त्र को **"प्राधानिकदर्शन"** कहा गया है।

अक्षर का आलम्बन अव्यय है। अव्यय की प्रतिच्छाया, किंवा प्रतिबिम्ब ही आध्यात्मिक ईश्वर है। इसी आध्यात्मिक ईश्वर को प्रत्यगात्मा कहा जाता है। प्रत्यगात्मा शरीर में रहता हुआ भी अपने विभूतिभाव के कारण असङ्ग है। वह किसी आध्यात्मिकद्वन्द्व से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता। **'असङ्गोह्ययं पुरुषो, न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति"** **'न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"** इत्यादि श्रौत—स्मार्त्त प्रमाणों के अनुसार वास्तव में यह द्वन्द्वातीत है। यही देहस्थित, किन्तु देहाभिमानशून्य पर पुरुष है, जैसाकि—**"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः"** इत्यादि से स्पष्ट

है। वेदान्तदर्शन शारीरक को उद्देश्य मानकर उसके स्थान में अद्वयलक्षण इसी प्रत्यग्ब्रह्म का विधान करता है। चूंकि इसका प्रधान उद्देश्य शारीरक का कल्याण करना है, अतएव इस दर्शन को **शारीरकदर्शन** कहा गया है।

पूर्व के ८ वे प्रकरण में हमनें शारीरक को अक्षरप्रतिपादक बतलाया था। एवं यहा प्रत्यगात्मलक्षण अव्ययप्रतिपादक बतला रहे हैं। इसमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। शारीरक अव्यय का निरूपण करता है, परन्तु अध्यात्मदृष्टि से। अध्यात्म का अक्षरसे सम्बन्ध है। "**अक्षरधिया०**"इत्यादि शारीरक सिद्धान्त के अनुसार इसमें अव्यय को अक्षर का रूप दे-दिया गया है। विना अक्षर सम्बन्ध के शारीरकशास्त्र का विजिज्ञास्य ब्रह्मपदार्थ '**जन्माद्यस्य-यतः**" के अनुसार कभी जन्म-स्थिति-भंग का कारण नहीं बनसकता। अव्ययब्रह्म अक्षरप्रकृति के साथ युक्त होकर ही जन्मादि का कारण बनता है। इसी प्रकृतिभाव को सूचित करने के लिए व्यासने आगे जाकर—"**तत्तुसमन्वयात्**" यह कहा है। चूंकि अक्षरद्वारा इसने अव्ययात्मा का निरूपण किया है, इसलिए तो हम इसे अक्षरशास्त्र कह सकते हैं। साथ ही में अक्षर-द्वारा यह तटस्थ बुद्धि से हमारा ध्यान प्रत्यगात्मलक्षण अव्यय की ओर भी आकर्षित कर रहा है, इसलिए हमने इसे यहा अव्ययशास्त्र कह दिया है। समष्टिरूप से शारीरकशास्त्र अव्ययुक्त अक्षरशास्त्र है, प्राधानिकशास्त्र अक्षरशास्त्र है, एवं वैशेषिकशास्त्र क्षरशास्त्र है। तीनों में अव्यय ही मुख्य आत्मा है। गौणरूप से ही सही, परन्तु शारीरकनें अव्यय का स्पर्श अवश्य किया है। ऐसी दशा में इन तीनो शास्त्रों में शारीरकशास्त्र को ही हम प्रधानरूप से **आत्मशास्त्र** कहने के लिए तय्यार हैं।

शारीरकशास्त्र के अतिरिक्त आत्मा का निरूपण करनेवाली स्मार्त्तीउपनिषत्, एवं श्रौतीउपनिषत् और बचजाती हैं। स्मार्त्तीउपनिषत् **गीता** है, श्रौतीउपनिषत् **ईश केन-कठा**-दि नाम से प्रसिद्ध वेद का अन्तिम भाग है। इस प्रकार आत्मा का निरूपण करनेवाले हमारे सामने **शारीरकदर्शन-गीता-उपनिषत्** यह तीन शास्त्र उपस्थित होते हैं। इन तीनों में से [किसी कारण विशेष को लक्ष्य में रख कर] हमने मध्यस्थ गीताशास्त्र को ही इतर आत्म-

शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण. एवं विलक्षण कहा है।

आत्मस्वरूप की चरमसीमा पर पहुंचने वाले वैज्ञानिको ने आत्मस्वरूप ज्ञान के सम्बन्ध में हमारे सामने **ज्योति-वीर्य्य-अन्न** यह तीन तत्व रक्खे हैं। इन तीन तत्वों के सम्बन्ध से एक ही आत्मा की अनेक, किंवा प्रधानरूप से तीन संस्थाएं बनजातीं है। ज्ञानतत्व. किंवा **चित्**तत्व का ही नाम ज्योति[१] है। **बल-प्राण-क्रिया** आदि विविधनामों से प्रसिद्ध **गति**तत्व का ही नाम वीर्य्य[२] है। मायाबल की कृपा से उद्भूत, **मायायुक्त कला[१]-गुण[२]-विकार[३]-अञ्जन[४]-आवरण[५]** की समष्टि ही **अन्न**[३] है। दूसरे शब्दो में यो समझिए कि ज्ञानरूप ज्योति की विकृतावस्था ही गति-रूप वीर्य्य है, एव बलरूप वीर्य्य की विकृतावस्था ही मायाकलादिरूप अन्न है।

उक्त तीनों तत्वो में से **रसलक्षण** ज्योति, एवं **बललक्षण** वीर्य्य, इन दोनों की समष्टि तो विशुद्ध आत्मा है। यह विशुद्ध आत्मा सर्वथा निर्गुण, परिग्रहशून्य, अतएव शास्त्रानधिकृत है। यही मुख्य आत्मा है। तीसरा अन्नतत्व आत्मम‌र्य्यादा से सर्वथा वहिष्कृत है। इसी को **आत्मवित्त**, किंवा **आत्मपरिग्रह** कहा जाता है। चूंकि यह परिग्रह आत्मा का भोग्य है, एवं भोग्य पदार्थ को ही विज्ञानभाषा में अन्न कहा जाता है, अतएव हम इस परिग्रह को अवश्य ही "अन्न" शब्द से सम्बोधित करने के लिए तय्यार हैं।

अन्नरूप यह आत्मपरिग्रह **अन्तःपरिग्रह, बहिःपरिग्रह** भेद से दो प्रकार के मानें गए हैं। **माया-कला-गुण** यह तीन तो अन्तःपरिग्रह है, एवं **विकार, आवरण, अञ्जन** यह तीन वहिःपरिग्रह हैं। मायादि तीनों अन्तःपरिग्रह आत्मा के **स्वरूपधर्म्म** कहलाते हैं, एवं विकारादि तीनों वहिःपरिग्रह आत्मा के **आश्रितधर्म्म** कहलाते हैं। स्वरूपधर्म्मावच्छिन्न ज्योति–वीर्य्यलक्षण वह विशुद्ध आत्मा सोपाधिक वनता हुआ–**"सगुणआत्मा"** कहलाने लगता है, एवं आश्रितधर्म्मावच्छिन्न वही सगुणआत्मा **"सर्वधर्म्मोपपन्न"** नाम से व्यव-हृत होने लगता है। इस प्रकार अन्न, किंवा परिग्रह द्वैविध्य से सविशेष, किंवा सोपाधिक आत्मा-के दो विवर्त्त होजाते हैं। तीसरा एक विवर्त्त सर्वथा स्वतन्त्र निरुपाधिक वचजाता है। समष्टि-

ज्ञान से ज्योति वीर्य अन्न के तारतम्य से निरुपाधिक, सोपाधिकसगुण, सोपाधिकसर्वधर्मोपपन्न यह तीन आत्मसंस्थाएं हो जाती हैं। तीनों में निरुपाधिक आत्मा पर शब्द की गति असम्भव है। अतः उस का निरूपण करना शब्दशास्त्र के लिए असम्भव है। शेष रहते हैं सोपाधिक दोनों विवर्त्त। जो शास्त्र इन दोनों का, अथवा दोनों में से एक का निरूपण करता है, उसी को आत्मशास्त्र कहा जाता है।

१—ज्योतिः—ज्ञानम् (रसः)
२—वीर्यम्—क्रिया (बलम्)
} —निर्विशेष आत्मा—परात्परः—परमेश्वरः १

३—अन्नम्—अर्थः (विकृतिः) } —सविशेष आत्मा—विश्वेश्वरः—प्रजापतिः २

अन्तःपरिग्रहाः { १—माया, २—कला, ३—गुणाः } —अन्तःपरिग्रहात्मकमन्नम् (अन्तर्वित्तम्)

बहिःपरिग्रहाः { १—विकाराः, २—आवरणानि, ३—अञ्जनानि } —बहिःपरिग्रहात्मकमन्नम् (बहिर्वित्तम्)

} —पाट्कौशिकमन्नम्

निर्विशेषः { १.—सर्वविधधर्म्म-(स्वरूपाश्रितधर्म्म)-विरहितः → निर्गुण आत्मा-(विश्वातीतः)

सविशेषः { २.—अन्तरङ्गपरिग्रहात्मकस्वरूपधर्म्मावच्छिन्नः → सगुण आत्मा—(विश्वात्मा)।
३.—बहिरङ्गपरिग्रहात्मकाश्रितधर्म्मावच्छिन्नः → सर्वधर्म्मोपपन्नः-(विश्वमूर्त्तिः)।

उक्त ६ ओं परिग्रहों के सम्बन्ध की विलक्षणता का यदि विचार किया जाय तो सविशेष आत्मा के ६ विवर्त्त हो जाते हैं। इन ६ आत्मविवर्त्तों में चार तो प्रजापति विवर्त्त हैं, एवं दो पुरुषविवर्त्त हैं। साथ ही में इतना और ध्यान रखिए कि उत्तर उत्तर के आत्मविवर्त्त के साथ पूर्व पूर्व के आत्मविवर्त्त का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि

उत्तर के आत्मविवर्त्त का स्वरूप पूर्व के आत्मविवर्त्त को अपने गर्भ में रखकर ही अपना स्वरूप प्रतिष्ठित रखने में समर्थ होता है । पूर्व पूर्व का आत्मविवर्त्त ही उत्तर उत्तर के आत्मविवर्त्त का कारण है, एवं उत्तर उत्तर का आत्मविवर्त्त ही पूर्व पूर्व के आत्मविवर्त्त का कार्य है । कारण-सत्ता से ही कार्य की स्वरूपनिष्पत्ति होती है । इसी आधार पर—"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है ।

रसरूप ज्योति, एवं बलरूप वीर्य्य की समष्टि ही निरुपाधिक, सर्व्वधर्म्म बहिष्कृत परात्पर है । इसी का यत्किञ्चित् प्रदेश माया नाम के प्रथम परिग्रह से युक्त होकर **"पुरुष"** (विशुद्ध अव्ययपुरुष) नाम धारण कर लेता है । यह पुरुषात्मा कला नाम के दूसरे अन्तरङ्ग परिग्रह से युक्त होकर **"षोडशीपुरुष"** (पञ्चकल अव्यय, पञ्चकल अक्षर, पञ्चकल क्षर, परात्पर के सम्बन्ध से षोडशी, किंवा षोडशकल) नाम से प्रसिद्ध होता है । यही षोडशीपुरुष गुण नाम के तीसरे अन्तरङ्ग परिग्रह से युक्त होकर **"सत्यप्रजापति"** कहलाने लगता है । यही सत्यप्रजापति विकार नाम के चौथे बहिरङ्ग परिग्रह से युक्त होकर **"यज्ञप्रजापति"** कहलाने लगता है । यही यज्ञप्रजापति आवरण नाम के पांचवें बहिरङ्ग परिग्रह से युक्त होकर "विराट् प्रजापति" कहलाने लगता है । यही विराट् प्रजापति अञ्जन नाम के ६ ठे बहिरङ्ग परिग्रह से युक्त होकर **"विश्वप्रजापति"** नाम से सम्बोधित होने लगता है । इन ६ ओं आत्मसंस्थाओं में से पुरुष, षोडशी, सत्यप्रजापति इन तीन आत्मविवर्त्तों का समुच्चय तो **"सगुण आत्मा"** है, एवं यज्ञ, विराट्, विश्व इन तीन आत्मविवर्त्तों की समष्टि **"सर्वधर्म्मोपपन्नआत्मा"** है । तीसरा वही निरूपाधिक, मायाविरहित विशुद्ध तत्व है । उस एक ही की यह सात संस्थाएं हैं, जैसा कि—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादि श्रौत सिद्धान्त से स्पष्ट है ।

आत्मनः सप्तसंस्थापरिलेखः ("ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्याहुः)।

१—{ *१—निर्म्मायी—स एष आत्मा व्यापकः [१]—परात्परः } — निर्गुण आत्मा— **विश्वातीतः**

२— {
१-१-माया परिग्रहसम्बन्धात् स एव [२]—पुरुषः
२-२-कला परिग्रहसम्बन्धात् स एव [३]—षोडशी
३-३-गुण परिग्रहसम्बन्धात् स एव [४]—सत्यप्रजापतिः
} — सगुण आत्मा— **विश्वात्मा**

३ { ४-१-विकारपरिग्रहसम्बन्धात् स एव [५] यज्ञप्रजापतिः
५-२-आवरणपरिग्रहसम्बन्धात् स एव [६] विराट्प्रजापतिः
६-३-अञ्जनपरिग्रहसम्बन्धात् स एव [७] विश्वप्रजापतिः } सर्वधर्म्मोपपन्नः- ३ विश्वम्

—०—

१—	परात्पर·	परात्परः	निर्गुण आत्मा-विश्वातीत· —१—
२—	परात्परगर्भितः	पुरुष·	
३—	पुरुष-परात्परगर्भितः	षोडशीपुरुषः	
४—	षोडशी-पुरुष-परात्परगर्भितः	सत्यप्रजापति	
५—	सत्य-षोडशी-पुरुष-परात्परगर्भित·	यज्ञप्रजापतिः	
६—	यज्ञ सत्य षोडशी-पुरुष-परात्परगर्भित	विराट्प्रजापतिः	
७—	विराट्-यज्ञ-सत्य-षोडशी-पुरुष-परात्परगर्भित	विश्वप्रजापति·	

सगुण आत्मा

विश्वात्मा २

सगुणनिर्गुण आत्मा

विश्वम् ३

परात्परगर्भित सर्वम् —७— —०— *

—०—

उक्त सात आत्मविवर्त्तों में से परात्पर नाम के पहिले निर्गुण आत्मा का तो शब्दशास्त्र से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। शेष ६ ओं आत्मविवर्त्तों का शास्त्रों में बड़े विस्तार के साथ निरूपण हुआ है। जिन शास्त्रोंनें इन ६ आत्मसंस्थाओं का निरूपण किया है, वे ही आज दिन भारतवर्ष में (विज्ञान सम्प्रदाय में) आत्मशास्त्र नाम से प्रसिद्ध हैं। देखना यह है कि किस आत्मशास्त्रने किस आत्मविवर्त्त का विशेष रूप से निरूपण किया है।

ऋक्, यजुः, साम, अथर्व (शाखासहित) इन चारों वेदों की समष्टिरूप मन्त्रसंहिताभाग, एवं विधि नाम का ब्राह्मणभाग प्रधानरूप से प्रजापतिलक्षण सर्वधर्म्मोपपन्न आत्मा का निरूपण करता है। विश्व, विराट्, यज्ञ, इन तीन प्रजापतियों की समष्टि ही "सर्वधर्म्मोपपन्नआत्मा" है। वेदने (मन्त्र और विधिभाग ने) इस आत्मा के विश्व–विराट्–यज्ञ तीनों का सुविशद निरूपण किया है। यही तीन प्रजापतिसंस्थाएं इसके प्रधान उद्देश्य हैं। इन तीनों को उद्देश्य मान कर तीनों के स्थान में सगुण आत्मा के अन्तिमपर्व रूप गुणात्मक सत्यप्रजापति का विधान करना ही इस वेद भाग का मुख्य उद्देश्य है। दूसरे शब्दो में विश्व का सम्यक् निरूपण कर इस की ओर से हमारे कर्म्मात्मा को विराट् की ओर, विराट् से यज्ञ की ओर, एवं यज्ञ से सत्य की ओर लेजाना ही इस शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। "सत्यप्रजापति कैसे यज्ञप्रजापतिरूप में परिणत होजाता है ?"-"यह यज्ञप्रजापति कैसे विराट्प्रजापति की उत्पत्ति का कारण बनगया ?" "विराट् प्रजापति से सम्पूर्ण विश्व कैसे उत्पन्न होगया" ?-"एवं विराट् से उत्पन्न विश्व का क्या स्वरूप है ?"–इस प्राजापत्य विज्ञान से हम कैसे क्या लाभ उठा सकते हैं ?" इन सब प्रश्नों का सम्यक् समाधान करता हुआ यज्ञ द्वारा यह शास्त्र हमें सत्य पर प्रतिष्ठित कर देता है। चूंकि इसमें प्रजापतिविवर्त्त की ही प्रधानता है, अतएव हम इसे "प्रजापतिशास्त्र" किंवा "प्राजापत्यशास्त्र" कह सकते हैं। वेद के इस भाग का प्रधान निशाना प्रजापति ही है। इसी भाव को व्यक्त करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव।
यत् कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

(यजुः० सं० २३.६५)

दूसरा है सगुण आत्मा। इसके पुरुष-षोडशी-सत्य यह तीन विवर्त्त हैं। स्वरूप-धर्म्मोपपन्न [माया-कला-गुणपरिग्रहधर्म्मोपपन्न] आत्मा का निरूपण आरण्यक गर्भित वेद के उपनिषत् भागने किया है उपनिषच्छास्त्र सगुण आत्मा को अपना मुख्य उद्देश्य मानता हुआ अवश्य ही "सगुण आत्मशास्त्र" है। यह शास्त्र सत्य-षोडशी-पुरुष [क्रमशः अधिकारी भेद से] इन तीनों सगुणात्मसंस्थाओं को उद्देश्य मानकर, इनके स्थान में उस निर्गुण, विश्वातीत परात्पर का विधान करता है। दूसरे शब्दो में यों समझिए कि यह हमारे कर्म्मात्मा को सत्य से षोडशी पर लेजाता है, षोडशी से विशुद्ध अव्ययपुरुष पर लेजाकर छोड़ देता है। वहां पहुंचे बाद [अव्यय को प्राप्त किए बाद] विना प्रयास के अपने आप यह पुरुष उस परात्पर में लीन होजाता है। उपनिषत् स्वय पुरुष को परात्पर पर पहुंचाने में असमर्थ है। क्योंकि शब्दात्मक उपनिषत् शास्त्र की वहां गति नहीं है। यह तो पुरुष पर पहुंचा मात्र देता है। परात्पर के सम्बन्ध में इस की ओर से "नायमात्मा प्रवचन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" यही उत्तर मिलता है।

इस प्रकार मन्त्र-विधि, आरण्यक-उपनिषत् रूप वेदशास्त्र द्वारा सम्पूर्ण आत्मविवर्त्त गतार्थ बन जाते हैं। मन्त्र-विधिभाग अशन-आवरण-विकार परिग्रहयुक्त सर्वधर्म्मोपपन्न आत्मा का निरूपण कर डालता है, एवं आरण्यक-उपनिषत भाग गुण-कला-माया परिग्रहयुक्त सगुण आत्मा का निरूपण कर डालता है। आत्मसम्बन्ध में दो ही निरूपणीय विषय थे, एवं दोनों का ही मन्त्र-विधि-आरण्यक-उपनिषत् रूप वेदभागने निरूपण कर डाला। अब बाकी क्या रहा। तभी तो इस अपौरुषेय शास्त्र के सम्बन्ध में—'सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" [मनु० १२।९७] यह प्रसिद्ध है।

जब कि आत्मा के सम्बन्ध में अपेक्षित जिज्ञासा उक्त रूप से वेद से ही पूरी हो जाती है तो प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इतरशास्त्रों का क्या उपयोग ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में "आत्म-परीक्षा" शब्द को ही हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित करेंगे। वैदिकसाहित्यने आत्मा का जो स्वरूप बतलाया है, उसे सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने के लिए ही इतर आत्मशास्त्रों की प्रवृत्ति हुई

है। इसी आधार पर हम उन शास्त्रों को "आत्मपरीक्षणशास्त्र" कह सकते हैं। यह आत्मपरीक्षा ज्ञान-विज्ञान भेद सें दो भागों में विभक्त है। ज्ञानात्मिका परीक्षा को ही दर्शन कहा जाता है, एवं विज्ञानात्मिका परीक्षा ही विज्ञान शब्द से सम्बोधित है। इस दृष्टि से आत्मपरीक्षाशास्त्र आगे जाकर दो भागों में विभक्त हो गया है।

पहिले दर्शनशास्त्र का ही विचार कीजिए। दर्शनशास्त्र के शारीरक, माधानिक, वैशेषिक, स्याद्वाद, वैनाशिक, लौकायतिक भेद से ६ भेद मानें गए हैं। प्राचीन सम्प्रदाय के अनुसार न्याय, मीमांसा, (पूर्वमीमांसा), योग के समावेश से ६ आस्तिक दर्शन माने गए हैं, एवं चार्वाक, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, आर्हत यह ६ नास्तिकदर्शन माने गए हैं। परन्तु विज्ञानदृष्टि से न्याय-मीमांसा-योग तीनों हीं दर्शनमर्य्यादा से वहिष्कृत हैं। एवमेव उक्त ६ नास्तिकदर्शनो का भी स्याद्वाद, लौकायतिक, वैभाषिक इन तीन नास्तिकदर्शनों में हीं अन्तर्भाव हो जाता है। अस्तु इन सब विषयों का विशद निरूपण आगे आने वाले आत्मपरीक्षाप्रकरण में किया जाने वाला है। प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि पूर्वकथनानुसार ३-आस्तिकदर्श, ३-नास्तिक दर्शन, सम्भूय कुल ६ दर्शन हैं।

त्रिधाविभक्त नास्तिक दर्शन ने साक्षन आत्मा [विश्व] की परीक्षा की है। आस्तिक दर्शनों में से पहिले वैशेषिक दर्शन ने क्षरप्रधान विराट्प्रजापति, एवं यज्ञप्रजापति की परीक्षा की है। प्राधानिक [सांख्य] दर्शन ने क्षराक्षरप्रधान सत्यप्रजापति की परीक्षा की है, एवं शारीरक दर्शन ने अव्यय गर्भित अक्षरप्रधान षोडशीपुरुष [ब्रह्म] की परीक्षा की है। इस प्रकार दर्शन की परीक्षा दृष्टि षोडशीपुरुष पर समाप्त होजाती है। तत्वपरीक्षा को ही दर्शन कहते हैं। यह तत्व परीक्षा दृष्टिज्ञानप्रधाना है। इससे केवल तत्वज्ञान होता है। जिस ज्ञान के लिए पाश्चात्यभाषा में "थ्योरीटिकलनॉलेज" [Thoritical knowledge.] शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसी अर्थ में हमारा दर्शन शब्द निरूढ है।

यह तो हुई ज्ञान परीक्षा। दूसरी विज्ञानपरीक्षा है। यह परीक्षा व्यवहार से सम्बन्ध रखती है। जिसे पश्चिमी विद्वान् "प्रेक्टिकलनॉलेज" (Practical knowledge) शब्द से

सम्बोधित करते हैं, ठीक उसी अर्थ में मीमांसा शब्द प्रयुक्त हुआ है। दर्शन जहां ज्ञानप्रधान है, वहां मीमांसा विज्ञानप्रधान है। दर्शन शास्त्र जहा फिलॉसफी [Phelashapy] है, वहा मीमांसाशास्त्र सायन्स [Saience] है। सुप्रसिद्ध मीमांसा [पूर्वमीमांसा] दर्शन ने अपने १२ अध्यायों से आत्मा की विज्ञानदृष्टि से परीक्षा की है, अतएव इसे हम विज्ञानयुक्तआत्मपरीक्षाशास्त्र कह सकते हैं।

इन सब के अन्त में गीताशास्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। सर्वमूलभूत जिस मायी अव्यय पुरुष पर पूर्व के किसी आत्मशास्त्र, किंवा आत्मपरीक्षाशास्त्र ने विशेषरूप से प्रकाश न डाला था, गीता ने प्रधानरूप से उसी अव्ययपुरुष को अपना प्रधान लक्ष्य बनाया है। सब से बड़ा महत्त्व तो इस शास्त्र का यह है कि आत्मशास्त्रों ने जिन विषयों का निरूपण किया है, एवं आत्मपरीक्षकशास्त्रों ने जिन विषयों की परीक्षा की है, अव्ययनिरूपण के साथ साथ उन सब का भी गीता शास्त्र में समावेश हुआ है। इसीलिए तो वेदवत् हम इसे सर्वशास्त्र कहते हैं। इसीलिए तो वेद न होने पर भी इसे उपनिषत् शब्द से सम्बोधित किया गया है। निम्न लिखित श्लोको पर दृष्टि डालते जाइए, एवं गीता की महत्ता का यशोगान करते जाइए, समाधान हो जायगा।

१—विश्वप्रजापतिनिरूपक वचन

१—मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि नचाहं तेष्ववस्थितः॥ [९।४]।

२—भूमिरापोनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ [७।४]।

—— ० ——

२—विराट्प्रजापतिनिरूपक वचन

१—एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥ [११।३]।

२—इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ (११।७)

३—यज्ञप्रजापतिनिरूपक वचन

१—सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ गी० [३।१०]

२—कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ [३।१५]

४—हृदयप्रजापतिनिरूपक वचन

१—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ १६।७

२—असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ १६।८

षोडशीनिरूपक वचन

१—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १५।१६

२—उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १५।१७

६—अव्ययपुरुषनिरूपकवचन

१—गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ (९।१८)।

२—उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (१३।२२)।

—०—

आत्मशास्त्र के अतिरिक्त दर्शन ने जिस ज्ञानदृष्टि से आत्मा की परीक्षा की है, एवं मीमांसा ने जिस विज्ञानदृष्टि से आत्मा की परीक्षा की है, उन दोनो का भी—"ज्ञानतेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः । यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते" इत्यादि रूप से गीता में पूर्ण समावेश है । ऐसी अवस्था में यदि हम गीताशास्त्र को (सर्वसम्मिश्रण के कारण) सर्वशास्त्र कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी । फलतः वेद (मन्त्रभाग, एवं विधिभाग), वेदान्त [आरण्यकभाग, एवं उपनिषत्भाग], दर्शन [२ आस्तिकदर्शन, ३ नास्तिक दर्शन], मीमांसा, गीता भेद भिन्न इन पाचों आत्मशास्त्रो, एवं आत्मपरीक्षाशास्त्रों में गीता की ही सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है ।

१—वेदशास्त्रम् (मन्त्र-विधिभागात्मकम्)——→ आत्मशास्त्रम् ।

१-सत्यप्रजापतिः } — सगुणावयवः-विधेयः

१— { [विकारयुक्तः] १-यज्ञप्रजापतिः, [आवरणोपेतः] २-विराट्प्रजापति, [अञ्जनोपेतः] ३-विश्वप्रजापतिः } — सर्वधर्म्मोपपन्नः-उद्देश्यः

} — सर्वधर्म्मोपपन्न-आत्मशास्त्रम्

—०—

२—वेदान्तशास्त्रम् (आरण्यक-उपनिषद्भागात्मकम्) ⊱ आत्मशास्त्रम् ।

१.—परात्परः } — ⊱ निर्गुणः—विधेयः

२ — { [मायोपेतः] १—पुरुषः ; [कलोपेतः] २—षोडषी ; [गुणोपेतः] ३—सत्यप्रजापतिः } ⊱ सगुणः—उद्देश्यः

} ⊱ सगुणात्मशास्त्रम् ।

―――

३—दर्शनशास्त्रम् (षड्दर्शनशास्त्रम्) ⊱ आत्मपरीक्षणशास्त्रं-ज्ञानप्रधानम्

आस्तिकदर्शनम्

- १—शारीरकदर्शनम् } — ⊱ अव्ययगर्भिताक्षरपरीक्षाशास्त्रम् ⊱ षोडशीशास्त्रम्
- २—प्राधानिकदर्शनम् } — ⊱ अक्षरपरीक्षाशास्त्रम् —— ⊱ सत्यप्रजापतिशास्त्रम्
- ३—वैशेषिकदर्शनम् } — ⊱ क्षरपरीक्षाशास्त्रम् —— ⊱ विराट्-यज्ञपः शास्त्रम्

नास्तिकदर्शनम्

- १—स्याद्वाददर्शनम्
- २—वैनाशिकदर्शनम्
- ३—लौकायतिकदर्शनम्

} ⊱ विकारक्षरपरीक्षाशास्त्रम्— ⊱ विश्वप्रजापतिशास्त्रम्

―――

४—मीमांसाशास्त्रम्

आत्मपरीक्षणशास्त्रं—विज्ञानप्रधानम् ।

―――

५—गीताशास्त्रम्

अव्ययब्रह्मविद्यात्मकं बुद्धियोगशास्त्रम् ।
ज्ञान–विज्ञानमयं *सर्वशास्त्रम् ॥

——:०:——

महाभारत नाम के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ से पृथक् करके निकाला हुआ अर्जुन के प्रति उपदिष्ट भगवान् कृष्ण का उपदेशसंग्रहात्मक शब्द प्रपञ्च ही गीताशास्त्र है । इस ग्रन्थ में ७०० श्लोक हैं । इन श्लोकों के रचयिता भगवान् कृष्णद्वैपायन हैं । गीताप्रतिपादित ऐतिहासिक विषय को छोड़ कर शेष सम्पूर्ण वैज्ञानिक विषय चूंकि भगवान् कृष्ण की मौलिक सम्पत्ति है, अतएव इतिहास मर्यादा से सीमित बनता हुआ भी, एवं श्लोकदृष्टया व्यास की रचना बनता हुआ भी यह शास्त्र 'भगवद्गीतोपनिषत्" नाम से ही प्रसिद्ध हुआ ।

महाभारत समर के उपक्रम में क्लैव्यभावापन्न अर्जुन को स्वधर्मशिक्षण के लिए १६० उपदेशात्मिका जिन २४ उपनिषदों का भगवान्ने उपदेश दिया था, उन का व्यास ने अपनी प्राञ्जल भाषा द्वारा उपबृंहण किया है । भगवदुपदेशों का वही उपबृंहितरूप विद्वत् समाज में गीताशास्त्र नाम से प्रसिद्ध है । जिसप्रकार श्रौती उपनिषत् संकुचित अर्थ को वितत करने के कारण "गीता" कहलाई है, एवमेव महाभारतान्तर्गत व्यास विरचित श्लोकसंग्रहात्मिका इस उपलब्ध गीता को हम उस भगवद्गीता की गीता कहने के लिए तय्यार हैं । संकुचित अर्थका विस्तार ही उसका उपबृंहण है । कृष्णने जिस संक्षेप भाषा में थोड़े ही समय में जिस गीता रहस्य का उपदेश दे डाला था, उसको इतना शीघ्र समझ लेने का अधिकारी तो एकमात्र अर्जुन ही था । यदि व्यासदेव हमारे सामने अपनी पद्यरचना के द्वारा गीता का उपलब्ध विस्तृत रूप न रखकर उस संक्षिप्त भाषा की पुनरावृत्ति न करते तो गीता हमारे लिए एक जटिल समस्या बन जाती ।

---

*सर्वशास्त्रमयी गीता, सर्वदेवमयो हरिः ।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा, सर्ववेदमयो मनुः ॥ [म०भी०३३। अ०।२श्लोक]।

आज कितने एक मनचले सज्जन यह मीमांसा किया करते हैं कि ' जिस समय कुरुक्षेत्रके उस विशाल प्राङ्गण में महासमर की तैय्यारिएं हो रहीं हो, युद्धोपकरणों की तुमुलध्वनियों से जहां का वातावरण सर्वथा अशान्त बना हुआ हो, स्वयं श्रोता (अर्जुन) जहां युद्ध के भावी परिणाम से शोकग्रस्त बना हुआ हो, ऐसे विषम समय में गीता जैसे उस अगाध ज्ञान का उपदेश देने के लिए भगवान् को अवसर मिल गया, यह बात असम्भव सी प्रतीत होती है। मालूम होता है, व्यासदेव ने ही अध्यात्मविद्या के शिक्षण के लिए भगवान् के नाम से अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ में इस का समावेश कर दिया है।"

कहना न होगा कि ऐसी कुबुद्धियों का आर्य्यसन्तान की दृष्टि में कोई महत्व नहीं है। ऐसी समालोचनाएं आर्य्यसाहित्यानभिज्ञ एक अनार्य के हृदय में हीं स्थान पा सकतीं हैं। यदि कृष्ण हमारे जैसे सामान्य पुरुष होते, अथवा अर्जुन यदि हमारे जैसा ही मन्दबुद्धि होता तो काल्पनिकों की उक्त कल्पना को यथाकथंचित् अवसर मिल सकता था। परन्तु उन कुतर्कियों को यह नहीं भुला देना चाहिए कि कृष्ण जहां साक्षात् नारायण के अवतार होने से अलौकिक पुरुष थे, वहां अर्जुन नर का प्रत्यश था। जो कृष्ण अपनी योगमाया द्वारा ६ मास की अवस्था में शकटासुर का वध कर सकते हैं, जो कृष्ण अपनी जन्मसिद्ध योगसिद्धिद्वारा गिरिवर को उठा सकते हैं, जो कृष्ण ब्रह्मा का व्यामोहन कर सकते हैं, जो कृष्ण अपने विराट्रूपप्रदर्शन से दुर्बुद्धि दुर्योधन को त्रस्त कर सकते हैं, जो कृष्ण एक ही समय में १६ सहस्र पट्टरानियों के साथ रहते हुए भक्तवर नारद को आश्चर्य में डाल सकते हैं, जो कृष्ण योगमायाद्वारा सूर्य्यास्त कर अर्जुन की प्रतिज्ञा पूरी करवा सकते हैं, उन के लिए किसी भी प्रकार की मानवधर्म्म सम्बन्धिनी कुशङ्का उठाना अपने आप को प्रायश्चित का भागी बनाना है। अवश्य ही युद्धावसर पर भगवान् ने गीता का उपदेश दिया था। हां हम इस सम्बन्ध में आर्यसंस्कृतिरक्षक भगवान् व्यास के प्रति कृतज्ञता प्रकट किए बिना नहीं रह सकते, जिन्होंने कि अपनी योगजदृष्टि से उस उपदेश को अपने अन्तःकरण में प्रतिष्ठित कर अपनी लोकोत्तर वाणी से पद्य रूप में हम तक पहुंचाने का अनुग्रह किया।

गीताग्रन्थ चूंकि इतिहासग्रन्थ के मध्य की वस्तु है, अपनी इस ऐतिह्यमर्य्यादा को सुरक्षित रखने के लिए ही भगवान् व्यास ने विज्ञानगीता में अपनी ओर से कुछ एक ऐतिहासिक श्लोकों का समावेश करना आवश्यक समझा है। इसी दृष्टि से गीताग्रन्थ के इन ७०० श्लोकों को हम इतिहास-विज्ञान भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। ६४ श्लोकों का इतिहास से सम्बन्ध है, एवं शेष ६३६ श्लोकों का विज्ञान से सम्बन्ध है। आरम्भ के ६४ श्लोक गीताविषय की उत्थानिका है। "गीतोपदेश की आवश्यकता क्यों ? कब ? एवं किसके प्रति हुई ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए ही मौलिक विषय से कुछ भी सम्बन्ध न रखते हुए भी ६४ श्लोक व्यास ने अपनी ओर से गीता के आरम्भ में उद्धृत कर दिए हैं। इस चतुःषष्टिश्लोकात्मिका गीता को, दूसरे शब्दों में गीता के प्रत्यंश को हम "ऐतिहासिकगीता" नाम दे सकते हैं। आगे के ६३६ श्लोकों में भगवान् की ओर से ज्ञानगर्भित विज्ञान का निरूपण हुआ है। अतः इस मूलगीता को—"विज्ञानगीता" नाम से व्यवहृत किया जा सकता है।

"तत्र ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्" (पञ्चदशी) के अनुसार ज्ञान ही ब्रह्म है, यही अव्यय पुरुष है। बुद्धियोगलक्षण कर्म्म इस अव्ययपुरुष का कर्म्म है। पुरुष ज्योतिर्लक्षण है, योग वीर्य्य लक्षण है। विज्ञानगीताने इन दोनो का निरूपण करते हुए अपने "इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे" इस अध्यायोपसहारवचन को चरितार्थ कर रक्खा है। सम्पूर्ण विज्ञानगीता में आपको अथ से इति तक ब्रह्म—एवं योग की ही मीमांसा उपलब्ध होगी। चूंकि हमारा विज्ञानभाष्य विज्ञानदृष्टि से ही गीता के अर्थ करने के लिए प्रवृत्त हुआ है, अतः प्रचलित दार्शनिक विषय विभाग क्रम की उपेक्षा कर हमें विज्ञानदृष्टि से ही इसका विषयविभाग करना पड़ेगा। इस विषय विभाग में श्लोकों का क्रम वही रहेगा, केवल अध्यायक्रम में परिवर्त्तन होगा।

प्राचीन व्याख्याता ऐतिहासिक दृष्टि को प्रधानता देते हुए, एवं इतिहास मर्य्यादा से सम्बन्ध रखने वाले १८ अध्यायों का समादर करते हुए ६—६—६ इस क्रम से जहा गीता को (ज्ञान—भक्ति—कर्म्मयोग की अपेक्षा से) तीन काण्डों में विभक्त करते है, वहां विज्ञानदृष्टि से ६-

२-४-६ इस क्रम से गीता के ४ काण्ड समझने चाहिएं। प्रथमकाण्ड में राजर्षिविद्या, एवं वैराग्यलक्षण बुद्धियोग का, द्वितीयकाण्ड में सिद्धविद्या एवं ज्ञानलक्षणबुद्धियोग का, तृतीयकाण्ड में राजविद्या, एवं ऐश्वर्यलक्षण बुद्धियोग का, चतुर्थकाण्ड में आर्षविद्या, एवं धर्म्मलक्षण बुद्धियोग का निरूपण हुआ है।

गीता एक उपनिषत् नहीं है, अपितु गीता में अनेक (२४) उपनिषदों का निरूपण हुआ है। इन अनेक उपनिषदों के कारण ही "गीतासु (प्रोक्तासु) उपनिषत्सु" यह कहा गया है। चूंकि गीताशास्त्र में अनेक उपनिषदे हैं, अतएव इसके सम्बन्ध में निम्न लिखित वचन प्रसिद्ध हैं।

*गीताः सुगीताः कर्त्तव्याः किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
याः स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृताः ॥

विद्या एवं योग तत्व के स्पष्टीकरण के लिए भगवान् ने जो मौलिक रहस्य, किंवा विज्ञानसिद्धान्त बतलाए हैं, उपनिषत् शब्द के निर्वचन के अनुसार वही रहस्य उपनिषत् है। सम्पूर्ण विज्ञान गीता में ऐसी कुल २४ उपनिषदे हैं। गीता एक उपनिषत् नहीं है, अपितु गीता में सर्वथा स्वतन्त्र २४ उपनिषदों का निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से गीता को हम २४ उपनिषद्-

*यद्यपि महाभारत में बहुवचनान्त पाठ के स्थान में आज "गीता सुगीता कर्त्तव्या०" [म०भी०३३] इत्यादि रूप से एकवचनान्त पाठ ही मिलता है। परन्तु यह संशोधका का ही दोष समझना चाहिए। क्योंकि जब अध्यायोसंहार में "गीतासु-उपनिषत्सु" यह बहुवचनान्तपाठ मिलता है तो अवश्य ही उक्त वचन बहुवचनान्त रहा होगा। इसी आधार पर श्रीधरस्वामी ने अपनी व्याख्या में-'यथोक्तं गीतामाहात्म्ये'- "गीताः सुगीताः कर्त्तव्याः" इत्यादिरूप से बहुवचनान्त पाठ का ही उल्लेख किया है। अथवा एकवचनान्त पाठ में भी यह समाधान किया जासकता है कि उपनिषत्मर्य्यादा से गीता एक ही उपनिषत् है। भगवान् एक हैं। इस एक उपदेष्टा के सम्बन्ध से इसे एक ग्रन्थ मान लेने के कारण ही आगे जाकर एकवचनान्त पाठ होगया है।

ग्रन्थों की समष्टि कह सकते है। संहिता ग्रन्थ के शाखा भेद से ११३१ संख्या में विभक्त श्रौती उपनिषदों में जो कुछ कहा गया है, उन सब का सार इन चौवीस उपनिषदो में आजाता है, जैसा कि निम्न लिखित वृद्धव्यवहार से सिद्ध है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ [गी० माहात्म्य]।

६३६ श्लोकात्मक इस विज्ञानगीता में निम्नलिखित क्रम से ६ प्रकरण समझने चाहिएं।

१—१—उपक्रमप्रकरण——→	५ श्लोक	६३६ श्लोकात्मिका विज्ञान-गीता।
२—१—राजर्षिविद्याप्रकरण—→	२१६ श्लोक	
३—२—सिद्धविद्याप्रकरण—→	५८ श्लोक	
४—३—राजविद्याप्रकरण—→	१५१ श्लोक	
५—४—आर्षविद्याप्रकरण—→	१८६ श्लोक	
६—१—उपसंहारप्रकरण—→	५ श्लोक	

—————·०:—————

उक्त २४ उपनिषदें उक्त ६ ओं प्रकरणों में क्रमशः $\frac{१}{१}$ $\frac{२}{८}$ $\frac{३}{२}$ $\frac{४}{३}$ $\frac{५}{७}$ $\frac{६}{३}$ इस रूप से विभक्त हैं। उपनिषत् [मौलिकरहस्य] को स्पष्ट करने के लिए, मौलिक रहस्य को व्यावहारिक-रूप देने के लिए भगवान् ने जो स्वतन्त्र विज्ञान वतलाए हैं, उन्हीं का नाम उपदेश है। यह उपदेश कुल १६० [एकसौसाठ] है। यदि ६ प्रकरणों की दृष्टि से विचार किया जाता है तो यह उपदेश उन ६ ओं प्रकरणों में $\frac{१}{२}$ $\frac{२}{५०}$ $\frac{३}{१६}$ $\frac{४}{३२}$—$\frac{५}{४६}$—$\frac{६}{८}$ इस क्रम से [१६० उपदेश] विभक्त है।

यदि २४ उपनिषदों के क्रम से इन का विभाजन किया जाता है तो चातुर्विद्योपक्रमप्रकरण की १ उपनिषत् में २ उपदेश हैं। राजर्षिविद्या की ८ उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले ५० उपदेश क्रमशः $\frac{१}{७}$—$\frac{२}{७}$—$\frac{३}{७}$—$\frac{४}{३}$—$\frac{५}{३}$—$\frac{६}{५}$—$\frac{७}{६}$—$\frac{८}{६}$ | उपनिषदः ८ / उपदेशाः ५० इस रूप से विभक्त हैं। सिद्ध-

विद्या की २ उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले १९ उपदेश (१ २ / १०—९ | उपनिषदः २ / उपदेशाः १९) इस रूप से विभक्त हैं। राजविद्या की ३ उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले ३२ उपदेश (१ २ ३ / ११—१५—६ | उपनिषदः ३ / उपदेशाः ३२) इस क्रम से विभक्त हैं । आर्षविद्या की ७ उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले ४९ उपदेश (१ २ ३ ४ ५ ६ ७ / ९—५—७—४—२०—२—२ | उपनिषदः ७ / उपदेशाः ४९) इस क्रम से विभक्त हैं। एवं चातुर्विद्योपसंहारप्रकरण की ३ उपनिषदों से सम्बन्ध रखने वाले ८ उपदेश (१ २ ३ / ४—२—२ | उपनिषदः ३ / उपदेशाः ८) इस क्रम से विभक्त हैं।

इस प्रकार ब्रह्म (अव्यय)—योग (बुद्धियोग)—प्रकरणात्मक इस विज्ञान गीताशास्त्र में ६३६ श्लोक हैं। इन श्लोकों के ६ प्रकरण हैं, ६ प्रकरणों में २४ उपनिषदें हैं, २४ उपनिषदों में १६० उपदेश हैं। यही इस विज्ञानगीता का संक्षिप्त विषय विभाग है । हमारा विश्वास है कि यदि पाठक इस वैज्ञानिक विषयविभाग को सामने रखते हुए गीता के अक्षरों पर दृष्टि डालेंगे तो उन्हें गीतार्थ समझने में विशेष विप्रतिपत्ति का सामना न करना पड़ेगा।

प्रकरण		विद्यामें उपनिषत्	उपनिषदों में उपदेश	श्लोकक्रमविभाग	
१ (१)	ऐतिहासिकसन्दर्भप्रकरण	०	०	५९	६४
१ (२)	चातुर्विद्योपक्रमप्रकरण	१	२	५	
१ (३)	रागद्वेषविनाशक वैराग्यं बुद्धियो- १ गलक्षण राजर्षिविद्याप्रकरण	८	५ १ २ ३ ४५ ६७ ८ ७।७। ७। ३।३ ।१।९। ९	२१६	६१४
३ (४)	संमोहविनाशक ज्ञानबुद्धियोग- २ लक्षण सिद्धविद्याप्रकरण	२	१९ १ २ १०। ९	५८	
३ (५)	अस्मिताविनाशक ऐश्वर्यबुद्धि- ३ योगलक्षण राजविद्याप्रकरण	३	३२ १ २ ३ ११।१५।६	१५१	
४ (६)	अभिनिवेशविनाशकधर्म्मबुद्धि- ४ योगलक्षण आर्षविद्याप्रकरण	७	४९ १ २ ३ ४ ५ ६७ ९। ५। ७। ४। २०।२।२	१८९	
१ (७)	चातुर्विद्योपसंहारप्रकरण	३	८ १ २ ३ ४ २ २	१४	२२
१ (८)	ऐतिहासिक सन्दर्भप्रकरण	०	०	५	
८		२४	१६०	७०१	

विस्तृतविषयविभागप्रदर्शन

उक्त संक्षिप्त विषयविभाग को देखकर पाठकों के हृदय में यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन चारों विद्याओं, विद्यान्तर्गत उपनिषदों, एवं उपनिषदन्तर्गत उपदेशो के द्वारा भगवान् नें क्या विषय हमारे सामने रक्खा है ? इस प्रश्न का यथार्थ समाधान तो स्वयं गीताभाष्य ही करेगा। यहां पाठकों के परिचय के लिए संक्षेप से गीताप्रतिपाद्य विषयों का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति

(१) १–ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति–[१।१ से १।४६ पर्यन्त [१।४५ को छोड़कर]
(५६। ४५

२।४ से २।१० पर्यन्त। एवं २।३१। से २।३७ पर्यन्त — —
७ ं ७

———०———

२—चातुर्विद्योपक्रम

(२) १–चातुर्विद्योपक्रमरूपा "लोकवृत्तोपनिषत्" (१।४५।, १।४७।, २।१।, २।२, २।३।)।

———०———

१—(१) १–उपदेश–प्राकृतिकशोकप्रदर्शन—(१–उपदेश)। (१।४५, १।४७)।

२—(२) २–उपदेश–प्राकृतिकशोकनिराकरणोपक्रम–(१–उपदेश) (२।१, २ २, २।३,)।

———०———

३—राजर्षिविद्या

(३) १–वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्तिकाराजर्षिविद्याप्रथमा(८उपनिषत्)

(२।११ से ६ अध्याय समाप्ति पर्यन्त)।

(२) १—उपनिषत्—कर्म्मपरित्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा में अनुशोक व्यर्थ है । (२।११ से २।३० पर्यन्त) एवं २।२८।)।

(३) २–उपनिषत्–बुद्धियोगी को कामासक्ति छोड़ देनी चाहिए। (२।३९ से २।७२प.)
(४) ३–उपनिषत्–बुद्धियोगी को कर्म्म नहीं छोड़ना चाहिए। (३।१ से ३।३२ प.)।
(५) ३–उपनिषत्–बुद्धियोग के विरोधी दोष छोड़ देने चाहिए।(३।३३ से ३।४३ प.)।
(६) ५–उपनिषत्–बुद्धियोग श्रीकृष्ण का निजी मत है। (४।१ से ४।९ पर्य्यन्त)।
(७) ६–उपनिषत्–बुद्धियोग से विरोध न रखने वाले ज्ञान-कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए।
(४।१० से ४।४२ पर्य्यन्त)।
(८) ७–उपनिषत्–बुद्धियोग में ज्ञान-कर्म्म दोनों का समावेश है। (५।१ से ६।९ प.)।
(९) ८–उपनिषत्–बुद्धियोग साधक कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। (६।१० से ६।४७प.)।

—— १ ——

१–कर्म्मपरित्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा में अनुशोक व्यर्थ है।

(७–उपदेश)

१—(३) १–उपदेश–लौकिक कर्म्मों से बहिर्भूत, असङ्ग आत्मा (अव्यय, सर्वथा नित्य है। देहधारण एवं देह परित्याग का उस पर कोई असर नहीं होता। ऐसी दशा में शरीरविनाश के भय से युद्धादि लौकिक कर्म्म छोड़ना अच्छा नहीं। २।११, २।१२, २।१३)।

२—(४) २–उपदेश–शरीर के विद्यमान रहने पर प्रज्ञा–प्राण–भूतमात्राओं के संसर्ग से आक्रमण करने वाले सुख-दुखों की आवश्यक प्रवृत्ति को जब हम रोकने में असमर्थ हैं तो ऐसी दशा में इनसे शोकाकुलित होना मूर्खता है। (२।१४, २।१५, २।१६)।

३—(५) ३–उपदेश–आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता, शरीर कभी नित्य बन नहीं सकता, ऐसी दशा में अनित्य शरीरनाश के भय से शोक करना व्यर्थ है। (२।१७, २।१८, २।१९)।

४—(६) ४—उपदेश—अव्ययात्मा में क्षर—अक्षर नाम की प्रकृतियों से जन्म—मृत्यु का प्रवाह नित्य प्रवाहित रहता है। परन्तु अव्यय इस प्रवाह में रहता हुआ भी निर्विकार है। फलतः शोक करना व्यर्थ है। (२।२०।.२।२१। २।२२)

५—(७) ५—उपदेश—अव्ययात्मा गुण-अणु-महाभूतों से सर्वथा पृथक् है। ये पदार्थ नश्वर हैं। जब वह इनसे अतीत है तो उस का नाश असम्भव है। फलतः नाशप्रयुक्त शोक करना व्यर्थ है। (२।२३।, २।२४।, २।२५।)।

६—(८) ६—उपदेश—जन्म—मृत्युधर्म्मों से युक्त भोक्तात्मा में रहने वाले जन्म-मृत्यु—सुख-दुःखादि द्वन्द्वभावों को जब रोका नहीं जासकता तो इनके लिए शोक व्यर्थ है। (२।२६, २।२७।, २।२८।,)।

७—(९) ७—उपदेश—नित्य आत्मा, अनित्य शरीर-असङ्ग आत्मा. ससङ्ग शरीर दोनो का सम्बन्ध बन नहीं सकता, परन्तु बन रहा है. यह सचमुच एक आश्चर्य का विषय है। परन्तु इस सम्बन्ध मे इतना निश्चित है कि आत्मा का कभी वध नहीं किया जासकता। फलतः ज्ञानयोगी (सांख्यनिष्ठ) की दृष्टि में शरीरनाशभयजनित शोक का कोई महत्व नहीं रहता।

(२।२९, २।३०।, २।३८।,)।

सप्तोपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त।

२–बुद्धियोगी को कामासक्ति छोड़ देनी चाहिए। (७-उपदेश)

८–(१०) १–उपदेश–कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग की अपेक्षा फलत्यागलक्षण बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ समझना चाहिए। (२।३९', २।४०।, २।४१।,)

९–(११) २–उपदेश–फल-कामासक्तिप्रधान उत्तम वैदिक कर्म्म भी बन्धन के ही कारण हैं। अतः इनका अनुष्ठान फल कामासक्ति छोडकर ही करना चाहिए। (२।४२।, २।४३', २।४४।, २।४५', २।४६।)।

१०–(१२) ३–उपदेश–फलकामासक्ति छोड़कर किया हुआ आधिकारिक कर्म्म बुद्धियोग का उपोद्बलक बनता हुआ ग्राह्य है। २।४७, २।४८, २।४९ २।५०, ।२५१),

११–(१३) ४–उपदेश–बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपनी प्रज्ञा को स्थिर करना आवश्यक है। (२।५२।, २।५३।)।

१२–(१४) ५–उपदेश–वैराग्यबुद्धियोग सम्बन्धिनी स्थितप्रज्ञता के ६ स्वरूप हैं। (२।५४। २।५५', २।५६', २५७', २।५८।, २।५९। २।६० २।६१।)।

१३–(१५) ६–उपदेश–राग, काम, क्रोध, संमोह स्मृतिभ्रंश यह सब बुद्धियोग के विरोधी धर्म्म हैं। (२।६२।, २।६३।)।

१४–(१६) ७–उपदेश–रागद्वेषजनित वासना जब बुद्धियोग के प्रभाव से नष्ट हो जाती है तो उस समय वह योगी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाता है। (२।६४।, २।६५', २।६६।, २।६७।, २।६८।, २।६९।, २।७०।, २७१।, २।७२।)—(द्वितीयाध्याय समाप्त)।

सप्तोपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त

———:०:———

३–बुद्धियोगी को कर्म्म नहीं छोड़ना चाहिए। (७-उपदेश)

१५–(१७) १–उपदेश -कर्म्मसन्यासलक्षण संन्यास (ज्ञानयोग), एवं कर्म्मारम्भलक्षण योग (कर्म्म-योग) दोनों में बुद्धियोग नाम का योग ही श्रेष्ठ है। (३।१, ३।२, ३।३)।

१६–(१८) २–उपदेश–६ अन्यर्थ हेतुओं के कारण कर्म्म का परित्याग नहीं किया जासकता। (३।४, ३।५, ३।६, ३।७, ३।८)।

१७–(१९) ३–उपदेश–यज्ञकर्म्म कभी वन्धन के कारण नहीं वनते। ३।९, ३।१०, ३।११, ३।१२, ३।१३, ३।१४, ३।१५, ३।१६)

१८–(२०) ४–उपदेश–उपेक्षाबुद्धि से किए गए कर्म्म कभी वन्धन के कारण नहीं वनते। (३।१७, ३।१८, ३।१९, ३।२०)।

१९–(२१) ५–उपदेश–लोकसंग्रहदृष्टि से किए गए कर्म्म कभी वन्धन के कारण नहीं वनते। (३।२०, ३।२१, ३।२२, ३।२३, ३।२४, ३।२५, ३।२६)।

२०–(२२) ६–उपदेश–प्राकृतिक कर्म्म कभी वन्धन के कारण नहीं वनते। (३।२७, ३।२८, ३।२९, ३।३०)।

२१–(२३) ७–उपदेश–हमारी [भगवान् की] दृष्टि में कर्म्म का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। [३।३१, ३।३२]

सप्तोपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त।

४–बुद्धियोग के विरोधी दोष छोड देने चाहिए। (३–उपदेश)

२२–(२४) १–उपदेश–राग-द्वेष बुद्धियोग के महा प्रतिवन्धक हैं। इन का परित्याग करना चाहिए। [३।३३, ३।३४, ३।३५]।

२३–(२५) २–उपदेश–राग-द्वेष के आक्रमण से अव्यय की ज्ञानज्योति मलिन वन जाती है। फलतः ऐसा व्यक्ति वुरे कर्म्मों में प्रवृत्त होजाता है। [३।३६, ३।३७, ३।३८, ३।३९, ३।४०]।

२४-(२६) ३-उपदेश-इन्द्रिय, मन, बुद्धि भावों के संयम से राग-द्वेषादि बुद्धियोग के प्रतिबन्धक कर्म्म नष्ट हो जाते है। (३।४१, ३।४२, ३।४३)।

तृतीय अध्याय समाप्त।

३ युपदेशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त।

५-बुद्धियोग भगवान् कृष्ण का अपना मत है। (३-उपदेश)।

२५-(२७) १-उपदेश-इस बुद्धियोग के प्रथम द्रष्टा भगवान् कृष्ण हैं। [४।१, ४।२, ४।३]

२६-[२८] २-उपदेश-अनेक विग्रह धारण करने वाले कृष्ण चूंकि अच्युत भगवान् थे, अतएव विश्वास करना चाहिए कि उन्हें पूर्व जन्मो की सारी परिस्थिति विदित थी। [४।४, ४।५]।

२७-[२९] ३-उपदेश-भगवान् कृष्ण आधिकारिक पुरुष थे। अतएव इन्हें सामन्य मनुष्य न समझ कर अव्यय का अवतार समझना चाहिए। [४।६, ४।७, ४।८, ४।९]।

३ युपदेशयुक्ता ५ उपनिषत् समाप्त।

६-बुद्धियोग से विरोध न रखने वाले ज्ञान-कर्म्म में प्रवृत्त रहना चाहिए। (५ उपदेश)

२८-(३०) १-उपदेश-अव्ययात्मा का अनुगमन करने वाले ज्ञान-कर्म्म-भक्ति तीनो हीं योग उपादेय हैं। (४।१०, ४।११, ४।१२)।

२९-(३१) २-उपदेश-चातुर्वर्ण्य कर्म्मों का चूंकि अव्ययात्मा से सम्बन्ध है, अतः इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए। (४।१३, ४।१४, ४।१५)।

३०-(३२) ३-उपदेश-निवृत्तकर्म्म चूंकि अव्ययात्मा के अनुगामी हैं, अतः इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए। ४।१६, ४।१७, ४।१८, ४।१९, ४।२०, ४।२१, ४।२२]।

३१-(३३) ४-उपदेश-१३ प्रकार के यज्ञकर्म्म अध्ययात्मानुगामी बनते हुए अवन्धन हैं, अतः इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए। (४।२३।, ४।२४।, ४।२५।, ४।२६।, ४।२७।, ४।२८।, ४।२९।, ४।३०।, ४।३१।, ४।३२।)।

३२-(३४) ५-उपदेश-सम्पूर्ण यज्ञकर्म्मों में ज्ञानयज्ञकर्म्म को ही सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। (४।३३।, ४।३४।, ४।३५।, ४।३६, ४।३७।, ४।३८।, ४।३९।, ४।४०।, ४।४१।, ४।४२)।

(चतुर्थ अध्याय समाप्त)

पञ्चोपदेशयुक्ता ६ उपनिषत् समाप्त।

७-बुद्धियोग में ज्ञान-कर्म्म दोनों का समावेश है। (६-उपदेश)।

३३-(३५) १-उपदेश-कर्म्मयोग, एवं ज्ञानयोग दोनों में कौन श्रेष्ठ है? यह प्रश्न विचारणीय है। (५।१।)।

३४-(३६) २-उपदेश-कर्म्म-ज्ञान दोनों का बुद्धियोग में समावेश है। अतः तीनों में इसे ही उत्तम समझना चाहिए। (५।२।, ५।३।, ५।४।, ५।५।, ५।६।, ५।७।, ५।८।, ५।९।, ५।१०।, ५।११।, ५।१२।, ५।१३।)।

३५-(३७) ३-उपदेश-राग-द्वेषवियुक्त विशुद्ध अध्ययात्मा को सदा एक रस समझना चाहिए। (५।१४।, ५।१५।, ५।१६।)।

३६-(३८) ४-उपदेश-सांसारिक सुख के सामने आत्मसुख को श्रेष्ठ मानकर उसी का अनुगामी बनना चाहिए। (५।१७।, ५।१८।, ५।१९।, ५।२०।, ५।२१।, ५।२२।)

३७-(३९) ५-उपदेश-राग-द्वेषविरहित आत्मयोगी ही शाश्वत आत्मानन्द के अधिकारी बनते हैं। (५।२३।, ५।२४।, ५।२५, ५।२६।)।

३८-(४०) ६-उपदेश-आत्मसम्पत् प्राप्ति के लिए बुद्धियोगानुगामी योगाभ्यास करना आवश्यक है। (५।२७।,५।२८।, ५।२९।)।

(पञ्चम अध्याय समाप्त)

३९-(४१) ७-उपदेश-बुद्धियोगी कर्म्मपरिग्रह से कर्म्मयोगी, एवं कामना के परित्याग से ज्ञानयोगी वन जाता है। (६।१।, ६।२।, ६।३।, ६।४।)।

४०-(४२) ८-उपदेश-जो अपने आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह शाश्वत आनन्द का अधिकारी वन जाता है, एव आत्मज्ञान से वञ्चित मनुष्य दुःखार्णव में निमग्न रहता है। (६।५।, ६।६।)।

४१-(४३) ९-उपदेश-कर्म्मयोग की अपेक्षा बुद्धियोग लक्षण ज्ञानयोग को ही उत्तम समझना चाहिए। (६।७।, ६।८।, ६।९।)।

नवोपदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त

८-बुद्धियोगसाधक कर्म्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। (९ उपदेश)

४२-(४४) १-उपदेश-योगाभ्यास ही बुद्धियोगप्राप्ति का अनन्य उपाय है। (६।१०।,६।११।,६।१२।,६।१३।,६।१४।,६।१५)।

४३-(४५) २-उपदेश-योगाभ्यास से विरोध रखने वाले, एवं अनुकूलता उत्पन्न करने वाले धर्म्मों को लक्ष्य में रख कर ही योगाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए। (६।१६।,६।१७)।

४४-(४६) ३-उपदेश-जिस में परिगणित विशेष गुणों का उदय देखो, समझलो उसने बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करली। (६।१८।,६।१९।)।

४५-(४७) ४-उपदेश-जिस योग में आत्मा सदा प्रसन्न रहै, उसी योग (कर्म्म) को बुद्धियोग समझना चाहिए। (६।२०।,६।२१।,६।२२।,६।२३।)।

४६-(४८) ५-उपदेश-बुद्धियोग प्राप्ति के लिए प्रतिज्ञात योग का अभ्यास विशेष नियमों से करना चाहिए । (६।२४।,६।२५।,६।२६।,६।२७।,६।२८।) ।

४७-(४६) ६-उपदेश-बुद्धियोग के साधनकाल में समता का अभ्यास करना परमावश्यक है । (६।२६।,६।३०।,६।३१।,६।३२।) ।

४८-(५०) ७-उपदेश-बुद्धियोग की स्थिति के लिए मनःसंयम प्रत्येक दशा में अपेक्षित है । (६।३३।,६।३४।,६।३५।,६।३६।) ।

४६-(५१) ८-उपदेश-जिस मनुष्य में परिगणित लक्षण देखो- समझ लो उसने पूर्व जन्म में बुद्धियोग का अनुष्ठान किया था । (६।३७।,६।३८।,६।३९।, ६।४०।,६।४१।,६।४२।,६।४३।,६।४४।,६।४५।) ।

५०-(५२) ६-उपदेश-कर्म्मयोगी, तपोयोगी, ज्ञानयोगी इन तीनों की अपेक्षा से तो बुद्धियोगी को, एवं इस की अपेक्षा श्रद्धायुक्त बुद्धियोगी को श्रेष्ठ समझना चाहिए । (६।४६।,६।४७।) ।

(षष्ठ अध्याय समाप्त)

नवोपदेशयुक्ता ८ उपनिषत् समाप्त

८ उपनिषद्युक्ता, ५० उपदेशगर्भिता, २१६ श्लोकात्मिका

राजर्षिविद्या समाप्त
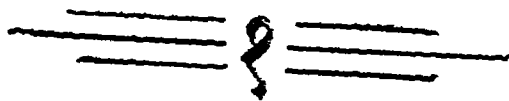
४—सिद्धविद्या

(४)-२-ज्ञानबुद्धियोगप्रतिपादिका सिद्धविद्या द्वितीया (२-उपनिषत्)

(७।१ से आ०, ८ अध्याय पर समाप्त)।

१-(१०) १-उपनिषत्-सम्पूर्ण विश्व प्रकृति पुरुष का ही लीलाक्षेत्र है। (६।१ से ७।२८ प.)

२-(११) २-उपनिषत्-ब्रह्म-कर्म्म, अहो-रात्र, सर्ग-प्रलय, एवं भक्तियोग ही प्रकृति का प्रकृतित्त्व है। (७।२९ से ८ अध्याय समाप्ति पर्यन्त)।

१-सम्पूर्ण विश्व प्रकृति-पुरुष का ही लीलाक्षेत्र है। (१०-उपदेश)।

१-(५३) १-उपदेश-अव्ययात्मा के साक्षात्कार के लिए ज्ञानयुक्त विज्ञान का आश्रय लेना अावश्यक है। (७।१, ७।२, ७।३)।

२-(५४) २-उपदेश-अव्यय पुरुष के सम्यक परिज्ञान के लिए उस के पराप्रकृतिरूप-अक्षर का, एवं अपराप्रकृतिरूप क्षर का ज्ञान आवश्यक है। (७।४, ७।५)।

३-(५५) ३-उपदेश-प्रकृति को सम्पूर्ण विश्व का उपादान, एवं पुरुष को सम्पूर्ण विश्व का आलम्बन समझना चाहिए। (७।६, ७।७)।

४-(५६) ४-उपदेश-एक ही पुरुष को अक्षर प्रकृति के सहयोग से १५ स्थानों में विभक्त समझना चाहिए। (७।८, ७।९, ७।१०, ७।११)।

५-(५७) ५-उपदेश-प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले जितनें भी पदार्थ हैं, वे सब प्रकृतिद्वारा पुरुष को लक्ष्य बना रहे हैं। (७।१२)।

६-(५८) ६-उपदेश-दैवीमाया, एवं आसुरीमाया की प्रतिद्वन्द्विता में दैवीमाया परास्त हो रही है। आसुरीमाया को ही आत्मसाक्षात्कार में महा प्रतिबन्धक समझना चाहिए। (७।१३, ७।१४, ७।१५)।

७-(५९) ७-उपदेश-ज्ञाननिष्ठ भक्त को सर्वोत्तम समझना चाहिए । (७।१६।, ७।१७।, ७।१८।, ७।१९) ।

८-(६०) ८-उपदेश-आध्यात्मिक देवता की आराधना करने वालों को देवपद मिलता है, एवं आत्मा की उपासना करने वाले को आत्मपद मिलता है । (७।२०।, ७।२१।, ७।२२) ।

९-(६१) ९-उपदेश-योगमाया की कृपासे आवृत आत्मस्वरूप को देखने में असमर्थ व्यक्ति ही देवता की उपासना करते हैं । (७।२३।, ७।२४।) ।

१०-(६२) १०-उपदेश-राग-द्वेष के हट जाने पर मनुष्य आत्मसाक्षात्कार करता हुआ त्रैकालज्ञ बन जाता है । (७।२५।,७ २६।, ७।२७।, ७।२८।)

दशोपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त

२-ब्रह्म-कर्म्म, अहो-रात्र, सर्ग-प्रलय, एवं भक्तियोग ही प्रकृति का प्रकृतित्त्व है । (६-उपदेश) ।

११-(६३) १-उपदेश-आत्मा के १२ आयतनो में से किसी एक का आश्रय ले लेने से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है । (७।२९।,७।३०।) ।

(सातवां अध्याय समाप्त)

१२-(६४) २-उपदेश-प्रकृति के ब्रह्म-कर्म्म, आधिदैविक-आधिभौतिक, आधियाज्ञिक-आध्यात्मिक, सृष्टि-प्रलय, भुक्ति-मुक्ति, गति-आगति इन १२ विवर्त्तों को जान लेने से प्रकृति पर अधिकार हो जाता है । (८।१।,८।२।,८।३।,८।४।) ।

१३-(६५) ३-उपदेश-स्व-स्व कर्म्मानुसार कर्म्मात्मा उत्तम-मध्यम-अधम लोकों में जाया करता है । (८।५।,८।६।,८।७।) ।

१४-(६६) ४-उपदेश-अध्यात्मस्थ ईश्वराव्यय के साक्षात्कार से आधिदैविक ईश्वराव्यय की प्राप्ति होती है । (८।८।,८।९।,८।१०।) ।

१५-(६७) ५-उपदेश-"ओम्" इस एकाक्षर की उपासना से प्रेतात्मा आधिदैविक अक्षर-भाव को प्राप्त होता है। (८।११,८।१२,८।१३)।

१६-(६८) ६-उपदेश-विशुद्ध अव्ययात्मा का उपासक जन्म-मृत्यु से सदा के लिए विमुक्त होता हुआ परामुक्ति का भागी बन जाता है। ८।१४,८।१५)।

१७-(६९) ७-उपदेश-क्षर की उपासना करने वाला लौकिक पुरुष जन्म-मृत्यु-प्रवाह में प्रवाहित रहता है। (८।१६,८।१७,८।१८,८।१९)।

१८-(७०) ८-उपदेश-व्यक्त क्षरप्रपञ्च की उपेक्षा कर अव्यक्त अक्षर, किंवा व्यक्ता-व्यक्तातीत अव्यय की आराधना करने वाला समबलयभाव को प्राप्त हो जाता है। ८।२०,८।२१,८।२२)।

१९-(७१) ९-उपदेश-विद्यासापेक्ष प्रवृत्तिकर्म्म करनें वाले देवयान मार्ग से स्वर्गलोक में जाते हैं, एवं विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्म करनें वाले पितृयाण द्वारा पितृलोक मे जाते हैं। (८।२३,८।२४,८।२५,८।२६,८।२७)।

(आठवां अध्याय समाप्त)

नवोपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त

२-उपनिषद्युक्ता, १९-उपदेशगर्भिता, ५८ श्लोकात्मिका

सिद्धविद्या समाप्त

५—राजविद्या

(५)-३-ऐश्वर्य्यबुद्धियोगप्रतिपादिका राजविद्या तृतीया (३-उपनिषत्)

(९।१ से १२ अध्याय पर्य्यन्त)

(१२) १—उपनिषत्—ईश्वर के स्वरूपज्ञान से ऐश्वर्यसिद्धि मिलती है। [९।१ से ९।३४]।

(१३) २—उपनिषत्—ईश्वर सम्बन्धी योग एवं विभूतिविज्ञान ही ईश्वरभावप्राप्ति में मुख्य कारण हैं [१०।१ से ११ अध्याय पर्य्यन्त]।

(१४) ३—उपनिषत्—ईश्वर की उपासना ही ईश्वरभावप्राप्ति का अन्यतम द्वार है। [१२—अध्याय]।

—:०:—

१—ईश्वर के स्वरूपज्ञान से ऐश्वर्यसिद्धि मिलती है। (११-उपदेश)

१—[७२] १—उपदेश—ज्ञान—विज्ञान सहिता राजविद्या का सम्यक् परिज्ञान ही ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार है। [९।१, ९।२, ९।३]।

२—[७३] २—उपदेश—अव्यक्तमूर्त्ति ईश्वर ही अपने प्रकृतिभाव को आगे कर सम्पूर्ण विश्व का निर्म्माण करता है। [९।४, ९।५, ९।६, ९।७, ९।८, ९।९, ९।१०]

३—[७४] ३—उपदेश—आसुरीमाया के समावेश से मूर्ख लोग ईश्वर की ईश्वरता जानने में असमर्थ हैं। [९।११, ९।१२]।

४—[७५] ४—उपदेश—दैवीमाया के अनुग्रह से सात्त्विक मनुष्य ईश्वरता पर पहुंचते हुए समष्टिरूप से, एवं व्यष्टिरूप से ईश्वर की उपासना किया करते हैं। [९।१३, ९।१४, ९।१५]।

५-[७६] ५-उपदेश-उस ईश्वर की यज्ञ, पुरुष, वेद, प्रकृति आदि किसी भी रूप से आराधना की जा सकती है। कारण ये सब उसी के रूप हैं। [९।१६, ९।१७]।

६-[७७] ६-उपदेश-एक ही ईश्वराव्यय की उसके गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत्, प्रभव, प्रलय, स्थान, निधान, बीज इन १२ विवर्त्तों में से किसी एक को आधार मानकर उपासना की जासकती है [९।१८]।

७-[७८] ७-उपदेश-ससार में जितनें भी द्वन्द्वभाव हैं, उन सब को ईश्वर की विभूति समझते हुए इनसे भी आत्मकल्याण किया जासकता है। [९।१९]।

८-(७९) ८-उपदेश-सांसारिकफलों की कामना से यज्ञकर्म्म करने वाले कर्म्मठ ईश्वर को उद्देश्य मान कर यज्ञकर्म्म करते हुए मुक्त हो सकते हैं। (९।२०,-९।२१)।

९-(८०) ९-उपदेश-चतुर्विध [लय-राज-मन्त्र-हठयोगविध] भक्तियोग के अनुयायी ईश्वराव्ययप्राप्ति में असमर्थ ही रहते हैं। [९।२२, ९।२३, ९।२४, ९।२५

१०-(८१) १०- उपदेश-अपने सम्पूर्ण कर्म्मों को ईश्वरार्पणबुद्धि से करता हुआ कर्म्मठ कर्म्मबन्धन से छूट जाता है। [९।२६, ९२७, ९२८]।

११-(८२) ११-उपदेश--निर्गुण ब्रह्म के उपासक ज्ञानयोगियों की आत्मभक्ति सर्वश्रेष्ठ है।
[९।२९. ९।३०, ९।३१, ९।३२, ९।३३, ९।३४]

(नवम अध्याय समाप्त)

एकादशोपदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त

२–ईश्वर सम्बन्धी योग एवं विभूति विज्ञान ही ईश्वरभावप्राप्ति में मुख्य कारण है। (१५-उपदेश)

१२–(८३) १–उपदेश–ईश्वरविभूति के परिज्ञान से आत्मा सब पापों से विमुक्त होता हुआ भूमा-भाव को प्राप्त होजाता है। [१०।१।, १०।२।, १०।३।] ।

१३–(८४) २–उपदेश–बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, भाव, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यज्ञ, यश, अयश इन सम्पूर्ण आध्यात्मिक सदसद्भावों की प्रतिष्ठा आधिदैविक ईश्वर ही है। [१०।४।, १०-५।] ।

१४–(८५) ३–उपदेश–ऋषि, मनु, प्राण आदि आधिदैविक मानसभाव ईश्वराव्यय के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। (१०।६।) ।

१५–(८६) ४–उपदेश–ईश्वर के योग, एवं विभूतिभावों के सम्यक् परिज्ञान से ऐश्वर्यलक्षणा बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। [१०।७।] ।

१६–(८७) ५–उपदेश–ईश्वर के साक्षात्कार के लिए ऐश्वर्य्यबुद्धियोग आवश्यक है। इसकी प्राप्ति के लिए इसके साधक उपायों का अनुगमन करना आवश्यक है। [१०।८।. १०।९।, १०।१०।. १०।११] ।

१७–(८८) ६–उपदेश–प्रत्येक व्यक्ति को अपने आत्मकल्याण के लिए ईश्वराव्यय की दिव्य विभूतियो को जानने का प्रयास करना चाहिए । [१०।१२।,– [१०।१३।, १०।१४।, १०।१५।, १०।१६।, १०।१७।, १०।१८]

१८–(८९) ७–उपदेश–ईश्वर का विभूतिभाव १आत्मा, २आदि-मध्य-अन्त, ३विष्णु, ४रवि, ५मरीचि, ६शशी, ७सामवेद, ८वासव, ९मन, १०चेतना, ११शङ्कर, १२कुबेर, १३पावक, १४मेरु, १५बृहस्पति, १६स्कन्द, १७सागर, १८भृगु, १९एकाक्षर, २०जपयज्ञ, २१हिमालय, २२अश्वत्थ,

२३नारद, २४चित्ररथ, २५कपिल, २६उच्चैःश्रवा, २७ऐरावत, २८राजा, २९वज्र, ३०कामधेनु, ३१कन्दर्प, ३२वासुकि, ३३अनन्त, ३४वरुण, ३५अर्य्यमा, ३६यम, ३७प्रल्हाद, ३८काल, ३९मृगेन्द्र, ४०गरुड़, ४१पवन, ४२राम, ४३मकर, ४४गंगा, ४५आद्यन्त, ४६अध्यात्मविद्या, ४७वाद, ४८अकार, ४९द्वन्द्व, ५०अक्षय, ५१धाता, ५२मृत्यु, ५३उद्भव, ५४कीर्त्ति श्रीवाक्-स्मृति-मेधा-धृति-क्षमा, ५५बृहत्साम, ५६गायत्री, ५७मार्गशीर्ष, ५८वसन्त, ५९द्यूत, ६ तेज, ६१जय, ६२व्यवसाय, ६४सत्त्व, ६४वासुदेव, ६५अर्जुन, ६६व्यास, ६७उशना, ६८दण्ड, ६९नीति, ७०मौन, ७१ज्ञान, ७२बीज संसार में इन ७२ भावो में प्रधानरूप से विभक्त है । जो पुरुष इनका रहस्य जान लेता है, वह ईश्वरसमकक्ष बनजाता है । [१०।१२।, से १०।४२ तक] ।

(दशम अध्याय समाप्त)

१९--(९०) ८-उपदेश-प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर की उक्त विभूतियो के सम्यक परिज्ञान के लिए उसके विराट् स्वरूप को पहिचानने का प्रयास करना चाहिए। [११।१, ११।२, ११।३ , ११।४] ।

२०--(९१) ९-उपदेश-विराट्स्वरूप के परिज्ञान के लिए योगप्रक्रिया द्वारा दिव्यदृष्टि प्राप्त करना आवश्यक है । [११।५, ११ ६, ११ ७, ११।८] ।

२१-(९२) १०-उपदेश-योगविद्या के प्रभाव से उसी प्रकार मनुष्य स्वयं भी अपने आप को विराट्स्वरूप में परिणत कर सकता है, जैसे कि योगेश्वर कृष्ण ने अपना विराट् स्वरूप बना लिया था । (११।९ से ११।१४ पर्यन्त)।

२२-(९३) ११-उपदेश-विराट्स्वरूप से चमत्कृत अर्जुन की तरह प्रत्येक व्यक्ति को उस रूप की स्तुति करनी पड़ती है ।(११।१५ से ११।३१५०)

२३-(९४) १२-उपदेश-विराट्स्वरूप के दर्शन से स्वयं विराट्पुरुष की ओर से कर्त्तव्य कर्म्म के लिए बल प्राप्त होता है। (११।३२, ११।३३, ११।३४)।

२४-(९५) १३-उपदेश-जो व्यक्ति विराट्स्वरूप के दर्शन से पहिले अज्ञानवश ईश्वरतत्व की उपेक्षा किया करता है, विराट्दर्शन के अनन्तर अर्जुन की भांति उस के यशोगान (स्तुति) में प्रवृत्त हो जाता है। (११।३५ से ११।४६)।

२५-(९६) १४-उपदेश-भक्त की इन श्रद्धाञ्जलियो से आकर्षित विराट् पुरुष की ओर से उसे पूर्ण आश्वासन मिलता है। (११।४७, ११।४८, ११।४९)।

२६-(९७) १५-उपदेश-विश्वरूपदर्शन से भयत्रस्त बने हुए भक्त के भय को दूर करने के लिए विराट् पुरुष को अपने उस महामायावच्छिन्नरूप का परित्याग कर योगमायामय विग्रह से भक्त के सामने उपस्थित होना पड़ता है। (११।५० से ११।५५)।

एकादश अध्याय समाप्त।

पञ्चोपेदशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त।

३-ईश्वर की उपासना ही ईश्वरभावप्राप्ति का मुख्य द्वार है। (६-उपदेश)।

२७-(९८) १-उपदेश-उपासनातत्व केपरिज्ञान के लिए सगुण, एवं निर्गुण दोनों प्रकार की उपासना जानने का प्रयास करना चाहिए। (१२।१)।

२८-(९९) २-उपदेश-लोकसंग्रही कर्म्मठ मनुष्य के लिए सगुण-निर्गुण दोनों में सगुणोपासना ही श्रेयस्कर है। (१२।२)।

२९-(१००) ३-उपदेश-चूंकि निर्गुणोपासना का अव्यक्तभाव से सम्बन्ध है, अतः सामान्य मनुष्य प्रायः इसके अनधिकारी ही हैं। (१२।३,१२।४,१२।५)।

३०-(१०१) ४-उपदेश-ईश्वराव्यय के प्रति अपने सम्पूर्ण कर्म्मों को समर्पित कर देना सर्व-श्रेष्ठ उपासना है। (१२।६।,१२।७।,१२।८।,)।

३१ (१०२) ५-उपदेश सम्पूर्ण उपासनायोगों में, सब की अपेक्षा कर्म्मफलत्यागलक्षण कर्त्त-व्यकर्म्मानुष्ठानरूपा, बुद्धियोगलक्षणा निष्कामोपासना ही श्रेष्ठ है। (१२।९ से १२।१२ पर्यन्त)।

३२-(१०३) ६-उपदेश-उपासना की सिद्धि के लिए विशेष नियमो का अनुगमन आवश्यक है। (१२।१३ से १२।२० पर्यन्त)।

(द्वादश अध्याय समाप्त)

षष्ठोपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त।

३ उपनिषद्युक्ता, ३२ उपदेशगर्भिता, १५१ श्लोकात्मिका

राजविद्या समाप्त
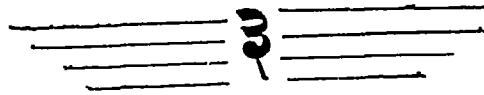
६—आर्षविद्या

(६)–४–धर्म्मबुद्धियोगप्रवर्त्तिका आर्षविद्या चतुर्थी। (७-उपनिषत्)। (१३।१ से १८।५६ पर्यन्त)।

(१५) १–उपनिषत्–प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेय ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं। (१३।१ से–१३।३५ पर्यन्त)।

(१६) २–उपनिषत्–सत्त्व-रज-स्तमोलक्षण गुणत्रयी ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१४।१ से १४।२७ पर्य्यन्त)।

(१७) ३–उपनिषत्–अश्वत्थ वृक्ष ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१५।१ से १५।२०)।

(१८) ४–उपनिषत्–देवता, एवं असुर से सम्बन्ध रखने वाला भूतसर्ग ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१६।१ से १६।२३ पर्य्यन्त)।

(१९) ५–उपनिषत्–गुण, एवं कर्म्म का प्रचय ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१७।१ से १७।४० पर्य्यन्त)।

(२०) ६–उपनिषत्–अत्याज्य कर्म्म ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१८।४१ से १८।४८ पर्य्यन्त)।

(२१) ७–उपनिषत्–अनावरक कर्म ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१८।४९ से १८।५६ पर्य्यन्त)।

—०—

१–प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेय ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं। (९–उपदेश)।

१–(१०४) १–उपदेश–धर्म्म के वास्तविक स्वरूपज्ञान के लिए अर्जुन की तरह प्रत्येक व्यक्ति

को प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेय इन ६ भावों का मौलिक-रहस्य जानने का प्रयास करना चाहिए। १३।१)।

२-(१०५) २-उपदेश-धर्मस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का, भूतग्राम-विज्ञानात्मा का, शरीर-शारीरक आत्मा का विवेकज्ञान आवश्यक है। (१३।२।,१३।३।)।

३-(१०६) ३-उपदेश-धर्मस्वरूपज्ञान के लिए अध्यात्मसंस्था से सम्बन्ध रखने वाली ८ पुरियों का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१३। ४ से १३।७ पर्यन्त)।

४-(१०७) ४-उपदेश-धर्म्म के स्वरूपज्ञान के लिए २० भागों में विभक्त ज्ञानविवर्त्त का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१३।८ से १३।१२ पर्य्यन्त)।

५-(१०८) ५-उपदेश-धर्म्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए परब्रह्मनाम से प्रसिद्ध ज्ञेय अव्ययपुरुष का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१३।१३ से १३।१९ पर्यन्त)।

६-(१०९) ६-उपदेश-धर्म्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए प्रकृति-पुरुष का सम्यक् ज्ञान परम आवश्यक है। (१३।२० से १३।२४ पर्यन्त)।

७-(११०) ७-उपदेश-धर्म्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए मृत्युपाश से विमुक्त करने वाले पुरुषोपासनाभेदों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। (१३।२५।,१३।२६।)।

८-(१११) ८-उपदेश-धर्म्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए सत्वनाम से प्रसिद्ध प्राणी की क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोगरूप उपाधि का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। (१३।२७)।

९-(११२) ९-उपदेश-धर्म्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए परमेश्वर, ईश्वर, परमात्मा, विज्ञानात्मा इन चारों आत्मविवर्त्तों का परिज्ञान आवश्यक है। (१३।२८ से १३।३५ पर्य्यन्त)।

(त्रयोदश अध्याय समाप्त)

नवोपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त

२–सत्त्व-रज-स्तमोलक्षणा गुणत्रयी ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (५-उपदेश)।

१०–(११३) १–उपदेश–क्षेत्रज्ञपुरुष में विशेषता उत्पन्न करने वाला, गुणत्रयमूर्त्ति महद्ब्रह्म ही सम्पूर्णभूतों की योनि है। [१४।१ से १४।४ पर्य्यन्त]।

११–(११४) २–उपदेश–महद्ब्रह्म के स्वरूपज्ञान के लिए उस के सत्त्व-रज-तम तीनों गुणों का मौलिक स्वरूप जानना आवश्यक है। (१४।५से–१४।२०प.)।

१२–(११५) ३–उपदेश–गुणत्रय के सम्यक् परिज्ञान के लिए गुणातीत आत्मा का स्वरूप जानना परम आवश्यक है। (१४।२१ से १४।२५ पर्यन्त)।

१३–(११६) ४–उपदेश–अव्ययात्मनिष्ठारूप अनन्य भक्ति से ही गुणातीत आत्मा जाना जासकता है। (१४।२६)।

१४–(११७) ५–उपदेश–जीवशरीर में प्रतिष्ठित क्षर–अक्षर–अव्यय–परात्पर–निर्विशेष–इन पांचो की प्रतिष्ठा ईश्वर के उक्त पांचों पर्व हैं। (१४।२७)।

(चतुर्दश अध्याय समाप्त)

पञ्चोपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त।

३–अश्वत्थवृक्ष ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (७–उपदेश)।

१५–(११८) १–उपदेश–ब्रह्म-कर्म्म के स्वरूपज्ञान के लिए ब्रह्माश्वत्थ का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१५।१ से १५।४ पर्यन्त)।

१६–(११९) २–उपदेश–ब्रह्माश्वत्थ का साक्षात्कार करने के लिए कतिपय विशेष उपायों का आश्रय लेना आवश्यक है। (१५।५, १५।६)।

१७–(१२०) ३–उपदेश–ईश्वरलक्षण विश्वव्यापक अव्यय ही योगमाया के सम्बन्ध से कर्म्माश्वत्थलक्षण जीवसृष्टि का कारण बनता है। (१५।७, १५।८)।

१८–(१२१) ४–उपदेश–अपने प्रभव ब्रह्माश्वत्थ (ईश्वर) से पृथक् होने के कारण ही यह कर्म्मा-

श्वत्थ (जीव) कर्म्मफलभोक्ता बनता है। (१५।६ से १५।११ पर्यन्त)।

१९–(१२२) ५–उपदेश–एक ही अश्वत्थवृक्ष त्रिगुणमहद्ब्रह्म के संसर्ग से अनेक रूपों में परिणत हो रहा है। (१५।१२ से १५।१४ पर्यन्त)।

२०–(१२३) ६–उपदेश–वही अश्वत्थाव्यय सम्पूर्ण विश्व का एक (अभिन्न) आत्मा है। (१५।१५)।

२१–(१२४) ७–उपदेश–एक ही अश्वत्थाव्यय क्षराक्षर के सम्बन्ध से भेदव्यवहार की मूलप्रतिष्ठा बन गया है। (१५।१६ से १५।२०)॥

(पञ्चदश अध्याय समाप्त)

सप्तोपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त

४–देवता एवं असुर से सम्बन्ध रखने वाला भूतसर्ग ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (४–उपदेश)।

२२–(१२५) १–उपदेश–जन्मसिद्ध, देवासुरभावमूलक गुण-दोष ही धर्म्माधर्म्मप्रवृत्ति के मुख्य अनुबन्ध हैं। (१६।१ से १६।५ पर्यन्त)।

२३–(१२६) २–उपदेश–असुरप्रधान भूतसर्ग में विद्या–(ज्ञान)–निरपेक्ष असद्गुण-कर्म्मों की ही प्रधानता रहती है। (१६।६ से १६।१९ पर्यन्त)।

२४–(१२७) ३–उपदेश–आसुरीसम्पत्ति के आधार पर प्रतिष्ठित काम-क्रोध-लोभ ही पतन के मुख्य कारण हैं। (१६।२०, १६।२१।)।

२५–(१२८) ४–उपदेश–अपने आत्मकल्याण के लिए दैवीसम्पत् की आराधना आवश्यक है, एवं इस के लिए शास्त्र में पूर्ण निष्ठा अपेक्षित है। (१६।२२, १६।२३)।

(षोडश अध्याय समाप्त)

चतुरुपदेशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त

५–गुण-कर्म्म का प्रचय ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (२०-उपदेश)

२६–(१२९) १–उपदेश–गुणत्रय के भेद से मनुष्यों में तीन प्रकार के श्रद्धाभाव उत्पन्न हो जाते हैं। [१७।१ से १७।६ पर्यन्त]।

२७–(१३०) २–उपदेश–गुणत्रयभेद से मनुष्यों का आहार तीन भागों में विभक्त है। [१७।७ से १७।१० पर्य्यन्त]।

२८–[१३१) ३–उपदेश–गुणत्रय के भेद से मनुष्यों का यज्ञकर्म्म तीन भागों में विभक्त है। [१७।११ से १७।१३ पर्यन्त]।

२९–(१३२) ४–उपदेश–शरीर वाक्-मनोभेद से आध्यात्मिक तप, कायिक–वाचिक–मानसिक भेद से तीन भागों में विभक्त है। [१७।१४ से १७।१६ प.]

३०–(१३३) ५–उपदेश–गुणत्रय के भेद से आध्यात्मिक तप तीन भागो में विभक्त है। [१७।१७ से १७।१९ पर्यन्त]।

३१–(१३४) ६–उपदेश–गुणत्रय के भेद से दानकर्म्म तीन भागों में विभक्त है। (१७।२० से १७।२२ पर्य्यन्त)।

३२–(१३५) ७–उपदेश–गुणत्रय से युक्त कर्म्म की प्रतिष्ठा ब्रह्म है, एवं वह ब्रह्मतत्त्व ओं–तत्–सत् भेद से तीन भागो में विभक्त है (१७।२३से१७।२८ प.]

(सप्तदश अध्याय समाप्त)

३३–(१३६) ८–उपदेश–गुण–कर्म्म के परिज्ञान के लिए कर्म्मसंन्यास, एवं कर्म्मत्याग का भेदज्ञान आवश्यक है। [१८।१ से १८।६ पर्यन्त]।

३४–(१३७) ९–उपदेश–गुणत्रयभेद से त्यागकर्म्म तीन भागों में विभक्त हैं। [१८।७ से १८।११]।

३५–(१३८)१०–उपदेश-गुणत्रयभेद से कर्म्मफल तीन भागों में विभक्त है [१८[१२।]।

३६–(१३९) ११-उपदेश-अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा, दैव यह पांच तत्त्व कर्म्मसिद्धि के उपोद्बलक हैं। (१८।१३से १८।१७ पर्यन्त)।

३७-(१४०) १२ उपदेश-ज्ञान-कर्म्म की त्रिपुटी (ज्ञान-ज्ञेय-परिज्ञाता,-करण-कर्म्म-कर्त्ता) ही कर्म्म का स्वरूप संपादन करती है। (१८।१८)।

३८-(१४१) १३-उपदेश-गुणत्रयभेद से ज्ञान-कर्म्म की दोनों त्रिपुटिएं तीन तीन भागों में विभक्त हैं। (१८।१९)।

३९-(१४२) १४-उपदेश-गुणत्रयभेद से ज्ञानतत्त्व तीन भागों में विभक्त है। (१८।२० से १८।२२ पर्यन्त)।

४०-(१४३) १५-उपदेश-गुणत्रयभेद से कर्म्मतत्त्व तीन भागों में विभक्त है। (१८।२३ से १८।२५ पर्यन्त)।

४१-(१४४) १६-उपदेश गुणत्रयभेद से कर्त्ता तीन भागों में विभक्त है। (१८।२६ से १८।२८प.)

४२-(१४५) १७-उपदेश-गुणत्रयभेद से बुद्धितत्त्व तीन भागों में विभक्त है। (१८।२९ से १८।३२ पर्यन्त)।

४३-(१४६) १८-उपदेश-गुणत्रय के भेद से धृतितत्त्व तीन भागों में विभक्त है। (१८।३३ से १८।३५ पर्यन्त)।

४४-(१४७) १९-उपदेश-गुणत्रयभेद से सुखतत्त्व तीन भागों में विभक्त है। (१८।३६ से १८।३९ पर्यन्त)।

४५-(१४८) २०-उपदेश-सम्पूर्ण विश्व में गुणत्रय का ही साम्राज्य है। (१८।४०)।

त्रिंशत्युपदेशयुक्ता ५ उपनिषत् समाप्त

६-अत्याज्यकर्म्म ही धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं। (२-उपदेश)

४६-(१४९) १-उपदेश-गुण-कर्म्म अधिकार एवं संस्कार भेद से दो भागों में विभक्त हैं। (१८।४१ से १८।४४ पर्यन्त)।

४७-(१५०) २-उपदेश-आधिकारिक कर्म्मों को दोषों के रहते हुए भी नहीं छोड़ना चाहिए। (१८।४५ से १८।४८ पर्यन्त)

द्व्युपदेशयुक्ता ६ उपनिषत् समाप्त

७-अनावरक कर्म्म हीं धर्म्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं। (२-उपदेश)

४८-(१५१) १-उपदेश-कामना परित्यागपूर्वक कर्म्म करने से नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त हो जाती है। [१८।४९ से १८।५२ पर्यन्त]।

४९-(१५२) २-उपदेश-नैष्कर्म्य कर्म्म के प्रभाव से आत्मा कर्म्मबन्धन से विमुक्त होता हुआ परब्रह्म [अव्ययब्रह्म] पद में लीन हो जाता है। [१८।५४ से-१८५६ पर्यन्त]।

द्व्युपदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त

इति ७-उपनिषद्युक्ता, ४९-उपदेशगर्भिता, १८६-श्लोकात्मिका

आर्षविद्या समाप्त
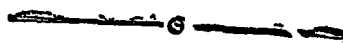
७-उपसंहार प्रकरण

(७)-१-चातुर्विद्योपसंहारप्रकरण-(३-उपनिषत्)-(१८।५७ से १८।७२ पर्यन्त)

(२२)-१-उपनिषत्-सम्पूर्णकर्म्म अध्ययात्मा में समर्पित कर देनें चाहिएं। [१८।५७ से १८।६३ पर्य्यन्त]।

(२३)-२-उपनिषत्-आत्माश्रय ही परमोद्धार है। [१८।६४ से १८।६६पर्य्यन्त]।

(२४)-३-उपनिषत्-गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। [१८।६७ से १८।७२पर्य्यन्त]।

---:०:---

१-सम्पूर्णकर्म्म अध्ययात्मा में समर्पित कर देनें चाहिएं। (४-उपदेश)

१—(१५३) १-उपदेश-लोकोत्तर गुणों से युक्त असामान्य अधिकारी को राजर्षिविद्यासिद्ध वैराग्यलक्षण बुद्धियोग का ही अनुष्ठान करना चाहिए। [१८।५७ से १८।५८ पर्यन्त]।

२—(१५४) २-उपदेश-प्रथमाधिकारी को सिद्धविद्यासिद्ध ज्ञानलक्षण बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। [१८।५९]।

३—(१५५) ३-उपदेश-मध्यमाधिकारी को राजविद्यासिद्ध ऐश्वर्यलक्षण बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। [१८।६०]।

४—(१५६) ४-उपदेश-तृतीय श्रेणि के अधिकारी को आर्षविद्यासिद्ध धर्मलक्षण बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। [१८।६१, १८।६२, १८।६३]।

चतुरुपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त।

२-आत्माश्रय ही परमोद्धार है। (२-उपदेश)

१—(१५७) १-उपदेश-अपने सम्पूर्ण कर्म्मों को हृदयस्थ आत्मदेवता में समर्पित करते हुए स्वार्थबुद्धि का परित्याग कर देना पुरुष का परम पुरुषार्थ है।

[१८।६४, १८।६५, १८।६६]।

२—(१५८) २—उपदेश—साधारण मनुष्य इस ज्ञान के अधिकारी नहीं है। अतः अधिकारी की परीक्षा करके ही उसे यह रहस्य बतलाना चाहिए। [१८।६७]।

द्व्युपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त।

———:o.———

३—गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। (२—उपदेश)।

१—(१५९) १—उपदेश—भगवत्गीता में प्रतिपादित अर्थों का चिरन्तन स्मरण करने से कालान्तर में अपने आप इस ज्ञान के अनुष्ठान में प्रवृत्ति हो जाती है। [१८।६८। से १८।७१ पर्यन्त]।

२—(१६०) २—उपदेश—इस विज्ञानगीता का इतिहास प्रकरण में समावेश हुआ है। [१८।७२।-, १८।७३।]।

द्व्युपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त।

——— o ———

८—सन्दर्भसङ्गति

(८)२-ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति(५) (१८।७४, १८।७५, १८।७६, १८।७७, १८।७८)।

(अष्टादश अध्याय समाप्त)

इति-विज्ञानगीताया विषयविभागप्रदर्शनम्

९

१०— संख्यारहस्य

❀ श्रीः ❀

१०—संख्यारहस्य

"नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले !" इस भगवदुक्ति के अनुसार विना कारण के संसार में कोई व्यवस्था व्यवस्थित नहीं है। प्रत्येक कर्म्म अवश्य ही अपनी कोई उपनिषत् (मौलिक कारण) रखता है। दर्शनमर्य्यादा मे भले ही इस कारणतावाद की मीमांसा न की जाय, परन्तु विज्ञानमर्य्यादा में पद पद पर हमें कारणता का आश्रय लेना पड़ेगा। विज्ञानशास्त्र के इसी स्वाभाविक नियम के अनुसार गीताशास्त्रसम्बन्धी श्लोकसंख्याओं के सम्बन्ध में भी हमें कारणता का अन्वेषण करना पड़ेगा। विज्ञानप्रधान गीताशास्त्र के ७०० श्लोक अवश्य ही किसी गुप्त रहस्य से सम्बन्ध रखते हैं।

संख्याविज्ञान भारत वर्ष की बहुत पुरानी देन है। वेद के ब्राह्मणभाग मे तो पद-पद पर संख्या द्वारा सम्पत्ति का ग्रहण बतलाया गया है। उदाहरण के लिए कुछ एक संख्याओं का रहस्य जान लेना पर्य्याप्त होगा ' ८० संख्या के लिए वेद में "अशीति" शब्द नियत है। उधर इसी शब्द को अन्न का सूचक भी माना गया है। भोजनार्थक अश धातु से ही अशीति शब्द निष्पन्न हुआ है। भोज्य पदार्थ को ही अन्न कहा जाता है। इसी अभिप्राय से वेद ने अन्न को अशीति शब्द से सम्बोधित किया है।

हृदयस्थ मनोऽवच्छिन्न इन्द्र (प्रज्ञाप्राणात्मक सर्वेन्द्रिय मन) को आत्मा (प्रज्ञानात्मा) कहा जाता है, जैसा कि—"प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्व' (कौषीतकि-उप० ३।१।) इत्यादि से स्पष्ट है। इस प्राणात्मक मनोमय आत्मा से ही अङ्गप्राणरूप इन्द्रियों का विकास होता है। आत्मेन्द्र से जुष्ट रहने के कारण ही चक्षु-श्रोत्र-आदि को "इन्द्रिय" कहा जाता है। जहां से, जिस मूल से जो प्राण निकलते हैं, उन्हें वेदभाषा में "अर्क" कहा जाता है, एव वह मूल स्थान "उक्थ" नाम से प्रसिद्ध है। चक्षु-श्रोत्रादि इन्द्रिए भी रूप-शब्दादिरूप अर्कों की प्रवर्त्तिका होने से स्वतन्त्र उक्थ हैं। इन सब इन्द्रिय उक्थो का मूलप्रभव वही प्रज्ञानात्मा है। अत-

एव हम इसे—"महदुक्थ" कह सकते हैं। इसी अभिप्राय से—"आत्मा महदुक्थम्" (शत० १०।१।२।५) इत्यादि रूप से इस आत्मा को महदुक्थ कहा गया है।

महदुक्थरूप, इन्द्रात्मक, मनोमय इस आत्मा की पुष्टि अशीति-(अन्न)-मात्र पर ही निर्भर है। अशीति से ही महदुक्थ लक्षण आत्मा (मन) स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। "अन्नमयं हि सोम्य मनः" (छां० उप० ६।६।५।) इस सिद्धान्त के अनुसार मन अन्नमय है। फलतः इस की जीवन सत्ता, किंवा स्वरूपरक्षा अन्नाहुति पर ही सिद्ध हो जाती है। 'अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार महदुक्थरूप आत्मेन्द्र की तृप्ति अशीति से ही होती है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि मनोमय (प्रज्ञामय) इन्द्र की तृप्ति का साधन अशीति (अन्न) ही है।

इस सम्बन्ध में पाठक जिज्ञासा करेंगे कि वेद ने इन्द्राहुति के लिए "अन्न" जैसे सरल शब्द का प्रयोग न कर "अशीति" जैसे कठिन शब्द का प्रयोग क्यों किया? इस जिज्ञासा का उत्तर वही संख्याविज्ञान है। अशीति शब्द जहां अन्न का वाचक है, वहां पूर्व कथनानुसार यह ८० संख्या का भी सूचक है। ऋषि परोक्षप्रिय होते हैं, जैसा कि पूर्व के नामरहस्य में बतलाया जा-चुका है। वे यह ठीक नहीं समझते कि इन्द्र जैसे पूज्य देवता के सम्बन्धमें—"हम आप के लिए अन्न प्रदान करते हैं" ऐसा अमर्य्यादित वाक्य बोला जाय। अतः इन्द्र के लिए जिस मन्त्र से आहुति दी जाती है, उस के ८० अक्षर बना दिए जाते हैं। अथवा अन्नाहुति साधक सूक्त में ८० मन्त्रों का समावेश कर दिया जाता है। कहने को ८० संख्यात्मक मन्त्र हैं, परन्तु वास्तव में ऋषि की दृष्टि इस अशीति संख्या द्वारा अन्न पर है। इस प्रकार वेद ने ८० संख्या को अशीति (अन्न) का सूचक माना है।

यज्ञकर्म्म में १० पात्र रक्खे जाते हैं। इन १० संख्याओं का भी वेद ने विशेष प्रयोजन बतलाया है। १० अक्षर के छन्द का ही नाम विराट् है। विराट् ही प्रजन कर्म्म का (उत्पत्ति का) साधक है। उधर यज्ञकर्म्म देवात्मा की उत्पत्ति के लिए ही किया जाता है। इसी प्रजननसम्पत्ति का परोक्षभाव से यज्ञकर्म्म में समावेश करने के लिए १० पात्र लिए जाते है। यज्ञकर्म्म में १७ सामिधेनी का ग्रहण होता है। प्राजापत्य सम्पत्ति के परिग्रह के लिए ही १७ का ग्रहण है। इसी

संख्यारहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

१—"द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति-शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं च, स्फ्यं च कपालानि च, शम्यां च-कृष्णाजिनं च, उलूखल-मुसले, दृषत्-उपले । तद्दश । दशाक्षरा वै विराट् । विराड् वै यज्ञः । तद्विराजमेवैतद्यज्ञमभिसम्पादयति । अथ यद्द्वन्द्वं-द्वन्द्वं वै वीर्य्यम् । यदा वै द्वौ संरभेते, अथ तद् वीर्य्यं भवति । द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननम् । मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते ।" । (शत.१।१।२२।) ।

१—"पौर्णमासेष्टि में १० पात्र रक्खे जाते हैं । इन में दो दो को मिलाकर ५ युग्म बनाए जाते हैं । इस १० संख्यासे विराट् सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है, एवं विराट् से प्रजनन सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है । दो के मेल से बल का विकास होता है । इस वीर्य्यभाव की प्राप्ति के लिए भी दो दो पात्र रक्खे जाते हैं । अपिच दो के मिथुन से प्रजननकर्म्म निष्पन्न होता है । वही इस यज्ञ कर्म्म से अभिप्रेत है । इस लिए भी यहां द्वन्द्वभाव का समावेश किया गया है ।" यहांपर २, एवं १० के द्वारा ऋषि का लक्ष्य मिथुन-वीर्य्य-विराट् सम्पत्तिएं हैं । मिथुनादि सम्पत्तियों का काम संख्या से लिया गया है । इस विषय की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को शतपथविज्ञानभाष्य देखना चाहिए ।

२—"स एष संवत्सरप्रजापतिः षोडशकलः । तस्य रात्रय एव पञ्चदशकलाः । ध्रुवैवास्य षोडशीकला । सोऽमावास्यां रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते" (शत. १४।४।३।२२।) ।

२—"संवत्सरप्रजापति १६ कलाओं से युक्त है । पक्ष की १५ रात्रिएं हीं १५ कला हैं । प्रतिपत् (पड़वा) नाम की ध्रुवारात्रि सोलहवीं कला है । वह अपनी इस ध्रुवा रात्रि से पक्षरात्रियों में प्रवेश कर तद्द्वारा सभी प्राणियों में प्रविष्ट होता हुआ प्रातःकाल प्रकट होता है ।"

३—"तस्य सप्तदश सामिधेन्यः । सप्तदशो वै संवत्सरः । द्वादश मासाः, पञ्चर्त्तवः संवत्सरः, प्रजापतिः । प्रजापतिरग्निः । यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन-

मेतत् समिन्द्धे । यद्वेव सप्तदश । सप्तदशो वै पुरुषः—दश प्राणाः, चत्वार्य्यङ्गानि-आत्मा पञ्चदशः, ग्रीवा षोडश्यः, शिरः सप्तदशं, पुरुषः प्रजापतिः । प्रजापतिरग्निः । यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैनमेतत् समिन्द्धे" । (शत. ६।२।८।१) ।

३—' चयनयज्ञ के कर्म्मविशेष में १७ सामिधेनी मन्त्र होते हैं । इस संख्या का रहस्य यही है कि संवत्सर प्रजापति में इतनी ही संख्याएं हैं । १२-महिने, ५-ऋतु, ही संवत्सर प्रजापति है । प्रजापति अग्नि है । जितना अग्नि है, जितनी इस को मात्रा (खण्ड) हैं, उन्हीं से इस अग्नि को समिद्ध (प्रदीप्त) किया है । अपिच सप्तदश संख्या का दूसरा रहस्य यह है कि पुरुष (मनुष्य) १० प्राण, ४-अंग, १-आत्मा, १-ग्रीवा, १-शिरो भेदसे सप्तदश है । पुरुष प्रजापति है । प्रजापति अग्नि है । इस सप्तदशकल पुरुषाग्नि के संग्रह के लिए भी १७ संख्यायुक्त सामिधेनी मन्त्रों का यज्ञकर्म्म में प्रयोग किया गया है । १७ संख्या सूचित कर रही है कि हमारा लक्ष्य सप्तदशकल प्राजापत्य अग्नि है ।

उक्त निदर्शनों से विज्ञ पाठकों को यह विदित होगया होगा कि इङ्गित (इशारे) से ही अनेक रहस्यों का परिज्ञान कराने वाले महारम्भ, कृतधी ऋषियों का संख्या क्रम अवश्य ही किसी मौलिक रहस्य से सम्बन्ध रखता है । वैदिक छन्दोविज्ञान की तो मूलप्रतिष्ठा यही संख्याविज्ञान है । चूंकि वेद का संख्या विज्ञान से घनिष्ट सम्बन्ध है, एवं इधर हमारा गीताशास्त्र भी वेदसमकक्ष बनता हुआ एक विज्ञानशास्त्र है । ऐसी दशा में इस की ७०० संख्या का भी अवश्य ही किसी मौलिक रहस्य से सम्बन्ध मानना पड़ेगा ।

स्वयं भगवान् व्यास ने अपने महाभारत ग्रन्थ में इस संख्याविज्ञान को प्रधान माना है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो "जय" मुदीरयेत् ॥

महाभारत जयग्रन्थ है । पाण्डुपुत्रों के विजय सम्बन्ध से इसे जयग्रन्थ कहना यद्यपि ठीक है, तथापि जयशब्द की सीमा यहीं पर समाप्त नहीं मानी जासकती । "क-ट-प-य-विज्ञान के अनु-

सार जकार ८ संख्या का, एवं यकार १ संख्या का सूचक माना गया है। "अङ्कानां वामतो गतिः" इस सिद्धान्त के अनुसार जयशब्दोपलक्षिता ८१ संख्या का १८ स्वरूप है। इस प्रकार जयशब्द १८ संख्या का सूचक बनता हुआ महाभारत के १८ पर्वों का ही द्योतक है। फलतः "ततो जयमुदीरयेत्" का-"अष्टादशपर्वात्मक महाभारत पढ़ना चाहिए" यह निष्कर्ष सिद्ध हो जाता है।

प्राचीन प्रणाली के अनुसार, किंवा ऐतिहासिक मर्य्यादा के अनुसार गीताशास्त्र १८ अध्यायो में विभक्त है। आर्यसाहित्य में इस १८ संख्या का भी बड़ा महत्व है। १८ पुराण, १८ उपपुराण, १८ पौराणिक विषय, महाभारत के १८ पर्व, गीता के १८ अध्याय, श्रुत्युक्त १८ अवरकर्म, १८ आत्मविवर्त्त इस प्रकार अष्टादश संख्या का विवर्त्त अनेक स्थानो में उपलब्ध होता है। इस की कई एक उपपत्तिए हैं। इतिहास-पुराण की समान मर्य्यादा मानी गई है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि जिस ग्रन्थ में मनुष्यचरित्र गौण, एवं सृष्टि का इतिहास प्रधान हो, वह पुराण है। एवं जिस में सृष्टिचरित्र गौण, एवं मनुष्यचरित्र प्रधान हो, वह इतिहास है। पुराण में भी मनुष्य-चरित्र है, परन्तु गौणरूप से। इतिहास मे भी सृष्टिचरित्र है, परन्तु गौणरूप से। मनुष्यचरित्र के सम्बन्ध से पुराण को इतिहास कहा जासकता है, एवं सृष्टिचरित्र के सम्बन्ध से इतिहास को पुराण कहा जा सकता है। दोनो एक प्रकार से समानधारा में प्रवाहित होते हुए समान विषयक हैं, दोनों ही वेदार्थ के उपबृंहक हैं, जैसा कि—"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" इत्यादि से स्पष्ट है।

पुराणशास्त्र प्रधान रूप से सृष्टि[१], प्रतिसृष्टि[२], वंश[३], वंशानुचरित[४], मन्वन्तर[५], आख्यान[६], उपाख्यान[७], गाथा[८], कल्पशुद्धि[९] सिद्धान्त[१०], संहिता[११], डामर[१२], जामल[१३], तन्त्र[१४], जौतिश्चक्र[१५], (खगोल), भुवन-कोश[१६] (भूगोल), वेद[१७], पुराण[१८] इन अठारह विषयो का निरूपण करता है। इसी विषय रहस्य को सूचित करने के लिए व्यास ने पुराण शास्त्र को १८ भागो में विभक्त किया है। चूंकि महाभारत-ग्रन्थ पुराण समकक्ष है, साथ ही में मनुष्यचरित्र के साथ साथ इस में पुराणोक्त १८ विषयो का भी विशद निरूपण हुआ है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर व्यास ने महाभारत के भी १८ पर्व

रक्खे हैं। गीताशास्त्र भी इसी ऐतिह्यमर्य्यादा से आक्रान्त है, इसलिए गीता के भी १८ ही अध्याय रक्खे गए हैं।

अपिच १८ संख्या विजयभाव से सम्बन्ध रखती है। पाठकों को यह विदित है कि यदि भगवान् की ओर से अर्जुन को गीतोपदेश न होता तो पाण्डवों का जय असम्भव था। पाण्डव विजय का मुख्य श्रेय एकमात्र गीताशास्त्र को ही है। इस जयभाव को सूचित करने के लिए भी ऐतिहासिक दृष्टि से गीता में १८ अध्यायों का समावेश करना न्याय प्राप्त था। तात्पर्य्य कहने का यही है कि शास्त्रों में जो संख्याक्रम रक्खा गया है, उस में अवश्य ही कोई न कोई गुप्त रहस्य प्रतिष्ठित है। कल्पना रसिकों के लिए यह संख्याविज्ञान जहां केवल कल्पना, किंवा कल्पना (पीडित होना) है, वहा एक वैज्ञानिक की दृष्टि में संख्याविज्ञान परम आवश्यक, अतएव सर्वथा उपादेय तत्त्व है।

१—श्लोकसंख्यारहस्य

वैज्ञानिक दृष्टि से १८ अध्यायों का विशेष महत्त्व नहीं है। फलतः इस क्रम की उपेक्षा कर समष्टिरूप से गीताश्लोकों का संख्या रहस्य ही ज्ञेय कोटि में प्रविष्ट रह जाता है। गीताशास्त्र आत्मा का स्वरूप बतलाता हुआ विश्वस्वरूप की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करता है। "भगः (वैराग्य)–भगः (ज्ञान)–भगः (ऐश्वर्य्य)–भगः (धर्म्म)" यह चारों आत्मविभूतिएं हैं। "क्लेशः (आसक्ति)–क्लेशः (मोह)–क्लेशः (अस्मिता)–क्लेशः (अभिनिवेश) यह चारों विश्व के मूलाधार हैं। संसार एक प्रकार का युद्धक्षेत्र है, कलहभूमि है, नानात्व (भिन्नता) की प्रतिष्ठा है। परस्पर में राग-द्वेष रखना, पुत्र-कलत्र-संपत्ति आदि की तृष्णा के पीछे अनुधावन करते रहना, अहोरात्र मृगमरीचिका के पीछे पड़ते हुए अशान्त बने रहना, यही मृत्युप्रधान दुःखमय विश्व का प्रातिस्विक स्वरूप है। ठीक इस के विपरीत आत्मा एक प्रकार का शान्तिक्षेत्र है, इस में कलह की आत्यन्तिक निवृत्ति है, एकत्व का साम्राज्य है।

"आज ऐसा हुआ, कल ऐसा होगा। आज यह करना है, कल यह करना है" इसी

वृत्ति का नाम-"इति–ह–आस" है। यही वृत्ति विश्व है, यही इतिहास है। इतिहास मर्य्यादा का क्लेशात्मक विश्व के साथ ही सम्बन्ध है उच्चावच सासारिक भावों की उपेक्षा करते हुए सदा एक रस रहना, यही विज्ञानभाव है, यही आत्मविभूति है। इतिहासलक्षण विश्व, एवं विज्ञानलक्षण आत्मा दोनों में प्रतिस्पर्द्धा होती रहती है। चतुर्विध भगशाली आत्मदेवता, एव चतुर्विध क्लेशशाली विश्वासुर का संग्राम ही अनादिकाल से चला आने वाला देवासुरसंग्राम है। गीताशास्त्र इतिहासभावमय विश्व का भी निरूपण करता है, एवं विज्ञानभावमय आत्मा का भी रहस्योद्घाटन करता है। इन दोनों विरुद्ध भावों का विवेक (छांट) करने केलिए ही हम गीताशास्त्र के ७०० श्लोको को क्रमशः ६४-६३६ इन भागो में विभक्त करने के लिए बाध्य हैं।

६४ श्लोकों से गीताशास्त्र ऐतिह्य मर्य्यादा का आश्रय लेता हुआ विश्व–अशान्ति का, सहज सिद्ध शोक का निरूपण करता है, एवं शेष ६३६ श्लोकों से विज्ञानमर्य्यादा का आश्रय लेता हुआ, सहजसिद्ध भग का रहस्योद्घटन करता हुआ शोकनिवृत्ति का उपाय बतलाता है।

यद्यपि कहने को विश्व का स्वरूप बड़ा ही विशाल है। परन्तु महतोमहीयान् उस आत्मदेवता के सामने विश्व की महत्ता सर्वथा नगण्य है। चतुष्पाद आत्मा का केवल एक अश ही विश्व बनता है—"एकांशेन जगत् सर्वम्"। विश्व अल्पीयान् है, विश्वापेक्षया आत्मा महतोमहीयान् है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए विश्वस्वरूप प्रदर्शन के लिए जहां ६४ श्लोक रक्खे हैं, वहां आत्मस्वरूप प्रदर्शन के लिए ६३६ श्लोक उपस्थित हुए हैं।

गीताशास्त्र के ७०० श्लोकों को ६४–६३६ इन दो विभागो में विभक्त क्यो माना गया ? इस प्रश्न का समाधान समाप्त हुआ। अब इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ऐतिहासिक गीता के ६४ श्लोको की ६–४, संख्याओं का, एव विज्ञानगीता के ६३६ श्लोको की ६-३-६ संख्याओ का क्या रहस्य है। इस प्रश्न के समाधान के लिए पूर्व के नामरहस्य में बतलाए गए शून्य–पूर्णभाव की ओर ही दृष्टि डालनी पड़ेगी।

वहां बतलाया गया है कि पूर्ण संख्या ऊन है, एव ऊन संख्या पूर्ण है। इस वैषम्य का कारण वहीं बतला दिया गया है। इन दोनो भावो का सम्बन्ध क्रमशः विश्व एव आत्मा के साथ है।

विश्व पूर्ण है, इसलिए यह ऊन है। आत्मा ऊन है, इसलिए यह पूर्ण है। पूर्ण विश्व में आगे विकास का अभाव है, *जैसा वन गया, सदा के लिए वैसा ही वन गया। चूंकि विश्व में विकास का अभाव है, अतएव यह पूर्ण विश्व अपूर्ण है। यही पूर्णता, किन्तु ऊनता, दूसरे शब्दों में शून्यता वतलाने के लिए विश्व से सम्वन्ध रखने वाली श्लोकसंख्या का ६–४ यह क्रम रक्खा गया है। ६–४ की समष्टि १० है, यह पूर्ण संख्या है, इसमें आगे विकास का अभाव है। अतएव व्यवहारदृष्टि से जहां यह संख्या पूर्ण है, वहां विज्ञानदृष्टि से यह अपूर्ण वनती हुई, ऊन, किंवा शून्य है। इसी आधार पर विश्वतत्त्व के निरूपक नास्तिक दर्शन ने विश्व का–"शून्यं–शून्यं" यह लक्षण किया है। "क्षरः सर्वाणि भूतानि" इस गीता सिद्धान्त के अनुसार भी विश्व भौतिक है। भूत पदार्थ द्रव्य है, "गुणकूटो द्रव्यम्" इस आस्तिक सिद्धान्त के अनुसार गुण का समूह ही द्रव्य है। क्रिया तत्त्व नास्ति–अस्ति–नास्तिभावों के सम्वन्ध से नास्तिसार है। नास्तिभाव ही शून्य है, यही मृत्युतत्त्व है, यही विश्व का प्रातिस्विक रूप है। इन्हीं सब कारणों से हम विश्व को अवश्य ही शून्य मानने के लिए तय्यार हैं। यही अवस्था १० संख्या की है। १० पर संख्या समाप्त है, आगे विकास का अभाव है। क्योंकि–"न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्रजनन कर्म न्यूनभाव से ही सम्वन्ध रखता है।

उधर आत्मा विकास की मूलप्रतिष्ठा है। आत्मा के इसी विकासभाव को सूचित करने के लिए तत्प्रतिपादक श्लोकों का ६–३–६ यह क्रम रक्खा गया है। इस में मध्य की ३ संख्या प्रधान है। मध्यस्थ तत्त्व ही विज्ञानदृष्टि मे प्रधान माना गया है। मनः–प्राण–वाङ्मय आत्मा त्रिकल है। यह भौतिक अपूर्ण विश्व के गर्भ में निगूढ रहता है, अतएव इसे 'गूढोत्मा" कहा जाता है। विश्व का स्वरूप माया–कला–गुण–विकार–आवरण–अञ्जन इन ६ परिग्रहों से सम्पन्न हुआ है, जैसाकि पूर्व के विषयविभागप्रदर्शन प्रकरण में विस्तार से वतलाया

*इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यान्तर्गत "याथातथ्येनार्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः" इस मन्त्रभाष्य में देखना चाहिए।

जाचुका है। इन्हीं ६ परिग्रहो के कारण विश्व षाट्कौशिक कहलाता है। मध्य में त्रिकल आत्मा है, इसके दोनो ओर, किंवा चारो ओर षाट्कौशिक विश्व का आवरण है। इधर भी विश्व, उधर भी विश्व, मध्य में आत्मा। इधर ६, उधर ६, मध्य में ३। यही तो "सर्वम्" है। ६-३-६ संख्याएं इसी रहस्य को हमारे सामने रखतीं हैं।

६-३ का संकलन ६ होता है। यह न्यून संख्या है, अतएव पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार यह पूर्ण संख्या है। संख्या में भी ९ संख्या पर ही पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार यह पूर्ण संख्या है। संख्या में ९ संख्या पर ही इतर सख्याओ का विश्राम माना गया है। पाठको को स्मरण होगा कि नामरहस्य में हमने 'भगवद्गीताउपनिषत्" में ९ संख्या बतलाते हुए गीताशास्त्र की पूर्णता सिद्ध की थी। जिस प्रकार अपने नाम से गीताशास्त्र अपनी पूर्णता सिद्ध कर रहा है, उसी प्रकार विज्ञानप्रधान ६३६ श्लोकात्मक यह गीताशास्त्र (विज्ञानगीता) अपनी ६+३+६+(९) इस श्लोकसंख्या से भी अपनी सर्वशास्त्रता सिद्ध कर रहा है। उक्त संख्यारहस्य आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

प्रकारान्तर से संख्याविज्ञान का समन्वय कीजिए। ऐतिहासिक गीता के ६४ श्लोकों का रहस्य है—विश्व की धारावाहिक नित्यता, एवं पूर्णता। "पूर्णमन्यत् स्थानं, शून्यमन्यत् स्थानम्" इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार एक ही आत्मा के पूर्ण-शून्य भेद से दो स्थान (दो रूप) माने गए हैं। वही आत्मा ज्योतिर्लक्षण रसदृष्टि से पूर्ण है, एव वही वीर्य्यलक्षण बलदृष्टि से शून्य है। अमृतभाव पूर्ण है, मृत्युभाव शून्य है। "अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्" इस वाजिश्रुति के अनुसार अन्तरान्तरीभाव सम्बन्ध से दोनो एकदूसरे में ओतप्रोत हैं। पूर्ण-शून्य दोनो एक ही स्थान में, एक ही विन्दु (पॉइन्ट) में प्रतिष्ठित हैं। जहां पूर्ण (अमृतरस) है, वहां शून्य (मृत्युबल) है। जहां शून्य है, वहां पूर्ण है। इसी आधार पर ज्यौतिषशास्त्र ने शून्य को पूर्ण शब्द से व्यवहृत किया है। इसीलिए श्रुति ने पूर्णलक्षण ब्रह्म के लिए—"नेति नेति" कहा है। हम जो कुछ देख चुके, देख रहे, एवं देखेगे, वह सब शून्य-पूर्ण का ही विजृम्भण है।

६+४ के संयोग से १० का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। १० संख्या का ही नाम पूर्ण-

विराट् है। यह विराट्प्रजापति ही अन्न नाम के अन्तिम परिग्रह से युक्त होकर विश्वप्रजापति का उपादान बनता है। (देखिए गी०भू० विश्वपवि ०प्र०१७४ पृ०) । दूसरे शब्दों में विकारपरिग्रहयुक्त यज्ञप्रजापति पर प्रतिष्ठित आवरणपरिग्रहयुक्त ,विराट्प्रजापति ही अन्न परिग्रह को आगे कर विश्वरूप में परिणत हो रहा है।

१० के ९+० यह दो विभाग समझिए। इन दोनों में ९ का पूर्णभाव से सम्बन्ध है, एवं ० (विन्दु) का शून्यभाव से सम्बन्ध है। यह शून्यभाव ही योगमाया का प्रातिस्विक रूप है। इसी योगमाया से सीमित बनता हुआ संख्यातीत वह आत्मतत्व ९ संख्या में परिणत होता हुआ विश्वमूर्त्ति बन रहा है । विश्व का जीवन योगमाया के आधार पर ही निर्भर है । योगमाया से अवच्छिन्न, नवसंख्यात्मक विश्व ही सुप्रसिद्ध दशमहाविद्या (दश भागों में विभक्त सृष्टिविद्या) का वैभव है, जैसा कि अन्यत्र (दशमहाविद्यारहस्य) निरूपित है।

विन्दु का आधार मान कर उसके आगे १, २, ३, इस क्रम से ९ तक संख्या रखते जाइए। ९ पर यह संख्याक्रम समाप्त हो जायगा। जो विन्दु अबतक इन संख्याओं के पीछे थी, वह आगे जायगी, १० का स्वरूप संपन्न हो जायगा। पुनः विन्दु के आगे से १-२-३ यह क्रम चल पड़ेगा। इसी क्रम से संख्या का प्रस्तार करते जाइए। सर्वत्र, सभी प्रस्तारों में आप को ९ संख्यात्मक विराट्प्रजापति की ही प्रधानता मिलेगी। यही ९ संख्या उत्तरोत्तर नवीनरूप धारण करती हुई मिलेगी। इस संख्या के इसी नवीनरूप को लक्ष्य में रखकर ऋषियोंनें इसे "नव" शब्द से सम्बोधित किया है। नव शब्द नवीनता का ही सूचक है, जैसा कि—"नवो नवो भवति जायमानो" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। आगे आगे नवीनता, साथ ही में पूर्णता, यही तो इस न्यूनसंख्या की पूर्णता है। तभी तो ऋषियोंनें न्यून को पूर्ण कहा है। देखिए न ९ की क्रमिकधारा में भी परिणाम में ९ ही शेष रहते हैं। ९+९, १८ होते हैं, ८+१, ९ रहते हैं। यही क्रम २७-२+७।९, ३६-३+६-९, ४५-४+५-९, ५४-५+४-९, ६३-६+३-९, ८१-८+१-९, ९०-९-० इस प्रकार आगे है। आगे के परिलेखों से उक्त संख्या के पूर्ण-शून्यभावों का स्पष्टीकरण हो जाता है।

इतिहास प्रतिपादक महाभारत जय ग्रन्थ है, जैसा कि आरम्भ में कहा जाचुका है। पाण्डवविजय ही जयशब्द का मुख्य लक्ष्य है। इस विजय के द्वारा पाण्डवों ने, किंवा गीतोपदेश से उपदिष्ट अर्जुनने अपना खोया हुआ राज्यवैभव फिर से प्राप्त किया। राज्यवैभव विश्व-सम्पत्ति है। विश्वसम्पत्ति में १० अक्षर से सम्बन्ध रखने वाली ऊनभाव गर्भिता पूर्णता है। इसी ऐतिह्यपूर्णता को सूचित करने के लिए इतिहासगीता के श्लोको का ६+४ (१०) यह क्रम रक्खा गया है। श्री-विजय-भूति तीनों हीं विश्व की पूर्ण विभूतिएं हैं। ६+४ यह दोनो ही संख्याएं उक्त संख्याक्रमनुसार पूर्णता की सूचक हैं। इस पूर्णता को सूचित करने के लिए जहां ६+४ इन दो संख्याओं का निर्देश है, वहां-"योगमाया के अनुग्रह से ही नश्वर विराट् पुरुष का जन्म हुआ है। शून्य-पूर्णभाव की प्रवर्तिका योगमाया ही पूर्णता की, किंवा राज्यवैभव की जननी है" इस रहस्य को ६+४ का संकलन रूप दशाक्षर विराट् पुरुष सूचित करता है।

महाभारतवेत्ताओं को यह विदित है कि महाभारतान्तर्गत भीष्मपर्व के जिस अध्याय से (म०भा० भीष्मप० २५ अ० से) गीताग्रन्थ का आरम्भ हुआ है, उससे पहिले के २४ वे अध्याय में धृतराष्ट्र एवं सञ्जय का संवाद है। इससे पहिले के २३ वे अध्याय में दुर्गास्तोत्र का निरूपण है। युद्ध के लिए सन्नद्ध, रथारूढ अर्जुन को भगवान् आदेश देते हैं—

श्रीभगवानुवाच—शुचिर्भूत्वा महाबाहो ! सङ्ग्रामाभिमुखे स्थितः ।
पराजयाय शत्रूणां दुर्गास्तोत्रमुदीरय ॥१॥
संजयउवाच———एवमुक्तोऽर्जुनः संख्ये वासुदेवेन धीमता ।
अवतीर्य रथात् पार्थः स्तोत्रमाह कृताञ्जलिः ॥२॥
(म० भीष्मप० २३ अ० । २-३श्लो०) ।

उक्त उद्धरणों से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि युद्धारम्भ से पहिले विश्वसम्पत् की अधिष्ठात्री, योगमायारूपिणी जगन्माता दुर्गा की स्तुति भगवान्ने आवश्यक समझी है। इस स्तुतिपाठ से व्यास यही सूचित करना चाहते हैं कि आगे जाकर अर्जुन जिस विराट्सम्पत्ति को

प्राप्त करना चाहता है, उस की मूलप्रतिष्ठा योगमाया ही है । अर्जुन भगवदादेश को शिरोधार्य कर जगन्माता की स्तुति करता है ।

स्तवानन्तर योगमाया वरप्रदान करती हैं। वरप्राप्त्यनन्तर संजय—धृतराष्ट्र का संवादाध्याय हमारे सामने आता है । संवादाध्याय के अव्यवहितोत्तरकाल में ही **"धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे"** इत्यादिरूप से चतुःषष्टिश्लोकात्मिका ऐतिहासिक गीता का आरम्भ हो जाता है। इन ६४ श्लोकों की संख्या सूचित करती है कि—**"महाभारत समर में गीतोपदेश के प्रभाव से अर्जुन ने विराट् सम्पत्ति प्राप्त की थी। भविष्य में भी जो व्यक्ति इस उपदेश का अनुगमन करेगा, वह विराट्सम्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ होगा"** ऐतिहासिक गीता के ६४ श्लोक ही क्यो रक्खे गए ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है ।

ऐतिहासिक गीता के अनन्तर विज्ञानगीता का आरम्भ होता है । इसमें ६३६ श्लोक हैं । ज्ञान—विज्ञान के समन्वय प्रदर्शन के लिए ही उक्त संख्याक्रम रक्खा गया है । ज्ञानपक्ष का प्रतिसंचरभाव से, एवं विज्ञानपक्ष का सञ्चरभाव से सम्बन्ध है । ज्ञान आत्ममय है, विज्ञान विश्वमय है । विश्व एवं आत्मा की समष्टि ही—**'सर्वम्'** है । इस सर्वतत्त्व का निरूपण करने वाला गीताशास्त्र अवश्य ही सर्वशास्त्र है ।

आत्मा एवं विश्व दोनों के विवेक करने से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि आत्मा त्रिकल है, एवं वही आत्मा विश्वमूर्त्ति बन कर षट्कल है । विशुद्धरूप से **मनः—प्राण—वाङ्मय** बनता हुआ त्रिकल है, सृष्टिदशा में मनः—प्राण—वाङ्मूर्त्ति इस सृष्टिसाक्षी त्रिकल आत्मा के मन से **रूप** का, प्राण से **कर्म्म** का, एवं वाक् से **नाम** का विकास होता है । नाम—रूप-कर्म इन तीन भावों को उत्पन्न कर वह त्रिकल आत्मा—**"तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्"** इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त तीनों भावों में प्रविष्ट हो जाता है । यही इसका सोपाधिक सृष्टरूप है । आत्मा के इस सृष्टरूप में **मनः—प्राण—वाक—रूप—कर्म्म—नाम** यह ६ कलाएं हैं । षट्कल

यही सृष्टरूप "विश्व" नाम से प्रसिद्ध है। निरुपाधिक आत्मा आत्मा है, यह त्रिकल है। सोपाधिक वही आत्मा विश्व है, यह षट्कल है। अपने षट्कल सोपाधिक रूप में वह निरुपाधिक त्रिकल व्याप्त हो रहा है। सोपाधिक विश्व की ६ कलाएं उस ओर, ६ कलाएं इस ओर, मध्य में त्रिकल आत्मा। उधर षट्कल विश्व, इधर षट्कल विश्व, मध्य में त्रिकल आत्मा। ६-३-६ का यही मौलिक रहस्य है।

प्रकारान्तर से संख्याक्रम का समन्वय कीजिए। आत्मा से विशुद्ध **अव्ययपुरुष** का ग्रहण कीजिए। वह विशुद्ध अव्ययपुरुष अपने प्रतिबिम्बरूप से आनन्दविज्ञानलक्षण ज्ञानात्मा, मनोलक्षण **कामात्मा**, प्राण-वाक् लक्षण **कर्म्मात्मा** भेद से त्रिकल है। यही इसका निरुपाधिक रूप है। आगे जाकर इसमें सोपाधिक विश्वरूप ६ भाव और उत्पन्न हो जाते हैं। **मनः-प्राण-वाक्** पहिला सोपाधिक रूप है, **वाक्-आप-अग्नि** दूसरा सोपाधिक रूप है इन ६ ओ में मनः-प्राणवाङ्मय सोपाधिकरूप विश्वात्मा है, वाक्-आप-अग्निमय दूसरा सोपाधिकरूप विश्व है। विश्व उसका शरीर है विश्वात्मा इस विश्वशरीर का आत्मा है। विश्व-विश्वात्मा एक वस्तु है। अतः इस षण्मूर्ति विश्व-विश्वात्मा को हम अवश्य ही विश्व शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। आनन्द-विज्ञान-मनोमय निरुपाधिक आत्मा असङ्गरूप से विश्व में व्याप्त है। यह त्रिकल मध्य में है, दोनों ओर षट्कल विश्व का आवरण है।

अथवा प्रकारान्तर से देखिए। मनः-प्राण-वाङ्मय विश्वात्मा के भी मनः-प्राण-वाक् नाम-रूप-कर्म्म यह ६ रूप हैं। एवं वाक्-आपो-अग्निमय विश्व के भी अमृत-मृत्यु भेद से ६ ही रूप हैं। वाक्-आप अग्नि को ही शुक्र कहा जाता है। तीन ही अमृतशुक्र हैं, तीन ही मर्त्यशुक्र हैं। आनन्द-विज्ञान-मनोमय, दहराकाशस्थ त्रिकल निरुपाधिक आत्मा के उस ओर सोपाधिक विश्वषट्क है। उधर भी ६ हैं, इधर भी ६ हैं, मध्य में स्वयं त्रिकल निरुपाधिक आत्मा है। इसके अतिरिक्त माया-कलादि ६ परिग्रहों के सम्बन्ध से भी ६३६ की उपपत्ति मानी गई है, जिसका कि दिग्दर्शन प्रकरणारम्भ में ही कराया जा चुका है।

उक्त संख्या क्रम हमें आदेश करता है कि—

"आत्मज्ञानलक्षणा शाश्वत आनन्द की प्राप्ति के लिए तुम्हें विश्व का परित्याग करने की आवश्यकता नहीं है । तुम विश्व में रहते हुए भी यथावर्ण, यथा आश्रम निष्काम बुद्धि से कर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहते हुए, मध्यस्थ आत्मा को अपना प्रधान लक्ष्य बनाते हुए अपना जीवन धन्य बना सकते हो" ।

सम्पूर्ण विज्ञान गीता का यही मौलिक रहस्य है। इसी रहस्य को परोक्षविधि से सूचित करने के लिए उन वैज्ञानिको ने (भगवान् व्यास ने) विज्ञानगीता के ६३६ श्लोक बनाते हुए, हमारे सामने ६-(विश्व) ३-(आत्मा) ६-(विश्व) यह क्रम रक्खा है। विज्ञानगीता की ६३६ श्लोकसंख्या क्यों रक्खी गई ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है ।

शून्यपूर्ण—पूर्णाभावपरिलेखः

स एष शून्य—पूर्ण—पूर्ण—शून्यलक्षणो विराट्प्रजापतिर्न—

ष्कलोः योगमायावच्छिन्नोः विश्वाधारो.

विश्वमूर्त्ति·

संख्यारहस्यपरिलेखः

१—प्रथमोपपत्तिपरिलेखः

—:०:—

२—द्वितीयोपपत्तिपरिलेखः २

—o—

३—तृतीयोपपत्तिपरिलेखः

४—अन्तिमोपपत्तिपरिलेखः

१-१-माया
२-२-कलाः
३-३-गुणाः
४-१-विकाराः
५-२-आवरणानि
६-३-अञ्जनानि

षट्परिग्रहा विश्वरूपाः विश्वम्-परतः ६

१—अव्ययः
२—अक्षरः
३—आत्मक्षरः

निरूपाधिक आत्मा त्रिकलः ३ — ६३६

६-३-अञ्जनानि
५-२-आवरणानि
४-१-विकाराः
३-३-गुणाः
२-२-कलाः
१-१-माया

षट्परिग्रहा विश्वरूपाः विश्व-इतः ६

२—उपनिषत्संख्यारहस्य

६३६ श्लोकात्मिका इस विज्ञानगीताके **चातुर्विद्योपक्रम, राजर्षिविद्या, सिद्धिविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या, चातुर्विद्योपसंहार** नाम के ६ प्रकरण हैं। इन ६ ओं में क्रमशः १/१ — २/८ — ३/२ — ४/३ — ५/७ — ६/३ इतनी उपनिषदें हैं। सब मिला कर कुल २४ उपनिषदे हो जातीं हैं। यदि श्लोकसंख्या में कुछ मौलिक रहस्य है, तो यह उपनिषत्संख्या भी रहस्य से वञ्चित नहीं है। आइए! पहिले व्यष्टिरूप से ही उपनिषत् संख्या का विचार करें।

क.—प्रथमप्रकरण

५ श्लोकात्मक चातुर्विद्योपक्रम प्रकरण में १ उपनिषत् (लोकवृत्तोपनिषत्) रक्खी गई है। गीताशास्त्र आत्मा एवं विश्व दोनो का निरूपण करता है, जैसा कि पूर्व के श्लोक-संख्याविज्ञान में विस्तार से बतलाया जाचुका है। आत्मनिरूपण से यह शास्त्र **ब्रह्मविद्याशास्त्र** कहलाया है, एवं विश्वनिरूपण से **योगशास्त्र** कहलाया है। आत्मा भी (अव्यय) अपने चारो भगों के कारण चतुष्पात है, एवं विश्व भी अपने चारो बुद्धियोगो के कारण चतुष्पात् है। चतुष्पात् सोपाधिक आत्मा, एवं चतुष्पात विश्व, दोनो उस एक ही निष्कल आत्मा के विवर्त्त हैं। **"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्"** इस ऋक्सिद्धान्त के अनुसार वह एक ही मूल ब्रह्म उक्त आठ तत्त्वरूपों में परिणत हुआ है। चारो विद्याओ-(आत्मविद्याओ), एवं चारों योगो (विश्वयोगो) की मूलप्रतिष्ठा, मूल उपक्रम एक ही ब्रह्म है, एक ही निरुपाधिक आत्मा है। गीता की २४ उपनिषदे एक ही मूलात्मोपनिषत् का वितान है। वह एक ही आत्मोपनिषत् आगे की २३ उपनिषदो का उपक्रम है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए चातुर्विद्यप्रकरण के उपक्रम स्थानीय प्रथम प्रकरण मे, दूसरे शब्दो में विज्ञानगीता के उपक्रम में १ ही उपनिषत् रक्खी गई है।

ख-द्वितीयप्रकरण

चातुर्विद्योपक्रम प्रकरण के अनन्तर २१६ श्लोकात्मक वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्त्तक राजर्षिविद्या प्रकरण हमारे सामने आता है। इस में ८ उपनिषदें रक्खीं गईं हैं। गीताशास्त्र का मुख्य लक्ष्य अव्यय ब्रह्म, एवं बुद्धियोग है। यद्यपि गीता में चार प्रकार के बुद्धियोग, एवं चार प्रकार की आत्मविद्याओं का निरूपण हुआ है, परन्तु इन चारों में राजर्षिविद्या नाम की आत्मविद्या, एवं वैराग्यबुद्धियोग नाम का बुद्धियोग ही प्रधान है। शेष तीनों आत्मविद्याओं, एवं तीनों बुद्धियोगों का परमत से सम्बन्ध है, एवं राजर्षिविद्यात्मक वैराग्य बुद्धियोग भगवान् का अपना मत है, जैसा कि–"ये मे मतमिदं नित्यम्"–"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। ज्ञान का सांख्यनिष्ठा से सम्बन्ध है, यह कापिलनिष्ठा है। ऐश्वर्य्य का भक्तिनिष्ठा से सम्बन्ध है, यह राजनिष्ठा है। धर्म्म का कर्म्मनिष्ठा से सम्बन्ध है, यह हिरण्यगर्भनिष्ठा है। यही लोकप्रसिद्ध **ज्ञानयोग-भक्तियोग-कर्म्मयोग** हैं। गीता से पहिले इन्हीं तीनों का साम्राज्य था। भगवान् ने इन तीनों से अतिरिक्त एक **अपूर्व बुद्धियोग** का आविष्कार किया। वही बुद्धियोग **वैराग्यबुद्धियोग** नाम से प्रसिद्ध हुआ। लोकसंग्राहक भगवान् ने लोकप्रचलित उक्त कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञाननिष्ठा, सकामभक्तिनिष्ठा, एवं कामनामयी कर्म्मनिष्ठा का भी गीताग्रन्थ में समावेश किया, परन्तु संशोधन के साथ। ज्ञाननिष्ठा में कर्म्म का समावेश किया, भक्तिनिष्ठा में निष्कामभाव का, एवं कर्म्मनिष्ठा में फलासक्तित्याग का समावेश किया। वही संशोधित तीनो योग बुद्धियोग के समावेश से बुद्धियोगरूप में परिणत होगए।

उक्त चारों बुद्धियोगों का, एवं चारों आत्मविद्याओं का एकमात्र श्रेय राजर्षिविद्या, एवं वैराग्य बुद्धियोग को ही है। इसी विद्या, एवं योग के आठ वितान हैं। चारों में इसी की छाप लगी हुई है, जैसा कि पाठक विज्ञानभाष्य में तत्तत् स्थलों में अनुभव करेंगे। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि गीताप्रतिपादित चतुर्विध आत्मविद्या, एवं चतुर्विध योग इन आठों की मूलप्रतिष्ठा वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्तिका राजर्षिविद्या ही है। यही कारण है कि राजर्षिविद्या ने जहां वैराग्य-भगसम्बन्धनी आत्मविद्या, एवं वैराग्य बुद्धियोग का प्रधान रूप से निरूपण किया है, वहां

इसी प्रकरण में शेष तीनों विद्याओं, एवं तीनो योगो पर भी गौणरूप से दृष्टि डाली है। राजर्षि-विद्या का आरम्भ के ६ अध्यायों में निरूपण हुआ है। इन ६ ओं अध्यायों में हीं पाठक यत्र तत्र सांख्यमूलक ज्ञानबुद्धियोग, भक्तिमूलक ऐश्वर्य्य बुद्धियोग, एवं कर्म्ममूलक धर्म्मबुद्धियोग का निरूपण देखेगे, जैसा कि निम्न लिखित वचनो से स्पष्ट है—

ज्ञानबुद्धियोगः—१–एषा तेऽभिहिता सांख्ये। (२।३९)। (सांख्यनिष्ठा)।

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः–२–श्रद्धावान् भजते यो माम् (६।४७)। (भक्तिनिष्ठा)।

धर्म्मबुद्धियोगः—३–कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः। (३।२०)। (कर्म्मनिष्ठा)।

इस प्रकार वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्त्तिका हमारी यह राजर्षिविद्या नाम की पहिली विद्या चारो आत्मविद्याओं, एवं चारो बुद्धियोगो से युक्त बनती हुई गायत्रसम्पत्ति से (*८संख्या से) युक्त हो रही है। राजर्षिविद्या की इसी अष्टाक्षर (अष्टात्रय–सम्पत्ति को सूचित करने के लिए, दूसरे शब्दो में राजर्षिविद्या ही इतर तीनो आत्मविद्याओ का, एवं वैराग्यबुद्धियोग ही इतर तीनो बुद्धियोगों का मूल है, यह सूचित करने के लिए इस में ८ उपनिषदे रक्खीं गई हैं।

ग.–तृतीयप्रकरण—

बुद्धियोगप्रवर्त्तिका सिद्धविद्या ही तृतीयप्रकरणार्थ है। यह सांख्यनिष्ठा का ही संशोधित रूप है। साख्यशास्त्र के मूलतत्व पुरुष एवं प्रकृति हैं। प्राधानिक लोग प्रकृति से विश्व की रचना मानते है, पुरुष को पुष्करपलाशवत् निर्लेप कहते हैं, जैसा कि उनके–"**प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः, किन्तु चेतनः**" इत्यादि सिद्धान्त से स्पष्ट है। तत्त्वसंख्यान ही प्रकृति का परिज्ञान है। तत्वसंख्यानसिद्ध प्रकृति का स्वरूप परिचय ही पुरुषपरिज्ञान का कारण

* "अष्टाक्षरा वै गायत्री" इस सिद्धान्त के अनुसार गायत्रीछन्द के आठ अवयव हैं। जहा जहां आठसंख्या, किंवा आठ अवयवों का समावेश रहेगा, छन्दोविज्ञान के अनुसार उन सब स्थलों को गायत्रसंपत्ति से युक्त माना जायगा।"

बनता है। दूसरे शब्दों में तत्त्वसंख्यान (परिगणना) से ही प्रकृति–पुरुष का विवेक होता है। चूंकि पुरुष परिज्ञान तत्वसंख्यान पर निर्भर है। अतएव **"संख्यातः सिद्धं ज्ञानं"** इस निर्वचन के अनुसार इसे सांख्य कहा जाता है। स्वयं पुरुष सांख्य (ज्ञान), किंवा ज्ञानमूर्त्ति है। प्रकृति उसका तत्त्व है। इसी तत्त्व से विश्वभाव का विकास हुआ है। इस प्रकार इस सांख्यलक्षण ज्ञान के **पुरुष–प्रकृति** दो विवर्त्त हो जाते हैं। सांख्य की यही दो उपनिषदें (मूलप्रतिष्ठाएं) हैं। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए साम्यनिष्ठात्मक सिद्धविद्याप्रकरण में २ उपनिषदें रक्खी गई हैं।

घ.—चतुर्थप्रकरण

ऐश्वर्य्यबुद्धियोगप्रवर्त्तिका राजविद्या ही चतुर्थप्रकरणार्थ है। यह भक्तिनिष्ठा का ही संशोधित रूप है। भक्तितन्त्र सदा त्रिकल ही होता है। भक्ति का ही दूसरा नाम उपासना है। इस उपासना में **उपास्य–उपासक–उपासनासाधन** यह तीन विभाग नित्य अपेक्षित हैं। बिना त्रिकल के भक्ति बन ही नहीं सकती। उपास्य ईश्वर है, उपासक जीव है।

योगभ्यास, ईश्वरप्रणिधान, परानुरक्ति आदि उपासना के साधन हैं। इन साधनों से उपासक उपास्य का भाग (भक्ति–अंश–अवयव) बनता हुआ, ईश्वर के ऐश्वर्य्य से युक्त होता हुआ भक्तिनिष्ठा प्राप्त कर लेता है। उपास्य ईश्वर अधिदैवत है, उपासनासाधन अधिभूत है, एवं स्वयं उपास्य अध्यात्म है। अधिभूत द्वारा अध्यात्म का अधिदैवत के साथ सम्बन्ध करा देना ही उपासना, किंवा भक्ति है। उपास्य की उपासना तभी सिद्ध हो सकती है, जब कि वह अपने कायिक–वाचिक–मानसभावों का धारणा–ध्यान–समाधिद्वारा उस त्र्यक्षर ईश्वर के साथ समन्वय करदे। कायिक-वाचिक-मानसिक तीनों भाव जीवसंस्था से सम्बन्ध रखते हैं। इस दृष्टि से उपास्य भी त्रिकल है। धारणा-ध्यान-समाधि तीनों उपासना के साधन हैं। इस दृष्टि से साधन भी त्रिकल हैं। एवं उपास्य ईश्वर भी त्रिकल ही है, जैसा कि नामरहस्यान्तर्गत भग-

यच्छन्दरहस्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है । इस प्रकार हमारा यह उपासना काण्ड उपास्य–उपासक–उपासनासाधन तीनों ही दृष्टियों से त्रिकल बन जाता है । चूंकि राजविद्या इसी भक्तिनिष्ठा का स्वरूप हमारे सामने रखती है, एवं इस की उपनिषत् (मूलभित्ति) तीन हैं, अतएव इसमें तीन उपनिषदें रक्खीं गई हैं ।

———:०:———

ङ.——पञ्चमप्रकरण

धर्म्मबुद्धियोगप्रवर्त्तिका आर्षविद्या ही पञ्चमप्रकरणार्थ है। यह कर्म्मनिष्ठा का ही संशोधित रूप है । विश्व में जितनें भी जड़-चेतन पदार्थ हैं, सबके कर्म्म नियत हैं । इन नियत प्राकृतिक कर्म्मों को ही विज्ञानभाषा में "धर्म्म" शब्द से सम्बोधित किया गया है । कर्म्म ही उस पदार्थ का धर्म्म है, कर्म्म ही उस पदार्थ को स्वस्वरूप में धारण किए रहता है । जब मनुष्य कर्म्म (चेष्टा) शून्य होजाता है तो मनुष्य का स्वरूप उत्क्रान्त हो जाता है । कर्म्म ने ही पदार्थों को धारण कर रक्खा है, अतएव वैज्ञानिकोंने धर्म्म का-"धारणाद्धर्म्ममित्याहुः" यह लक्षण किया है ।

अतएव विज्ञानप्रधान भारतीय ग्राम्य प्रजा में भी "आदमी का करम (कर्म्म) ही उसका धरम (धर्म्म) है" "करम–धरम किया, या नहीं" इत्यादि किंवदन्तिएं प्रचलित हैं । कर्म्म ही धर्म्म है, एवं धर्म्म ही विश्व की मूलप्रतिष्ठा है, जैसा कि–"धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा" इत्यादि वचन से स्पष्ट है ।

सम्पूर्ण विश्व कर्म्मप्रधान बनता हुआ धर्मप्रधान है–"कर्म्मप्रधान विश्व करि राखा" (तुलसी) । सृष्टिविज्ञान के अनुसार भी आत्मा जहां ज्योतिर्लक्षण बनता हुआ ज्ञानप्रधान है, वहां विश्व वीर्य्यलक्षण बनता हुआ कर्म्मप्रधान है । कर्म्म ही विश्व का उपादान कारण है । उपादान कारण अपने कार्य से अभिन्न है, इस दृष्टि से कर्म्म ही विश्व है । कर्म्म चूंकि धर्म्म है, अतएव धर्म्म ही विश्व है । धर्म्ममूर्त्ति, किंवा कर्म्ममूर्त्ति विश्व ही उस सत्यमूर्त्ति, किंवा ज्ञानमूर्त्ति विश्वात्मा का वैभव है, विभूति है, महिमा है, यश है । सत्य ईश्वर की यह धर्म्ममयी-लोकविभूति

भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्-भेद से सात विभागों में विभक्त है। यह सात-लोक ही सात वितस्ति हैं। इन्हीं सात वितस्तियों के सम्बन्ध से उस सत्य सर्वभूतान्तरात्मा ईश्वर को "सप्तवितस्तिकाय" कहा गया है। धर्म्मरूप विश्व के यही सात पर्व है। इन सात व्यष्टि-यों के आधार पर ही समष्टिधर्म्म प्रतिष्ठित है। समष्टिधर्म्म की यही सातलोक सात उपनिषद् (मूलप्रतिष्ठाएं) हैं। आर्षविद्या में इसी धर्म्मलक्षण कर्म्म का निरूपण है। चूंकि धर्म्म की उप-निषदें ७ हैं, अतएव तत्प्रतिपादिका इस आर्षविद्या में सात ही उपनिषदें रक्खीं गईं हैं।

च.-षष्ठप्रकरण

सर्वान्त के १४ श्लोकात्मक **चातुर्विद्योपसंहार** नाम का ६ ठा प्रकरण हमारे सामने आता है। मूलब्रह्म ही तूलरूप में परिणत होता है, यह प्रकरणारम्भ में कहा जाचुका है। मूल आत्मा ही तूल बनकर **"सर्वम्"** बन गया है। मूलावस्था मे वही आत्मब्रह्म एक है, तूलावस्था में वही आत्मब्रह्म तीन है। आत्मा एक होकर तीन बनता है-सृष्टिदशा में। आत्मा तीन होकर एक बनता है-मुक्तिदशा में, जैसा कि-**"आत्माउ एकः सन्नेतत्त्रयम्"-त्रयं सदेकमयमात्मा"** इत्यादि **बृहदारण्यक** श्रुति से स्पष्ट है। मूल आत्मा के सोपाधिक ये ही तीनो विवर्त्त क्रमशः **आत्मा-पदं-पुनःपदं**-इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

प्रत्येक वस्तु में आप इन तीनों का साक्षात्कार कर सकते हैं। उदाहरण के लिए अध्यात्मसंस्था को ही लीजिए। हृदय में आत्मा प्रतिष्ठित है। शरीर पद है, इसी में हृदयस्थ उक्थरूप आत्मा अर्करूप से प्रपन्न है। आत्मप्रपत्ति के कारण ही शरीर को पद कहा जाता है। इस स्थूलशरीर को केन्द्र बनाते हुए बड़ी दूर तक चारों ओर एक प्राणमण्डल और रहता है। इसी प्राणमण्डल को महिमामण्डल कहा जाता है। हृदयस्थ आत्मा पहिले शरीर में आकर, पुन महिमारूप से इस प्राणमण्डल में प्रपन्न होता है, अतएव इसे पुनःपद कहा गया है। इन तीन विवर्त्तों का मूल कारण आत्मा की तीन कलाएं हैं। स्वयं मनःप्रधान आत्मा हृदय में प्रति-

त्रिन रहता हुआ आत्मा कहलाता है। प्राणप्रधान आत्मा पद कहलाता है, एवं वाक्प्रधान वही आत्मा पुनःपद कहलाता है। यही आत्मा के तीन तलरूप हैं।

पृष्ठविद्या के अनुसार आत्मा हृत्पृष्ठ है, पद अन्तःपृष्ठ है, एवं पुनःपद बहिःपृष्ठ है। वेदविद्या के अनुसार आत्मा ब्रह्ममय है, पद यजुर्मयय है, पुनःपद शिवमय है। अक्षरविद्या के अनुसार आत्मा ब्रह्ममय है, पद विष्णुमय है, पुनःपद शिवमय है। प्रणवविद्या के अनुसार आत्मा अकार है, पद उकार है, पुनःपद मकार है। इन तीनों सोपाधिक, अतएव मृत्युरूप आत्मविवर्त्तों से अतिरिक्त चौथा (तुरीय) निरुपाधिक विशुद्ध एक आत्मा अर्द्धमात्रा, किंवा अमात्रा है।

प्रकृत में इस आत्मविभूति से हमें बतलाना यही है कि ज्ञानदशा में आत्मा के तीनों विवर्त्त एक बन जाते हैं, यही मुक्तिदशा है। एवं विज्ञानदशा में वह एक ही तीनरूप धारण कर लेता है, यही सृष्टिदशा है। विशुद्ध विज्ञान विश्वबन्धन का कारण है, विशुद्ध ज्ञान विश्वसम्पत्ति का शत्रु है। अतएव दोनों ही पक्ष अपूर्ण हैं। होना यह चाहिए कि सासारिक वैभव से भी हम वञ्चित न रहें, साथ ही में बन्धन में भी न पड़ें। यह तभी सम्भव है, जब कि हम ज्ञान को मूल में रखते हुए विज्ञानमय विश्व में प्रवृत्त हो। इस एकत्व लक्षण ज्ञानयुक्त त्रित्वलक्षण विज्ञान की उपासना से न संसार का वैभव हमसे दूर रहता, न आत्मसम्पत्ति से हम वञ्चित रहते। भगवान्ने अपने विज्ञानगीताशास्त्र द्वारा "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः" कहते हुए इस सम्बन्ध में हमारे लिए सचमुच एक अपूर्व मार्ग रक्खा है। अपनी विज्ञानगीता के उपक्रम उपसंहार से भगवान्ने यही सिद्ध किया है।

उपक्रम में १ उपनिषत् है। इससे भगवान् यह आदेश कर रहे हैं कि तुम जिस कर्म्म में प्रवृत्त हो रहे हो, उसके मूल में ज्ञानलक्षण एकब्रह्म को प्रतिष्ठित करो। उपसंहार प्रकरण में ३ उपनिषत् हैं। इससे भगवान् यह सूचित कर रहे हैं कि उस एक ज्ञान पर ही विश्राम मत करो। अपितु त्रिकल विज्ञानभाव पर उस एक का पर्यवसान करो। एक को मूल मान कर तीन की आराधना करो। ज्ञान को आधार बनाकर विज्ञान का अनुगमन करो। यही श्रेयःपन्था है। उपसंहार प्रकरण में ३ उपनिषदें क्यों रक्खी गई? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

———०———

छ.—समष्टिरहस्य

संभूय उक्त ६ प्रकरणों की २४ उपनिषदें हो जातीं हैं । २४ संख्या से आत्मा एवं विश्व (ज्ञान-विज्ञान) दोनों परिगृहीत हैं । सृष्टिविज्ञान के अनुसार गायत्री को ही विश्व की मूलप्रतिष्ठा माना गया है । कारण इसका यही है कि वाक् तत्व की उपनिषत् अग्नि है । अग्नि गायत्रीछन्द से छन्दित है । अग्नि में सोमाहुति होने से ही विश्व का निर्म्माण हुआ है—'अग्नीषोमात्मकं जगत्" । वाङ्मयी, किंवा अग्निमयी गायत्री के २४ अवयव हैं । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए गायत्रीतत्त्वप्रतिपादक गायत्रीछन्द में २४ अक्षर रक्खे गए हैं । इस चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री से अभिनीयमान गायत्री ही यह सब कुछ बना है, जैसाकि उपनिषच्छ्रुति कहती है—

"गायत्री वा इदं सर्वं भूतं, यदिदं किञ्च । वाग्वै गायत्री । वाग्वा इदं सर्वं भूतम् । गायति च, त्रायते च" (छां० उप० ३।११।१) ।

अग्नितत्व गायत्री है । अग्नि सदा सोमगर्भित रहता है । क्योंकि अन्नाद अग्नि अपने गर्भ में अन्नसोम को प्रतिष्ठित किए बिना एक क्षण भी स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, अतएव गायत्राग्नि को हम सोमगर्भित अग्नि कहने के लिए तय्यार हैं । फलतः गायत्री मर्य्यादा में अग्नि-सोम दोनों का समावेश सिद्ध हो जाता है । इन दोनों तत्वों से ही क्रमशः सूर्य्य-चन्द्र का विकास हुआ है । सूर्य्य अग्निप्रधान है, चन्द्रमा सोमप्रधान है । सूर्य्य ही बुद्धि बनता है, चन्द्रमा ही मन बनता है । बुद्धि ज्ञानप्रधाना है, मन कर्मप्रधान है । अतएव मनोमय प्रज्ञानात्मा को कर्त्ता कहा जाता है, एवं विज्ञानात्मा कारयिता नाम से प्रसिद्ध है । ज्ञान ही कर्म्मप्रवृत्ति का हेतु है । ज्ञान आत्मा है, कर्म्म विश्व है । आत्मा अग्निप्रधान है, विश्व सोमप्रधान है । दोनों की समष्टि 'सर्वम्' है, यही चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री है । विज्ञानगीताने इन्हीं दोनों का निरूपण करते हुए अपनी सर्वशास्त्रता सिद्ध की है । इसी सर्वभाव, किंवा पूर्णभाव को सूचित करने के लिए विज्ञानगीता में समष्टिरूप से २४ उपनिषदें रक्खीं गई हैं ।

उक्त संख्याविज्ञान यहीं समाप्त नहीं हो जाता । उपनिषदों के उपदेश, उपदेशों के अवान्तर प्रकरण अवान्तर, प्रकरणों के श्लोक, श्लोकों के वाक्य, वाक्यो के पद, पदों के अक्षर, अक्षरों के वर्ण प्रत्येक की संख्या में कुछ न कुछ मौलिक रहस्य रक्खा गया है । मूलविज्ञान भाष्य में यत्र-तत्र इस सम्बन्ध में हम हमारी ओर से तो थोड़ा बहुत प्रकाश डालेंगे ही, परन्तु पाठकों को स्वयं भी इस सम्बन्ध में अपने बुद्धियोग से काम लेना चाहिए ।

—————o—————

११- गीता प्रतिपादित विद्या एवं योगविभूति

❀ श्रीः ❀
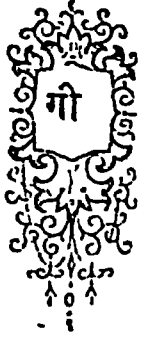
गीताशास्त्र क्लेशनिवृत्ति के लिए प्रवृत्त हुआ है। वह आत्मा को चारों क्लेशो से पृथक् कर उसे शाश्वत आनन्द में प्रतिष्ठित कर देता है। बात सुनने मे प्रिय होती हुई भी आक्षेप से नहीं बच सकती। भारतीय विद्वानोने हमारे सामने आत्मा का जैसा स्वरूप रक्खा है, उसके आधार पर तो आक्षेप और भी दृढमूल बन जाता है। नित्यानन्दघनमूर्त्ति आत्मा दुःख कैसे पाता है? सचमुच यह एक जटिल समस्या है। आत्मा स्वस्वरूप से व्यापक है, निर्धर्म्मक है, रसैकघन है। फिर इसके साथ दुःख का सम्बन्ध कैसा? उत्तर बहुत ही सरल है। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" यह छोटी सी श्रुति ही उक्त जटिल समस्या को दूर करने के लिए पर्य्याप्त है। आत्मा के प्रातिस्विक स्वरूप का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति-"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म-नेह नानास्ति किञ्चन" यह सिद्धान्त हमारे सामने रखती है। आत्मा सजातीय, विजातीय स्वगत भेद शून्य होता हुआ सर्वथा एकरस है। वह सर्वथा निर्लेप है। उस का विश्वसृष्टि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। न वह भोक्ता है, न कर्त्ता है। उस व्यापक आत्मब्रह्म में हृदय नहीं, हृदयाभाव से मन नहीं, मन के अभाव से कामना नहीं, कामना के अभाव से उससे विश्व की प्रवृत्ति सम्भव नहीं-एक सिद्धान्त।

अब वही उपनिषत् उक्त सिद्धान्त से ऐकान्तिक विरोध रखने वाले "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (यह सम्पूर्ण विश्व आत्ममय है-ब्रह्म ही यह सब कुछ बना है), ऐसे सिद्धान्त हमारे सामने रखती है। साथ हीं मे वही वेदशास्त्र आत्मा का-"यस्य यदुक्थं सत्, ब्रह्म सत्, साम स्यात् स तस्यात्मा" यह लक्षण करता हुआ आत्मा को उक्थ (प्रभवस्थान), ब्रह्म (प्रतिष्ठास्थान), साम (परायणस्थान) रूप बतलाते हुए आत्मा को ही नानाभावमूलक, किंवा नानाभावरूप विश्व का सचालक बतला रहा है।

इसीप्रकार यदि औः भी गहरा विचार किया जाता है तो आत्मस्वरूप प्रतिपादक स्वय उपनिषदो में हीं अनेक भ्रान्तिएं उपलब्ध होने की आशङ्का हो जाती है। सचमुच बाह्यदृष्टि से विचार करने पर ऐसे विरोध हमारे सामने आते हैं, परन्तु जब हम विज्ञान का आश्रय लेते

हुए अन्तर्दृष्टि से विचार में प्रवृत्त होते हैं तो सारी समस्याएं हल हो जाती हैं, विरोध स्वतःगर्भ में विलीन हो जाता है। इस विरोध का परिहार अश्वत्थात्मा के स्वरूप निरूपण द्वारा जैसा गीता-शास्त्र में हुआ है, वैसा अन्य शास्त्रों में उपलब्ध नहीं होता।

यदि आत्मा विशुद्ध रसमूर्त्ति (विशुद्ध ज्ञानमूर्त्ति) ही होता, तब तो विरोध का अवसर आसकता था। परन्तु गीताने आत्मा को उभययुक्त मानकर सारे संशय छिन्न भिन्न कर डाले हैं। आत्मा के वे ही दोनों पर्व रस-बल, आभू-अभ्व, ज्योति-वीर्य, अमृत-मृत्यु, ज्ञान-कर्म्म, ब्रह्म-माया, पुरुष-- प्रकृति, सत्--असत्, इत्यादि रूप से भिन्न भिन्न स्थलों में भिन्न भिन्न नामों से सम्बोधित हुए हैं। भाति दो हैं, परन्तु सत्ता एक है। ऐसी स्थिति में सत्ताभेदमूलक-द्वैतवाद को प्रविष्ट होने का अवसर नहीं मिलता। साथ ही में रस सर्वथा निष्क्रिय है, तो बल नित्य कुर्वद्रूप है, नानाभावापन्न है। इस बल की अपेक्षा से "ब्रह्मेदं सर्वम्" कहने में कोई विरोध नहीं आता। रसदृष्ट्या आत्मा सर्वथा निर्लेप है, बलदृष्ट्या वही आत्मा विश्वमूर्त्ति है। कुर्वद्रूप बलों के अधिष्ठाता मायाबल की कृपा से बलग्रन्थियों में तारतम्य उत्पन्न हो जाता है। इन बल-सम्बन्धों के तारतम्य से ही नानाभावरूप विश्व उत्पन्न हुआ है। रस प्रत्येक दशा में निर्लेप है, बल महामायावच्छिन्न बनकर सलेप है। रस पूर्ण है, बल शून्य है। शून्यबल पूर्णरस के अनुग्रह से पूर्णवत् प्रतीत हो रहा है, पूर्णरस शून्यबल के वेष्टन से तिरोहितप्राय बन रहा है। रस बल के इस विवेक का समझ लेना ही तो आत्मज्ञान है, यही तो मोहनाश का मुख्य कारण है, तत्कारणप्रतिपादन ही तो गीताशास्त्र का मुख्य विषय है।

अश्वत्थविद्या को मूल में रखते हुए गीताशास्त्र ने आत्मा के सम्बन्ध में तीन संस्थाओं को प्रधानता दी है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति आपके सम्मुख (वस्त्रों से सुसज्जित) खड़ा है। आप इस एक ही व्यक्ति पर तीन तरह से दृष्टि डाल सकते हैं। देवदत्त हमारे सामने खड़ा है, यह पहिली दृष्टि है। इस दृष्टि में वस्त्र एवं शरीर का पार्थक्य नहीं है, अपितु हम वस्त्रयुक्त शरीर को देवदत्त समझ रहे हैं। वस्त्रों से युक्त देवदत्त खड़ा है, यह दूसरी दृष्टि है। इस

दृष्टि में वस्त्र और शरीर का पार्थक्य हम अपनी बुद्धि में अवश्य समझ रहे हैं, परन्तु वस्त्रों को सर्वथा पृथक् नहीं कर रहे हैं। वस्त्रों से सर्वथा रहित केवल शरीर ही देवदत्त है, यह तीसरी दृष्टि है।

यही क्रम आत्मविवर्त्त के सम्बन्ध में समझिए। शरीर एवं आत्मा का पार्थक्य न कर विशिष्ट को आत्मा समझना पहिली दृष्टि है। शरीर को साथ रखते हुए आत्मा को आत्मा समझना दूसरी दृष्टि है। एवं शरीर को सर्वथा छोड़ते हुए विशुद्ध आत्मा को आत्मा समझना तीसरी दृष्टि है। यही तीनों आत्मसंस्थाएं क्रमशः शुक्रात्मसंस्था, ब्रह्मात्मसंस्था, अमृतात्मसंस्था नामों से व्यवहृत हुई हैं। शुक्रसंस्था अन्नप्रधान है, यही अन्नब्रह्म है। ब्रह्मसंस्था वीर्य्यप्रधान है, यही वीर्य्यब्रह्म है। अमृतसंस्था ज्योतिःप्रधान है, यही ज्योतिर्ब्रह्म है। वही आत्मा मायाबल की कृपा से अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है। रसापेक्षया तीनों अभिन्न हैं, बलापेक्षया तीनों भिन्न हैं। भेदसहिष्णु अभेद का यही तो मौलिक रहस्य है। इन तीनों की समष्टि ही अश्वत्थ आत्मा है। इसी अश्वत्थ का निरूपण करते हुए महर्षि कठ कहते हैं—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत्" (कठोपनिषत् ६,१)।

१—वस्त्रविरहितं शरीरम्—उत्तमा दृष्टिः—अमृतात्मसंस्था।
२—वस्त्रोपाधिकं शरीरम्—मध्यमा दृष्टिः—ब्रह्मात्मसंस्था।
३—सवस्त्रं शरीरम्—प्रथमा दृष्टिः—शुक्रात्मसंस्था।

१—शरीरविरहितः—आत्मा (अमृतम्)—ज्योतिर्ब्रह्मेत्युपास्व।
२—शरीरोपाधिकः—आत्मा (ब्रह्म)—वीर्य्यं ब्रह्मेत्युपास्व। } —अश्वत्थः
३—सशरीरः—आत्मा (शुक्रम्)—अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व।

इन्हीं तीनों आत्मसंस्थाओं को लक्ष्य में रखकर सर्वथा विरुद्ध प्रतीत होने वाले किन्तु अन्तर्दृष्ट्या सर्वथा अविरुद्ध निम्न लिखित वचन हमारे सामने आते हैं-

१-"असङ्गो ह्ययमात्मा, न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति" } इति अमृतम्

२-स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानःपाप्मभिः संसृज्यते । स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति" } इति ब्रह्म

३-आत्मा वै तनूः } .... →शुक्रम

} एतद्वैतदिदं सर्वम्

—— ० ——

प्रकारान्तर से विचार कीजिए। सर्वबलगर्भित विशुद्धरस व्यापक आत्मा है। वही माया परिग्रह से युक्त होकर नाभि (हृदय), प्रधि (परिधि) इन दो धर्म्मों से युक्त होता हुआ अशनाया (कामना) से युक्त होकर सृष्टिप्रवृत्ति का कारण बनता है। मायावच्छिन्न इस पुरुष में जबतक बलग्रन्थियों का उदय नहीं होता, तब तक तो यह अपने ज्योतिर्लक्षण रस की अपेक्षा से विशुद्ध आनन्दमूर्त्ति है। बलों की अन्तश्चिति से आनन्द ही विज्ञान रूप में परिणत हो जाता है। विज्ञान ही आगे जाकर मनोरूप धारण कर लेता है। रस एवं बल की प्रधानता अप्रधानता से इन तीनों के दो दो विवर्त्त हो जाते हैं। रसप्रधान आनन्द निरुपाधिक आत्मा की विकासभूमि है, यही शान्ति है, यही विषयशून्य आत्मानन्द किंवा शान्तानन्द है। बलप्रधान आनन्द सोपाधिक (वैषयिक) आत्मा की प्रतिष्ठा है, यही समृद्धि है, यही सविषयक विश्वानन्द किंवा समृद्धानन्द है। शान्ति में नित्यता है, समृद्धि में क्षोभ है। शान्ति नित्यानन्द है, समृद्धि क्षणिकानन्द है। इस प्रकार आनन्दात्मा के दो विवर्त्त हो जाते हैं।

दूसरा है विज्ञानात्मा। यही प्रकृतिसंस्था में प्रतिष्ठित वाङ्मयी बुद्धि से संश्लिष्ट होकर बुद्धि नाम से भी व्यवहृत होने लगता है, जैसा कि आगे के प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। बुद्धियुक्त (किंवा बुद्धिरूप ही) यह विज्ञानात्मा भग-मोह नाम की दो विभूतियों से युक्त हो जाता है। भग उग्रज्योति है, यह रसप्रधान है। मोह मलिनज्योति है, यह

बलप्रधान है। रसप्रधान अतएव उग्रज्योतिर्म्मय विज्ञान नित्य विज्ञान है, आत्मविज्ञान है। इस के उदय से आत्मा में स्वरूपलक्षणभूत मुक्तिहेतुभूत नित्य शान्तानन्द का उदय होता है। बल-प्रधान, अतएव मलिनज्योतिर्म्मय वही विज्ञान क्षणिक विज्ञान है, विश्वविज्ञान है। इस की उपासना से आत्मा में स्वरूपधर्म्मविघातलक्षण बन्धनहेतुभूत क्षणिक समृद्धानन्द का उदय होता है। इस प्रकार आत्मविज्ञान भी रस बल के तारतम्य से दो भागों मे विभक्त हो जाता है।

तीसरा आत्मविवर्त्त मनोमय है। जिसप्रकार विज्ञान का वाक्प्रकृतिक बुद्धि के साथ सम्बन्ध रहता है, एवमेव इस आत्ममन का अन्नप्रकृतिक प्रज्ञान (सर्वेन्द्रियमन) के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी आधार पर हम इस आत्ममन को प्रज्ञान शब्द से भी व्यवहृत कर सकते हैं। इस आत्ममन के, किंवा तदवच्छिन्न प्रज्ञान मन के अन्तः-बहिः रूप से दो भेद हो जाते हैं। रस-प्रधान वही मन अन्तर्मन है। यह आत्मा के रसप्रधान नित्यानन्द, एवं रसप्रधान भगलक्षण नित्यविज्ञान का उपकारक है। बलप्रधान वही मन वहिर्मन है। इससे आत्मा के बलप्रधान क्षणिकानन्द, एवं मोहलक्षण क्षणिक विज्ञान का उदय होता है।

निष्कर्ष यही हुआ कि रस पर बल की चिति होने से एक ही रसघन आत्मा के आनन्द-विज्ञान-मन यह तीन विवर्त्त हो जाते है। यद्यपि इन तीनों में आनन्द रसप्रधान है, विज्ञान रस-बल की साम्यावस्था है, मन बलप्रधान है। इनमे भी शान्तानन्द रसप्रधान है, समृद्धानन्द बलप्रधान है। नित्यविज्ञान रसप्रधान है, क्षणिकविज्ञान बलप्रधान है। अन्तर्मन रसप्रधान है, वहिर्मन बलप्रधान है। तथापि आगे के आत्मविवर्त्त की अपेक्षा चूंकि आनन्द-विज्ञान-मन में रस की ही प्रधानता रहती है, अतः हम इन तीनो की समष्टि को रसात्मा किंवा ज्ञानात्मा ही कहेंगे। अन्तर्मन का इस ज्ञानात्मा में ही अन्तर्भाव है। एव वहिर्मन आगे के आत्मविवर्त्त मे अन्तर्भूत माना जाता है।

वहिर्म्मन ज्ञानात्मा की अपेक्षा बलप्रधान है। इसी मन से काम (सृष्टिकाम) का उदय होता है। यही मन रूपों का प्रवर्त्तक है। इस पर बल की चिति और होती है। इस चिति से मन प्राण रूप में परिणत हो जाता है। तप एवं कर्म्म की आधारभूमि यही मन है। और

बल की चिति होती है। वही प्राण इस बलचिति से वाक्रूप में परिणत हो जाता है। अप एवं नाम की प्रतिष्ठा यही वाक्तत्व है। इस प्रकार रस बल के तारतम्य से वह वहिर्मन मनः-प्राण-वाक् रूप में परिणत हो जाता है। इन तीनों में मन रसप्रधान है, प्राण रसबल की साम्यावस्था है, वाक् बलप्रधाना है। मन में ज्ञानज्योति का उदय है, अतएव हम इसे ज्योति कह सकते हैं। प्राण में क्रियाभाव का उदय है, अतएव हम इसे वीर्य्य कह सकते है। एव वाक् में अर्थभाव का उदय है, अतएव हम इसे अन्न कह सकते हैं। इसप्रकार यद्यपि मनः-प्राण-वाङ्मय यह दूसरा आत्मविवर्त्त पहिले के आनन्दविज्ञानमनोमय ज्ञानात्मा की अपेक्षा से बलप्रधान है, इन तीनों में भी रस-बल के तारतम्य से मन रसप्रधान होता हुआ ज्ञानमूर्त्ति है, प्राण रसबल की समता से क्रियामूर्त्ति है, वाक् बल की प्रधानता से अर्थमयी है, तथापि आगे के आत्मविवर्त्त की अपेक्षा से हम इस मध्यपतित आत्मविवर्त्त को उस ओर के रसानुग्रह से, इस ओर के बलानुग्रह से साम्यरूप कामात्मा ही कहेगे। यही कामात्मा सृष्टिसाक्षी आत्मा कहलाता है। पहिला ज्ञानात्मा मुक्तिसाक्षी आत्मा है।

सृष्टिसाक्षी आत्मा के वाक्भाग के दो रूप हैं। विशुद्धरूपा वाक् तो कामात्मा में ही अन्तर्भूत है। विकारयुक्ता वही वाक् सृष्टिरूप में अन्तर्भूत मानी जाती है। इस वैकारिक वाक् पर बलों की चिति होती है। फलतः इस चिति से वही वाक् अप् रूप में परिणत हो जाती है। और बलचिति होती है, वही अप् अग्निरूप में परिणत हो जाती है। विद्युत एवं ज्योति का वाक् से सम्बन्ध है। वायु (शिववायु-शान्तवायु) एवं सोम का आपः से सम्बन्ध है। वायु (रुद्रवायु-उग्रवायु) एवं आदित्य का अग्नि से सम्बन्ध है। इन तीनों में वाक् रसप्रधान है, आपः रसबल की साम्यावस्था है, अग्नि बलप्रधान है। परन्तु उक्त कामात्मा की अपेक्षा से तीनों की समष्टिरूप यह सृष्टि बलप्रधाना हो समझनी चाहिए। यही तीसरा बलप्रधान कर्म्मात्मा है।

उक्त निदर्शन से पाठकों को विदित हुआ होगा कि एकमात्र बलग्रन्थियों की कृपा से यही विशुद्ध आत्मा त्रिवृद्भावापन्न (६ कल) होता हुआ ज्ञानात्मा-कामात्मा-कर्म्मात्मा भेद से तीन संस्थाओं में विभक्त हो जाता है। रसदृष्ट्या तीनों एक हैं, बलदृष्ट्या तीनों भिन्न हैं। ज्ञानात्मा ही अमृतात्मा है, कामात्मा ही ब्रह्मात्मा है, कर्म्मात्मा ही शुक्रात्मा है। वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है। "आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं,त्रय सदेकमयमात्मा" (शत. १४।४।४।) यह श्रौत सिद्धान्त उक्त रहस्य का ही स्पष्टीकरण करता है

आत्मविवर्त्तपरिलेखः

१	सत्वमूर्त्तिर्ज्ञानात्मा रसप्रधानो मुक्तिसाक्षी-'अमृतम्'	१ २	नित्यानन्दः (रसप्रधान) क्षणिकानन्दः (वलप्रधान)	१ ॐ आनन्द आत्मानन्द ॐ (रसप्रधान)	१-शान्ति -निरुपाधिकात्मविकासम् २-समृद्धि -वैषयिकात्मविकासम्.
		१ २	नित्यविज्ञानम् (रसप्रधानम्) क्षणिकविज्ञान (वलप्रधानम्)	२ ॐ विज्ञानम-बुद्धि ॐ (रसवलयोः साम्यावस्था)	१-भग --उग्रज्योति २-मोह -मलिनज्योति
		१ २	अन्तर्मनः (रसप्रधानम् × + × × + × × ×	३ ॐ मन -प्रज्ञानम् ॐ (वलप्राधान्यम)	१- स्माद -शुद्धसत्वगुणविकासम. २-+ × + + + × + × ×
२	त्रिगुणमूर्त्तिः कामात्मोमयप्रधान सृष्टि- साक्षी 'ब्रह्म' ॐ	१ २	× × × + वहिर्मनः रसप्रधानम्	१ ॐ मनः-ज्योति',काम रूपं (रसप्रधानम)	१-+ × —————— २-कामः-मलिनसत्वगुणविकासम
		१	———	२ ॐ प्राणः-वीर्य, तप , कर्म्म	१-विक्षेप -रजोगुणविकासम्
		१ २	विशुद्धावाक् (वलप्रधाना) + × ——	३ ॐ वाक्-अन्न श्रम. नाम (वलप्राधान्यम)	१-आवरणम-तमोगुणविकासम् २-——————
३	तमोमूर्त्तिः कर्म्मात्मा वलप्रधानः-सृष्टिः 'शुक्रम' ॐ	१ २	—————— वैकारिकीवाक्	१ ॐ वाक्-वाक्, विद्युत्, ज्योतिः (रसोद्रेकः):	सर्वधर्म्मोपपन्नः— आत्मा —०— "ब्रह्मेवेदं सर्वम्"
		१	÷ ———	२ ॐ आपः-आपः, वायुः (शिवः) सोमः (उभयोद्रेकः)	
		१	· ———	३ ॐ अग्निः-अग्निः वायुः(रुद्रः) आदित्यः (वलोद्रेकः)	

उक्त आत्मविवर्त्त का प्रकारान्तर से निरीक्षण कीजिए। अव्यय, अक्षर, क्षर, की समष्टि अमृतात्मा, है। प्राण,–आप–वाक्–अन्न–अन्नाद इन पांच विकारक्षरों की समष्टि ब्रह्मात्मा है। वाक्–आप–अग्नि इन तीन वैकारिकक्षरों की समष्टि शुक्रात्मा है। पूर्वप्रदर्शित अमृतात्मसंस्था के आनन्द भाग के साथ अव्यय का, विज्ञान के साथ अक्षर का, एवं मन के साथ क्षर का सम्बन्ध है। मन–प्राण–वाङ्मयी ब्रह्मात्मसंस्था के मनोभाग से प्राण आप का, प्राण भाग के साथ वाक् का, वाक् भाग के साथ अन्न अन्नाद का सम्बन्ध है। तीसरी संस्था के साथ समानता है, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

१—आनन्दः—अव्ययप्रधानः
२—विज्ञानम्—अक्षरप्रधानम्
३—मनः——आत्मक्षरप्रधानम्
} ॥ अमृतात्मा–ज्ञानात्मा (ज्ञानम्)॥

१—मनः—प्राणः–आपः
२—प्राणः—वाक्
३—वाक्—अन्नं-अन्नादः
} ॥ ब्रह्मात्मा–कामात्मा (क्रिया)॥

१—वाक—वाक्
२—आपः—आपः
३—अग्निः–अग्निः
} ॥ शुक्रात्मा–कर्म्मात्मा (अर्थः)

इसी स्थिति को अव्यय–अक्षर–क्षर–इन तीन विभागों में भी विभक्त किया जासकता है। पहिला विभाग अव्यय प्रधान है, दूसरा विभाग अक्षर प्रधान है, एवं तीसरा विभाग क्षर प्रधान है। अव्यय ज्ञानमूर्त्ति है, रसमूर्त्ति है। अक्षर उभयमूर्त्ति है, रसबलमूर्त्ति है। क्षर अर्थ–मूर्त्ति है, बलमूर्त्ति है। अमृतात्मसंस्था का अव्यय अपनी अमृतसंस्था का आलम्बन है, अक्षर ब्रह्मसंस्था का संचालक है, क्षर शुक्रसंस्था का प्रभव है। इस प्रकार निम्न लिखित रूप से भी उक्त तीनों संस्थाओं के दर्शन किए जासकते हैं।

१—आनन्दः
२—विज्ञानम्
३—मनः

}—अव्ययप्रधानसंस्था (ज्ञानात्मा अव्ययः)-अमृतम्*

१—मनः
२—प्राणः
३—वाक्

}—अक्षरप्रधानसंस्था (कामात्मा अक्षरः)-ब्रह्म २

१—वाक्
२—आपः
३—अग्निः

}—क्षरप्रधानसंस्था (कर्म्मात्मा क्षरः)-शुक्रम् ३

---

* प्रसंगागत यह भी जान लेना चाहिए कि अव्यय के, साथ ब्रह्माक्षर का सम्वन्ध है, अक्षर के साथ विष्णु का सम्वन्ध है। एवं क्षर के साथ इन्द्राग्निसोममूर्त्ति शिव का सम्वन्ध है। ज्ञानमय ब्रह्मा चिद्पति है, क्रियामय विष्णु देवपति है, एवं अर्थमय शिव भूतपति है। अध्यात्मसंस्था में ब्रह्म शिरोगुहा मे प्रतिष्ठित रहते हैं, यही ज्ञातन्त्र है। विष्णु हृदय में प्रतिष्ठित रहते हैं, यही क्रियातन्त्र है। शिव मूलग्रन्थि में प्रतिष्ठित रहते हैं, यही अर्थतन्त्र है। सुषुम्णाद्वारा ब्रह्मरन्ध्र मे प्रतिष्ठितब्रह्मा शिव के साथ ग्रन्थिबन्धन करते हैं। इसी लिए मूलस्थान "ब्रह्मग्रन्थि" नाम से व्यवहृत होता है। इस स्थान पर आके ज्ञानपति ब्रह्मा भूतों के संचालक बनते हुए सृष्टिकर्तृत्वभाव से युक्त हो जाते हैं। इसी प्रकार सुषुम्णा द्वारा मूलरन्ध्रस्थ अर्थपति शिव ब्रह्मरन्ध्ररूप स्वच्छाकाश मे विहार करते रहते हैं। इस स्थान पर आके भूतपति शिव ज्ञान के संचालक बनते हुए ज्ञानमूर्ति कहलाने लगते हैं—"ज्ञानमिच्छेन्महेश्वरात्"। इन दोनों का हृदय में यजन होता है। यजन ही यज्ञ है, यज्ञ ही विष्णु है, यही वामन भगवान् "मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते" के अनुसार ही जगत के पालक हैं। संध्याविज्ञान के अनुसार ललाटप्रदेश शिवस्थान माना गया है,। हृदय प्रदेश ब्रह्मस्थान माना गया है, एवं नाभिप्रदेश विष्णुस्थान माना गया है, जैसा कि सन्ध्याविज्ञान नामक ग्रन्थ में विस्तार से निरूपित है।

प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है कि उक्थ--ब्रह्म--सामभावमय तत्व को ही आत्मा कहा जाता है। इस लक्षण के अनुसार अक्षर का उक्थ--ब्रह्म--सामरूप अव्यय भी आत्मा कहा जासकता है। क्षर का उक्थ-ब्रह्म-सामरूप अक्षर भी आत्मा कहा जा सकता है। विकारक्षरसंघ का उक्थ ब्रह्म-सामरूप आत्मक्षर भी आत्मा कहा जा सकता है। विकार संघरूप विश्व का उक्थ--ब्रह्म-सामरूप विकारक्षर भी आत्मा कहा जा सकता है। अस्मदादि सत्वों (प्राणियों) का उक्थ--ब्रह्म--सामरूप विश्व भी आत्मा कहा जा सकता है। इस प्रकार अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, विकारक्षर, विश्व इन पांचों संस्थाओं को ही हम आत्मा शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं।

इन में से-"आत्मा सर्वथा निर्लेप है, निष्क्रिय है, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म है, मस्तस्ताशेषभेदरूप है" यह अक्षर अव्ययदृष्टि से कहे जाते हैं। "आत्मा निर्लेप है, किन्तु विश्वसाक्षी विश्वकर्त्ता है, यह अक्षर अक्षरदृष्टि से कहे जा सकते हैं। "आत्मा ही विश्व का आरम्भक (उपादान) है" यह अक्षर आत्मक्षरदृष्टि से कहे जाते हैं। "आत्मा विश्व का उक्थ-ब्रह्म-साम (प्रथम-प्रतिष्ठा-परायण) है" यह अक्षर विकारक्षरदृष्टि से कहे जाते हैं। "आत्मा ही विश्व है" यह अक्षर विकारसंघदृष्टि से कहे जाते हैं। इस प्रकार पांचों व्यवहार उपपन्न हो जाते हैं। किसी में विरोध का अवसर नहीं है। इन पांचो संस्थाओं में से अव्यय-अक्षर-क्षर की समष्टि अमृतात्मा है, विकारक्षर की समष्टि ब्रह्मात्मा है, वैकारिक क्षर-समष्टि शुक्रात्मा है। हमरा आत्मा विश्व है शुक्ररूप विश्व का आत्मा विकारक्षर है। विकार-रूप ब्रह्म (पञ्चप्रकृति) का आत्मा अव्ययक्षराक्षरमूर्त्ति षोडशी है -"एतदात्म्यमिदं सर्वम्"।

१—"आत्मा सर्वथा निर्लेपः, निष्क्रियः, एकमेवाद्वितीय ब्रह्म"—	इति अव्ययदृष्टिः	१ अमृतात्मा
२—"आत्मा निर्लेपः किन्तु विश्वसाक्षी, विश्वकर्त्ता"—	इति अक्षरदृष्टिः	
३—"आत्मैव विश्वारम्भकः (उपादानकारणम्)"—	इति आत्मक्षरदृष्टिः	
४—"आत्मैव विश्वस्योक्थं-ब्रह्म-साम"—	इति विकारक्षरदृष्टिः	२ ब्रह्मात्मा

५—"आत्मैव विश्वम्" — वकारिकान्तरदृष्टिः } ३ शुक्रात्मा

—:o:—

अब हमारे सामने प्रश्न उपस्थित यह है कि गीता ने उक्त आत्मसंस्थाओं में से किस आत्मा का निरूपण किया है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम यही कहेंगे कि प्रधानरूप से **अव्ययात्मा** को लक्ष्य बनाते हुए गीताने आत्मा की सभी संस्थाओं का विस्पष्ट, एवं सर्वथा निःसंदिग्ध निरूपण किया है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि गीताने आत्मसम्बन्धी किसी प्रश्न को नहीं छोड़ा है। इसी लिए तो हमने गीता को सब शास्त्रों की अपेक्षा अपूर्व, विलक्षण, एवं पूर्ण कहा है।

पाठकों को स्मरण होगा कि पूर्व के माया-कलादि परिग्रहों के सम्बन्ध में हमने आत्मस्वरूप पर प्रकाश डाला था। हम समझते हैं कि कितने ही विषयों में हम पुनरुक्ति कर रहे हैं। फिर भी विषय की जटिलता के कारण हमें विवश होकर पुनरुक्ति का आश्रय लेना पड़ता है। अस्तु आत्मविचार के सम्बन्ध में **निर्धर्म्मक, सर्वधर्म्मोपपन्न** भेद से पहिले दो आत्मविवर्त्तों को अपने सामने रखिए। इन दोनों में पहिला तत्त्व तो वस्तुतः आत्मशब्द से सम्बोधित नहीं होना चाहिए, क्योंकि "आत्मा" शब्द शरीर, किंवा परिग्रहसापेक्ष है। **"आत्मा"** यह सुनते ही **"किस का आत्मा"**? यह जिज्ञासा होती है। "किसका"? यह भाव सीमाभाव से सम्बन्ध रखता है। उधर विशुद्ध रसरूप, अतएव सर्वथा निर्गुण, अतएव निर्विशेष, निधर्म्मक तत्त्व मायादि परिग्रहों से सर्वथा वहिष्कृत होता हुआ सीमाभावशून्य है। इसी असीमता के कारण यह निर्धर्म्मक तत्त्व शास्त्रानधिकृत है, अवाङ्मनसगोचर है, नेति नेति शब्द से निर्धीत है। इस की चर्चा कौन कर सकता है। इस को तो न जानना ही इस का जानना है—**"यस्यामतं तस्य मतम्"**।

धर्म्म शब्द से बलतत्त्व ही अभिप्रेत है। इस बलतत्त्व का सम्बन्ध आत्मा के साथ दो तरह से होसकता है। सम्पूर्ण बल आत्मा में रहें, परन्तु उन बलों का उस रसरूप आत्मा के साथ

कोई लेप न हो, यह एक स्थिति है। एवं कुछ एक बल अन्तर्य्याम सम्बन्ध से आत्मा के साथ बद्ध हो जॉय, यह एक स्थिति है। बलों के इन दो सम्बन्धों के कारण **सर्वधर्म्मोपपन्न** नामक दूसरे आत्मविवर्त्त के–**सर्वधर्म्मविशिष्ट**, **सर्वधर्म्मयोग्य** यह दो अवान्तर भेद हो जाते हैं। इन दोनों में सर्वधर्म्मविशिष्ट आत्मा भी निर्विशेषवत् व्यापक ही है। बल संसग अवश्य हैं। परन्तु विना ग्रन्थिबन्धन के रहता हुआ भी बल उस रस रूप असग आत्मा पर किसी प्रकार का लेप नहीं कर सकता। उस व्यापक रससमुद्र में अनन्त बल तरङ्गवत् उच्चावचभाव से इतस्ततः दंद्रम्यमाण होते रहते हैं। परन्तु वह आपूर्यमाण, अचल समुद्रवत् सर्वथा शान्त रहता है। इस प्रकार इस सर्वबलरूप सर्वधर्म्म दशा में भी आत्मा अपने प्रातिस्विकरूप से सर्वथा निर्धर्म्मक ही रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् व्यासने **"सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च"** (वे० द० २।१।३७) यह कहा है। चकार से निर्धर्म्मक की ओर ही लक्ष्य दिया गया है। **'न त्वहं तेषु ते मयि"** के अनुसार बल इसके गर्भ में रहते हुए परतन्त्र अवश्य हैं, परन्तु इन सब बलों को अपने गर्भ में रखने वाला वह रसतत्व अपनी व्यापकता से कैसे परतन्त्र हो सकता है।

उक्त सिद्धान्त के अनुसार सर्वधर्म्मदशा में भी हम सर्वबलविशिष्टरसरूप इस व्यापक आत्मा को निधर्म्मक, एवं निर्लेप ही मानेंगे। जिस प्रकार विशुद्ध रसमूर्त्ति निर्विशेष व्यापकता के कारण अवाङ्मनसगोचर होता हुआ शास्त्रानधिकृत था, एवमेव सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति, कहने भर के लिए सर्वधर्म्मविशिष्ट, परन्तु परमार्थतः निर्धर्म्मक यह परात्पर, अभय, आत्मा भी असीमतया अवाङ्मनसगोचर होता शास्त्रानधिकृत ही है। इस प्रकार **निर्धर्म्मक**, सर्वधर्म्मोपपन्न के **सर्वधर्म्मविशिष्ट**, एवं **सर्वधर्म्मयोग्य** इन तीन विवर्त्तों में से निर्धर्म्मक (निर्विशेष), एवं **सर्वधर्म्मविशिष्ट** इन दो का तो विचार ही सर्वथा छोड़ देना चाहिए। कारण पूर्व की **शास्त्रनिरुक्ति** में यह बतलाया जाचुका है कि शास्त्र या तो कोई आज्ञा देता है, अथवा किसी का निषेध करता है। यह करो, यह मत करो, इस रास्ते से मत जाओ, इस रास्ते से जाओ, इस प्रकार से विधि–निषेध करना ही शास्त्र का शास्त्रत्व है। एतल्लक्षण शास्त्र व्यापक, अतएव

अन्यावृत्तरूप निर्विशेष, एवं परात्पर के सम्बन्ध में तटस्थ ही रहता है। वह सब में है, सब उसी में है। फिर उस के सम्बन्ध में किसका विधान किया जाय, एवं किसका निषेध किया जाय।

अब शास्त्राविकृत, अतएव मीमांस्य बच जाता है, एक मात्र **सर्वधर्म्मोपपन्न आत्मा**। धर्म का ही नाम परिग्रह है। यह धर्म्मतत्व स्वरूप, एवं आश्रित भेद से दो भागों में विभक्त है, जैसा कि द्वितीय खण्ड के धर्म्म भेद प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा। स्वरूपधर्म्मयोग्य वही आत्मा **"षोडशीपुरुष"** कहलाता है। आश्रितधर्म्मयोग्य वही आत्मा **"प्रजापति"** कहलाता है। प्राणादि पञ्च प्रकृति, एवं वागादि तीन शुक्रों की समष्टि ही प्रजापति है, एवं एतद्विशिष्ट षोडशी ही **"सर्वभू"** है। परिग्रहों की कृपा से ही योगमायावच्छिन्न बनता हुआ वही व्यापक आत्मा अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होकर द्वैतलक्षण, एवं सगुण सविकार सावरण साञ्जन बनता हुआ **सविशेष** नामसे व्यवहृत होता हुआ **"जीव"** नाम से सम्बोधित होने लगता है। यह जीवात्मा पाप्माओं की कृपा से ज्योतिरूप आनन्दस्वरूप से आवृत होता हुआ दुःख पाया करता है।

यह विश्वास रखिए कि विश्वव्यापक आत्मा पर विश्व सीमा में रहने वाले दुःख मूलक दोष कोई आक्रमण नहीं कर सकते। यह भी विश्वास रखिए कि हम (जीव) उसी के अंश है, वहीं हैं, फलतः हमें भी दोषमूलक दुखों से पृथक् ही रहना चाहिए था। परन्तु होता क्या है, सुनिए।

*त्रैलोक्य में सौरप्रकाश व्याप्त है। यही सौरज्योति अध्यात्मसंस्था में अंशरूप से प्रविष्ट होकर चक्षुरिन्द्रिय की स्वरूपसमर्पिका बनती है। सूर्य्य अंशी है, चक्षु अंश है। परन्तु चक्षु-गोलकरूप योगमाया के आवरण से सूर्य्यरूपा चक्षुज्योति अपने त्रैलोक्य व्यापक सौरज्योतिस्व-रूप को भूल रही है। इसका परिणाम यह होता है कि जब सूर्य्य और चक्षु के मध्य में मेघ-खण्ड आजाते हैं तो हम भ्रान्तिवश यह कहने लगते हैं कि–**"मेघो नें सूर्य्य को ढक लिया"**। चक्षु द्रष्टा है, सूर्य दर्शयिता है। मध्य में सूर्य्य का आवरण है। यह आवरण सौरप्रकाश की*

अपेक्षा मन्द—मन्दतर—मन्दतम है । वृष्टिविज्ञान के अनुसार बड़े से बड़ा मेघखण्ड १२ क्रोशपर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखता है । उधर सूर्य्यप्रकाश त्रैलोक्य में व्याप्त है । भला ऐसे व्यापक सौर प्रकाश को साधारण मेघखण्ड कैसे आवृत कर सकता है । चक्षु से तदवच्छिन्न सौर ज्योति आवृत होरही है । इसीलिए हम उस व्यापक प्रकाश से वञ्चित होते हुए तमोरूप दुःख के अधिकारी बन रहे हैं ।

ठीक यही दशा आत्मज्योति के सम्बन्ध में समझिए । महामायावच्छिन्न आत्मा विश्वव्यापक है । हम उसी के अंश है । वह दर्शयिता है, हम द्रष्टा हैं । दोनो के मध्य में योगमायारूप आवरण आ रहा है । इस आवरण से हम सूर्य्यस्थानीय व्यापक आत्मा को आवृत समझने लगते हैं । वस्तुतः यह आवरण हमारे भूतात्मा के साथ सम्बद्ध है । इस रहस्य को न जानने के कारण लोक में जैसे—"सूर्यो मेघेनावृतः" (सूर्य्य को बदलोंने ढंक लिया) यह मिथ्या व्यवहार प्रचलित है, एवमेव आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण—आत्मा दोषेणावृतः" (आत्मा को दोषोंनें ढंक लिया) यह मिथ्या व्यवहार हो रहा है । "चक्षुर्दोषादुलूकोऽयं सूर्यज्योतिर्नपश्यति" यह प्रसिद्ध ही है । वह नित्यानन्दमूर्त्ति है तो हम भी नित्यानन्दमूर्त्ति ही है । उसके और हमारे बीच में जो मायारूप किंवा परिग्रहरूप आवरण आगए है, उन्होंने हीं हमें उससे वञ्चित करते हुए दुःखा बना रक्खा है । दुःखमूलक, किंवा दुःखोदय के हेतुभूत अविद्यालक्षण इन महादोषो के शासन का उपाय बतलाना ही गीताशास्त्र का मुख्य विषय है । वह आत्मा सर्वधर्म्मोपपन्न ही है । यही गीता का प्रधान आत्मा है ।

१.-निर्धर्म्मकः, अलक्षणः, निर्गुणः निर्विशेषः-विशुद्धरसमूर्त्तिः सर्वातीतः } -शास्त्रानधिकृतौ
२-सर्वधर्म्मविशिष्टः, विलक्षणः, सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्तिः—विश्वातीतः }

३-सर्वधर्म्मयोग्यः—द्वैतलक्षणः—महामायावच्छिन्नः—विश्वात्मा } -शास्त्राधिकृतः

---

(३)–१–सर्वधर्म्मयोग्यः

१—अव्ययान्तरात्मन्तरक्तमूर्त्तिर्महामायी–विश्वात्मा (अमृतम्)–ज्ञानात्मा
२—पञ्चप्रकृतिविशिष्टो योगमायी———–विश्वकर्त्ता (ब्रह्म)—कामात्मा
३—शुक्रत्रयविशिष्टो योगमायी———–विश्वारम्भकः (शुक्रम्)—कर्म्मात्मा
४—योगमायावच्छिन्नोऽशात्मको जीवः—कर्म्मात्मा (समष्टिः)—समष्टिः

शास्त्रोपदेश, किंवा गीतोपदेश हमारे (जीवात्मा के) उपकार के लिए प्रवृत्त हुआ है। अतः जीवात्मा ही हमारा मुख्य लक्ष्य होना चाहिए। अध्यात्मसंस्था (जीवसंस्था) के स्वरूपज्ञान के लिए हमें आत्मा के चिदात्मा, चिदंश, चिदाभास इन तीन स्वरूपों पर दृष्टि डालनी पड़ेगी। इन तीनों के यथार्थपरिज्ञान के लिए ज्ञान–क्रिया–अर्थघन सूर्य्य देव को अपने सामने रखिए। सूर्य्यभगवान् स्वज्योति से त्रैलोक्य में व्याप्त हैं। कहीं भी सूर्य्य का अभाव नहीं है। त्रैलोक्य व्यापक वही सूर्य्य सर्वत्र रहता हुआ भी प्रतिविम्ब रूप से वहीं विकसित होता है, जहां कि दर्पण, स्फटिकमणि, पानी आदि सूर्य्यप्रतिविम्बग्राहक पदार्थ विद्यमान रहते हैं। इन ग्राहक पदार्थों में सूर्य्य का दो तरह से सम्बन्ध होता है। पदार्थ के क्षेत्रायतन के अनुसार सूर्य्य प्रतिविम्ब रूप से पदार्थों में प्रतिष्ठित हो जाता है। प्रतिविम्ब के अतिरिक्त आतप (धूप-प्रकाश) रूप से भी इन पदार्थों के साथ सूर्य्य का सम्बन्ध होता है। प्रतिविम्बित सूर्य्य अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है, आतपात्मक सूर्य्य वहिर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार एक ही सौरतत्व व्यापक सूर्य्य, पदार्थ के साथ असंग रूप से (व्योमवत्) सम्बद्ध आतपरूप सूर्य्य, पदार्थ के साथ कहने भर को ससङ्गरूप से सम्बद्ध, प्रतिविम्बित सूर्य्य भेद से तीन स्वरूप धारण कर लेता है। ठीक यही स्थिति आत्मा के सम्बन्ध में समझिए।

"यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः" इस गीता सिद्धान्त के अनुसार सप्तलोकात्मक भूः भूः स्वः रूप महाव्याहृतियों से अवच्छिन्न महाविश्व में ईश्वर नाम से प्रसिद्ध सूर्य्य–स्थानीय षोडशी प्रजापति समान रूप से व्याप्त हो रहा है। यही पहिला सर्वव्यापक, किंवा

विश्वव्यापक चिदात्मा है। सर्वत्र व्याप्त रहता हुआ भी यह चिदात्मा वहीं प्रकट होता है, जहा कि अप्–वायु–सोम रूप चिद्ग्राहक पदार्थ विद्यमान रहते हैं। यह तीन हीं तत्व चिद्ग्राहक हैं। अतएव जीवसृष्टि आप्य, वायव्य, सौम्य भेद से तीन हीं भागों में विभक्त देखी जाती है। इन तीनों पदार्थों में चिदात्मा ज्योतिरूप से भी प्रतिष्ठित होता है, एवं प्रतिबिम्बरूप से भी प्रतिष्ठित होता है। ज्योतिर्मय चिदात्मा असंग है, व्योमवत् निर्लेप है। प्रतिबिम्बित चिदात्मा ससंग है, सलेप है। यही दोनों क्रमशः चिदंश, एवं चिदाभास नामों से व्यवहृत होते हैं।

अथवा प्रकारान्तर से यों समझिए कि विश्वव्यापक आत्मा चिदात्मा है। एवं शरीर परिच्छिन्न वही आत्मा चिदंश है। इसी के अन्तर्याम, बहिर्याम सम्बन्ध भेद से दो भेद हो-जाते हैं। अन्तर्याम सम्बन्धावच्छिन्न चिदंश शारीरक आत्मा, है, यही चिदाभास है। बहिर्यामावच्छिन्न चिदंश प्रत्यगात्मा है, यही चिदंश है। यह दोनो एक ही स्थान पर (हृदय) प्रतिष्ठित हैं। एक ही स्थान में प्रतिष्ठित आतपरूप प्रत्यगात्मा केवल साक्षी है, प्रतिबिम्बरूप शारीरक आत्मा भोक्ता है। साक्षी भाग शरीरसंस्था में प्रतिष्ठित ईश्वर है। इसी के लिए–"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति" यह कहा गया है। इसी शारीरक ईश्वर तत्व का स्वरूप बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

> उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
> परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (गीता १३ । २२ ।)

भोक्ता भाग जीव है। इसी के लिए भगवान् मनुने कहा है-

> जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
> येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥ (मनुः १२।१३)।

वेद संहिताने चिदंशरूप साक्षी परमात्मा को "साक्षीसुपर्ण" नाम से, एवं चिदंशरूप भोक्ता जीवात्मा को "भोक्तासुपर्ण" नाम से सम्बोधित किया है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट हो जाता है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥ (ऋक् १।१६४।२०)

दोनों सुपर्ण एक ही (अश्वत्थ) वृक्ष पर बैठे हुए हैं । दोनों अभिन्न, एवं जोड़ले मित्र हैं । दोनों का स्वरूप एक साथ, एक ही काल में प्रादुर्भूत हुआ है। परन्तु आश्चर्य है कि दोनों में से एक तो संसारफल का भोग कर रहा है, एवं दूसरा बिना कुछ खाए पीए उस खाने पीने वाले की चौकसी कर रहा है । प्रत्यगात्मा से संश्लिष्ट शारीरक आत्मा जबतक इन्द्रियों के सम्बन्ध मे विषयों का अनुगामी बना रहता है, तब तक इसे अपने उस निर्लेप हृदयस्थ प्रत्यगात्मा का स्वरूप ज्ञान नहीं होता । यदि शारीरकात्मा इन्द्रियारामता का परित्याग कर अपने विज्ञानचक्षु को विषयों से हटाकर अन्तर्हृदय की ओर ले आता है तो इस विज्ञानचक्षु के प्रभाव से इस धीर शारीरक आत्मा को उस ईश्वरस्वरूप हृदयस्थ प्रत्यगात्मा के दर्शन हो जाते हैं । यही इस जीवात्मा की दुःखात्यन्तनिवृत्ति है । इसी स्थिति का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ (कठ २।१।१।)

प्रत्यगात्मा को हमने ज्योति (आतप), एवं शारीरक आत्मा को प्रतिबिम्बरूप बतलाया है । ज्योति ही "रुक्म" नाम से प्रसिद्ध है । यही आत्मतेज, आत्मप्रकाश, किंवा आत्मवीर्य है, जैसा कि—"प्रजापतिस्तेजो वीर्य्यं रुक्मः" (शत० ६।७।१।१६) इत्यादि प्रमाण से स्पष्ट है । यह रुक्म शरीर परिच्छिन्न होता हुआ भी अपने असंगभाव के कारण उस ज्योतिर्घन चिदात्मा की तरह व्यापक ही है । रुक्मरूप, किंवा ज्योतिरूप प्रत्यगात्मा के इसी व्यापक स्वरूप का अभिनय करने के लिए श्रुतिने "रुक्मो वै समुद्रः" (शत० ७।४।२।५) इत्यादिरूप से इसेसमुद्र नाम से सम्बोधित किया है । जब प्रतिबिम्बरूप जीवात्मा रुक्मरूप, किंवा रुक्मवर्ण अपने इस प्रत्यगात्मस्वरूप को पहिचान लेता है, तो दुःखों से एकान्ततः विमुक्त हो जाता है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ।।१।।
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।।२।।
(मुण्डक. ३।१।२–३) ।

"जिस अश्वत्थ वृक्ष पर ईश्वर प्रतिष्ठित है, उसी पर, उसी स्थान में यह पुरुष (जीव) प्रतिष्ठित है । अन्तर दोनों में केवल यही है कि वह जहा नित्य जागृत है, वहां यह मोहनिद्रा में निमग्न है । इसी मोहरूप अज्ञान से अपने उस ईश भाव को भूलता हुआ यह शोक का अनुगामी वन रहा है । जिस दिन यह पुरुष अपने से सर्वथा सम्बद्ध उस दूसरे ईश को देख लेता है, पहिचान लेता है, उसी दिन उस की महिमा का अनुगमन करते हुए यह वीतराग वनता हुआ वीतशोक वन जाता है । यह द्रष्टा जीवात्मा जब उस ब्रह्मयोनि, कर्ता, सर्वेश, रुक्मवर्ण दर्शयिता को देख लेता है, तब आत्मस्वरूपवित् यह जीवात्मा पुण्य-पाप को छोड़ कर (इस प्रत्यगात्मा के साथ अभिन्न वनता हुआ इस के द्वारा) उस व्यापक निरञ्जन चिदात्मा के साथ सम भाव को प्राप्त हो जाता है" उक्त मन्त्रों का यही तात्पर्य है । इस प्रपञ्च से प्रकृत में हमें यही कहना है कि वही व्यापक आत्मा केवल योगमाया के प्रभाव से चिदात्मा–चिदंश–चिदाभास रूपों में परिणत हो जाता है । इन तीनों में चिदात्मा "अमृतम्" है, चिदंश प्रकृतिभाव से युक्त होता हुआ "ब्रह्म" है । इसी लिये मुण्डकश्रुति ने इसे "ब्रह्मयोनि" कहा है । एवं चिदाभास भूतभाग से संसृष्ट होता हुआ "शुक्रम्" है । चिदात्मा ज्ञानप्रधान है, चिदंश क्रियाप्रधान है, इसीलिए इस के लिए "भ्रामयन् सर्वभूतानि" यह कहा गया है । एवं चिदाभास अर्थप्रधान है ।

अध्यात्मसंस्थापेक्षया त्रीण्यात्मविवर्त्तानि

(सूर्यः) १.–चिदात्मा (विश्वव्यापकः-षोडशी)–विश्वात्मा (चिदात्मा)–अमृतम्–ज्ञानात्मा

(आतपः)२–प्रत्यगात्मा (शरीरावच्छिन्नो-निर्लेपः–परमात्मा (चिदंशः)––ब्रह्म––कामात्मा
(प्रतिविम्बः)३–शारीरकात्मा (पाप्मभिर्युक्तः-सलेपः––जीवात्मा (चिदाभासः)–शुक्रम्––कर्मात्मा

पूर्व में हमने अमृत–ब्रह्म–शुक्र इन तीनों के सम्बन्ध में अनेक विवर्त्त वतलाये हैं। सभी विवर्त्त परस्पर में कोई विरोध नहीं रखते। अथवा यो कहिये कि सब में विरोधसहिष्णु अविरोध है। इन दोनों भावों में विरोध का अंश वल की महिमा है, एवं अविरोध का अंश रस की महिमा है। रस वल दोनों हीं आत्मा के स्वरूपधर्म हैं। सब को सब माना जा सकता है, सब को सब से पृथक् भी माना जा सकता है। इसी आधार पर पूर्वप्रतिपादित सभी आत्मविवर्त्त सर्वथा उपपन्न हो जाते हैं। इसी आधार पर "सर्वे सर्वार्थवाचका दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः" यह आप्त सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। सभी अपेक्षया अव्यय है, अक्षर है, क्षर है, मन है, प्राण है, वाक् है, अमृत है, ब्रह्म है, शुक्र है ज्ञानात्मा है, कामात्मा है, कर्म्मात्मा है। हां उस ओर का एकरूप, इस ओर का एकरूप अवश्य ही नियतभाव से सम्बन्ध रखता है, जैसा कि आगे की तालिकाओं से स्पष्ट हो जाता है।

१—अव्ययात्मा—(अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्तिः) (आत्मा सर्वथा निर्लेपः, निष्क्रियः-"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म"—अव्ययदृष्टिः) ।

	अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः	अव्ययविभूतयः		अव्ययात्मविवर्त्तम्
१	आनन्द.	अमृतो ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	ॐ अव्ययः— मनः— ज्ञानं— ज्ञानात्मा— अमृतम्	१	
२	विज्ञानम्	अमृतौ इन्द्राविष्णू	मर्त्यौ- इन्द्राविष्णू	ॐ अक्षरः— प्राणः— क्रिया— कामात्मा— ब्रह्म		
३	मनः	अमृतौ-अग्नीषोमौ	मर्त्यौ-अग्नीषोमौ	ॐ क्षरः — वाक् — अर्थः— कर्मात्मा— शुक्रम्		
१	मनः	अमृतो ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	ॐ अव्ययः— मनः — ज्ञानं— ज्ञानात्मा — अमृतम	२	
२	प्राणः	अमृतौ-इन्द्राविष्णू	मर्त्यौ-इन्द्राविष्णू	ॐ अक्षरः,— प्राणः — क्रिया — कामात्मा — ब्रह्म		
३	वाक्	अमृतौ-अग्नीषोमौ	मर्त्यौ अग्नीषोमौ	ॐ क्षरः — वाक् — अर्थः - कर्म्मात्मा — शुक्रम्		
१	वाक्	अमृतो-ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	ॐ अव्ययः,—मनः — ज्ञानं — ज्ञानात्मा — अमृतम्	३	
२	आप.	अमृतौ-इन्द्राविष्णू	मर्त्यौ-इन्द्राविष्णू	ॐ अक्षरः, —प्राणः — क्रिया — कामात्मा— ब्रह्म		
३	अग्निः	अमृतौ अग्नीषोमौ	मर्त्यौ-अग्नीषोमौ	ॐ क्षरः,— वाक्— अर्थः— कर्म्मात्मा— शुक्रम्		

(क) प्रकारान्तरेणाऽव्ययात्मा द्रष्टव्यः १—

१—आनन्दः २—विज्ञानम् ३—मनः	रसोद्रिक्तः	→ अव्ययः, मनः, ज्ञानं, ज्ञानात्मा, अमृतम्	१
१—मनः २—प्राणः ३—वाक्	उभयोद्रिक्तः	→ अक्षरः, प्राणः, क्रिया, कामात्मा, ब्रह्म	२
१—वाक् २—आपः ३—अग्निः	बलोद्रिक्तः	← क्षरः, वाक्, अर्थः, कर्म्मात्मा, शुक्रम्	३

अव्ययात्मविवर्त्तम्

——:०:——

२—अक्षरात्मा-(अक्षराव्ययात्मक्षरमूर्त्तिः)-(आत्मा निर्लेपः किन्तु विश्वसाक्षी, विश्वकर्त्ता अक्षरदृष्टिः)।

	अक्षरात्मा ५	अव्ययात्मा ५	आत्मक्षरात्मा ५
१.	अमृतो ब्रह्मा	आनन्दः	मर्त्यो ब्रह्मा
२	अमृतो-विष्णु:	विज्ञानम्	मर्त्यो विष्णुः
३	अमृतइन्द्रः	मनः	मर्त्य इन्द्रः
४	अमृतः सोमः	प्राण	मर्त्यः सोमः
५	अमृतोऽग्निः	वाक्	मर्त्योऽग्निः

(१, २) → अव्ययः, मनः, ज्ञान, ज्ञानात्मा, अमृतम्-१

(३) → अक्षरः, प्राणः, क्रिया, कामात्मा, ब्रह्म-२

(४, ५) → क्षरः, वाक्, अर्थः, कर्म्मात्मा, शुक्रम्,-३

(१–३) → अक्षरात्मविवर्त्तम्

६–आत्मक्षरात्मा-(आत्मक्षरविकारक्षराक्षराव्ययमूर्त्तिः)-(आत्मैव विश्वारम्भकः (उपादानकारणम्)-"आत्मक्षरदृष्टिः) ।

	आत्मक्षरः ५	विकारक्षरः ५	अक्षरः ५	अव्ययः ५
१	मर्त्यो ब्रह्मा	विशुद्धः प्राणः	अमृतो ब्रह्मा	आनन्दः
२	मर्त्यो विष्णुः	विशुद्धा आपः	अमृतो विष्णु	विज्ञानम्
३	मर्त्य इन्द्रः	विशुद्धा वाक्	अमृत इन्द्रः	मनः
४	मर्त्यः सोमः	विशुद्धमन्नम्	अमृतः सोमः	प्राणः
५	मर्त्यो ऽग्निः,	विशुद्धोऽन्नादः	अमृतोऽग्निः	वाक्

(आनन्दः, विज्ञानम्) — १ अव्यय, मनः, ज्ञानं, ज्ञानात्मा, अमृतम् — १

(मनः) — २ अक्षरः, प्राणः, क्रिया, कामात्मा, ब्रह्म — २

(प्राणः, वाक्) — ३ क्षरः, वाक्, अर्थः, कर्म्मात्मा, शुक्रम् — ४

आत्मत्रात्मविवर्त्तनम्

———

४—विकारक्षरात्मा—(विकारक्षर—वैकारिकक्षर—आत्मक्षर—अक्षर—अव्ययमूर्त्तिः)

(आत्मैव विश्वस्योक्थं ब्रह्म साम- (विकारक्षरदृष्टिः") ।

	विकारक्षरः ५	वैकारिकक्षरः ५	आत्मक्षरः ५	अक्षरः ५	अव्ययः ५
१.	विशुद्धः प्राणः	पञ्चीकृतः प्राणः	मर्त्यो ब्रह्मा	अमृतो ब्रह्मा	आनन्दः
२	विशुद्धा आपः	पञ्चीकृता आपः	मर्त्यो विष्णुः	अमृतो विष्णुः	विज्ञानम्
३	विशुद्धा वाक्	पञ्चीकृता वाक्	मर्त्य इन्द्रः	अमृत इन्द्रः	मनः
४	विशुद्धमन्नम्	पञ्चीकृतमन्नम्	मर्त्यः सोमः	अमृतः सोमः	प्राणः
५	विशुद्धोऽन्नादः	पञ्चीकृतोऽन्नादः	मर्त्योऽग्निः	अमृतोऽग्निः	वाक्

विकारक्षरात्मविवरणम्

- आनन्दः, विज्ञानम् — अव्ययः, मनः ज्ञानं, ज्ञानात्मा, अमृतम् }-१
- मनः — अक्षरः, प्राणः, क्रिया, कामात्मा, ब्रह्म }-२
- प्राणः, वाक् — क्षरः, वाक्, अर्थः, कर्म्मात्मा, शुक्रम् }-३

५.—वैकारिकक्षरात्मा—(शुक्र—वैकारिक्षर—विकारक्षर—आत्मक्षर—अक्षर—अव्ययमूर्त्तिः)

(आत्मैव विश्वम्—"वैकारिक्षरदृष्टिः"

शुक्राणि ६	वैकारिक्षरः	विकारक्षरः	आत्मक्षरः	अक्षरः	अव्ययः
१ अमृतावाक् (स्वयम्भुमूला	पञ्चो॰ प्राणः	त्रिशु॰ प्राणः	मर्त्योब्रह्मा	अमृ॰ ब्रह्मा	आनन्दः
२ अमृता आपः (परमेष्ठिमूलाः)	पञ्ची॰ आपः	त्रिशु॰ आपः	मर्त्योविष्णुः	अमृ॰ विष्णुः	विज्ञानम्
३ अमृतोऽग्निः मर्त्योऽग्निः } —(सूर्यमूलौ)	पञ्ची॰ वाक्	त्रिशु वाक्	मर्त्य इन्द्रः	अमृ॰ इन्द्रः	मनः
४ मर्त्या आपः (चन्द्रमूलाः)	पञ्ची॰ अन्नम्	त्रिशु॰ अन्नम्	मर्त्यः सोमः	अमृ॰ सोमः	प्राणः
५ मर्त्यावाक्—(पृथिवीमूला)	पञ्ची॰ अन्नाद॰	त्रिशु॰ अन्नादः	मर्त्योऽग्निः	अमृ॰ अग्नि॰	वाक्
१	२	३	४	५	६

पाङ्क्तौशिकमिदंसर्वमित्यभियुक्ता आहुः

वैकारिकक्षरात्मा

(आनन्दः, विज्ञानम्) — शु॰ अव्ययः, मन, ज्ञान, ज्ञानात्मा, अमृतम् } —१

(मनः) — शु॰ अक्षरः, प्राणः, क्रिया, कामात्मा, ब्रह्म } —२

(प्राणः, वाक्) — शु॰ क्षरः, वाक्, अर्थः, कर्मात्मा, शुक्रम् } —३

सर्वसंग्रहः—

१-	१-परात्परावच्छिन्नः पञ्चकलोऽव्ययपुरुषः—अव्ययात्मा २-परात्परावच्छिन्नः पञ्चकलोऽक्षरपुरुषः—अक्षरात्मा ३-परात्परावच्छिन्नः पञ्चकलः क्षरपुरुषः—आत्मक्षरात्मा	१	षोडशीपुरुषः—अमृतात्मा
२-	४-षोडशीपुरुषावच्छिन्नाः पञ्चप्रकृतयः—विकाराक्षरात्मा	२	पञ्चप्रकृतयः—ब्रह्मात्मा
३-	५-पुरुषप्रकृत्यवच्छिन्नानि त्रीणि शुक्राणि—वैकारिकक्षरात्मा	३	त्रीणि शुक्राणि—शुक्रात्मा

—— :o: ——

आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में (गीताशास्त्र की अपेक्षा से) हमें जो कुछ कहना था, संक्षेप से सब कुछ बतला दिया गया। पूर्व के निरूपण से पाठकों को विदित हुआ होगा कि सविशेष आत्म-विवर्तों में से अव्ययाक्षरात्मरूप त्रिपुरुष पुरुषात्मक एक आत्मा ही "गूढोत्मा" है। यही हमारा (जीवसंस्था का) प्रत्यगात्मा नाम का मुख्य आत्मा है। जिस अश्वत्थवृक्ष पर यह अपने मित्र शारीरक आत्मा के साथ बैठा है, उस अश्वत्थ के ज्ञान-कर्म रूप से दो भेद हैं। ज्ञानमय अश्वत्थ **ब्रह्माश्वत्थ** नाम से, एवं कर्ममय अश्वत्थ **कर्माश्वत्थ** नाम से प्रसिद्ध है। महामायावच्छिन्न पञ्चपुण्डीरात्मक महेश्वर के साथ (व्यापक चिदात्मा के साथ) ब्रह्माश्वत्थ का सम्बन्ध है, एवं योगमायावच्छिन्न पञ्चखण्डात्मक प्रत्यगात्मयुक्त शारीरक आत्मा के साथ कर्माश्वत्थ का सम्बन्ध है। कर्मसंतान, किंवा कर्मपरम्परा ही कर्माश्वत्थ है। इसी कर्मसन्तान के बल से जीवात्मा जन्म लेता है, मरने के लिए। मरता है, जन्म लेने के लिए। ब्रह्माश्वत्थ से नित्यसम्बद्ध कर्माश्वत्थ के साथ सम्बन्ध रखने वाली महामायी ईश्वर की प्रकृतिरूप अविद्या के आक्रमण से इस जीवात्मा में **अविद्या—अस्मिता—राग—द्वेष—अभिनिवेश** नाम के पांच क्लेश, ६ उर्म्मिएं, ६ अवस्थाएं, कर्मविपाक, आशयादि दोष सारे पाप्मा आते रहते हैं, आकर प्रवाह रूप में परिणत होते रहते हैं, परस्पर में ओतप्रोत होते रहते हैं।

षोडशीपुरुषान्तर्गत अव्ययपुरुष के विद्या-एवं कर्म्म नाम के दो धातु हैं । आनन्द विज्ञान मन इन तीनों पर्वों की समष्टि विद्याव्यय है । चूंकि यह आत्मभाग ज्योतिःप्रधान बनता हुआ अविद्यारूप अन्धकार को नष्ट करता हुआ मुक्तिसाक्षी है, अतः अविद्यानिवारकत्वेन हम अवश्य ही इस पर्वत्रयी को 'विद्या" नाम से व्यवहृत कर सकते हैं । मनः-प्राण-वाक् की समष्टि कर्म्माव्यय है । यह कर्म्मभाग वीर्य्यप्रधान बनता हुआ सृष्टिसाक्षी बनता है, अतः कर्म्ममय विश्व की अपेक्षा से उक्त पर्वत्रयी को हम अवश्य ही "कर्म्म" शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। परिग्रह की कृपा से आत्मा के विद्या (ज्ञान)-कर्म्म इन दोनों के क्रमशःसम्यक्ज्ञान, अन्यथाज्ञान, अज्ञान, सुकर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म यह तीन तीन अवस्थाएं हो जातीं हैं । इन ६ ओं में सम्यक्ज्ञान, और सुकर्म्म शान्तिलक्षण आनन्द के कारण हैं । एवं शेष चारों क्षोभलक्षण दुःख के कारण हैं । इस प्रकार परिग्रहवश सोपाधिक आत्मा में जो दुःखमूलक दोष आजाते हैं, उन्हें एकान्ततः दूर करने के लिए, साथ ही में विद्यादि गुणों का आत्मा में आधान करने के लिए ही हमारा गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है । निष्कर्ष यही हुआ कि-"गीताशास्त्र सभी आत्माओं का निरूपण करता हुआ **अव्ययात्मा** को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनाता है" ।

इति-आत्मविद्याप्रकरणम्

२-गीताप्रतिपादित बुद्धिविद्या

गीता विद्याशास्त्र है । यह विद्या **आत्मविद्या, विश्वविद्या** भेद से दो भागों में विभक्त है । आत्मविद्या **पुरुषविद्या** है, विश्वविद्या **प्रकृतविद्या** है । पुरुषविद्या **ज्ञानविद्या** है, प्रकृतिविद्या **कर्म्मविद्या** है । ज्ञानविद्या **सांख्यनिष्ठा** है, कर्म्मविद्या **योगनिष्ठा** है । सांख्यनिष्ठात्मिका पुरुषविद्या ही **ज्योतिर्विद्या** है । योगनिष्ठात्मिका प्रकृतिविद्या ही वीर्यविद्या है । ज्योतिर्विद्यापेक्षया गीताशास्त्र **ब्रह्मविद्याशास्त्र** है, वीर्य्यविद्यापेक्षया गीताशास्त्र **योगशास्त्र** है, जैसाकि पूर्व में

विस्तार से बतलाया जा चुका है। पुरुषविद्या अव्यय, अक्षर, क्षर—भेद से तीनों भागों में विभक्त है, यही तीन आत्मविवर्त्त हैं। गीता इन तीनों आत्माओं में से किस आत्मा को, किंवा आत्मविद्या को अपना प्रधान लक्ष्य बनाती है? इस प्रश्न का समाधान पूर्व प्रकरण में किया जा चुका है।

इसी प्रकार प्रकृतिविद्या, किंवा कर्म्मविद्यापरपर्य्यायक योग वेद्या ज्ञानयोग, भक्तियोग कर्म्मयोग, भेद से तीन भागों में विभक्त है। गीता इन तीनों योगनिष्ठाओं में किस योगनिष्ठा का निरूपण करती है? यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित है। इस प्रकरण में इसी प्रश्न का संक्षिप्त समाधान लक्ष्य है। उत्तर स्पष्ट है। गीता तीनों से अपूर्व बुद्धियोगनिष्ठा का निरूपण करती है। वह बुद्धि है क्या वस्तु? इस प्रश्न का उत्तर वाङ्मयी प्रकृति ही है। षोडशी पुरुषात्मक पुरुष की बहिरंग प्रकृति प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद भेद से पांच भागों में विभक्त है। इन पांचों प्रकृतियों से क्रमशः स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी इन पांच पुरों का विकास होता है। यही पांचों आध्यात्मिक पुर अध्यात्मसंस्था में अंशरूप से प्रतिष्ठित होकर अव्यक्त, महान्, बुद्धि, मन, प्राणात्मा इन नामों से प्रसिद्ध होते हैं इस स्थिति से पाठकों को यह विदित होग। होगा कि वाङ्मयी तीसरी प्रकृति ही सूर्य्यरूप में परिणत होकर बुद्धि नाम से प्रसिद्ध होती है। सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी एवं स्वयम्भू में अमृत तत्त्व की प्रधानता है, एवं सूर्य्य से नीचे पृथिवी चन्द्रमा में मृत्युतत्त्व की प्रधानता है। मध्यस्थ सूर्य्य में अमृत–मृत्यु दोनो का सम्बन्ध है—'निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च"। अमृत ज्ञान है, विद्या है। मृत्यु कर्म्म है, अविद्या है। सूर्य्य में दोनो का सम्बन्ध है। फलतः सौरी बुद्धि में भी विद्या—अविद्या दोनो धर्म्मों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। विद्या अविद्या दोनों हीं ६–६ भागों मे विभक्त हैं। विद्या के ६ रूप ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री इन नामो से प्रसिद्ध हैं। विद्या के ६ रूप अविद्या, रागद्वेष, अभिनिवेश, अस्मिता, अपयश, अलक्ष्मी इन नामो से प्रसिद्ध हैं। ६ ओ विद्याभाग भग नाम से प्रसिद्ध हैं, एवं ६ ओ अविद्याभाग मोह नाम से व्यवहृत हुए हैं, जैसाकि अभियुक्त कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य च समग्रस्य धर्म्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञान-वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

उक्त ६ औं भग, एवं ६ ओं मोहों में से धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन चारों भगों की विकासभूमि सूर्य है। एवं इन चारों के प्रतिद्वन्द्वी अस्मिता, अविद्या, राग-द्वेष, अस्मिता यह मेह लक्षण चारों अविद्याभाग भी सूर्य्य से ही सम्बन्ध रखते हैं। यश एवं अपयश का चन्द्रमा से सम्बन्ध हैं। लक्ष्मी एवं अलक्ष्मी का आपोमय परमेष्ठीमण्डल से सम्बन्ध है। अध्यात्मक्रम के अनुसार यों समझिए कि लक्ष्मी रूप कान्ति का, एवं श्री हीनता का, स्थूलशरीर से सम्बन्ध है। यश और अपयश का मन से सम्बन्ध है। एवं शेष चारों भगों, एवं चारों मोहों का बुद्धि से सम्बन्ध है। कारण स्पष्ट है। सूर्य्य ही बुद्धि का उपादान है। चन्द्रमा ही मन का प्रभव है। परमेष्ठी का आप ही "अद्भ्यः पृथिवी" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी बना है। पृथिवी ही स्थूलशरीर का प्रभव है। इस प्रकार ४-४, १-१, १-१, इस क्रम से १२ भग मोह सर्वथा विभक्त हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि लोक में धर्म्म-ज्ञानादि का आचरण करने वाले का भी अपयश देखा गया है। साथ ही में सतत छल छिद्रों में प्रवृत्त मनुष्य को भी यशस्वी देखा गया है।

१—१—धर्म्मः ———→ अभिनिवेशः	(१)-७		
२—२—ज्ञानम् ———→ अविद्या	(२)-८	—सूर्य्यतः (बुद्धौ प्रतिष्ठितः)	
३—३—वैराग्यः ———→ रागद्वेषौ	(३)-६		
४—४—ऐश्वर्य्यः ———→ अस्मिता	(४)-१०		
५—१—यशः ———→ अपयशः	(१)-११	—चन्द्रतः (मनसि प्रतिष्ठितौ)	
६—२—श्रीः ———→ अलक्ष्मीः	(२)-१२	—परमेष्ठितः (शरीरे प्रतिष्ठिते) (अथवा पृथिवीस्थानतः। अद्भ्यः पृथिवी। अपोमयः परमेष्ठी। तत् पत्नी लक्ष्मी)	

हमारा गीताशास्त्र बुद्धियोगनिष्ठा का निरूपण करता है। एवं पूर्व कथनानुसार बुद्धि के सार चार विद्याभाव, चार अविद्याभावों का ही सम्बन्ध है। अतः वहां इन आठ भावों का ही निरूपण हुआ है, शेष चारो को छोड़ दिया गया है। इन आठ भावो के सम्बन्ध से एक ही बुद्धि की आठ अवस्थाएं हो जातीं हैं। यही साख्याभिमत– 'अष्टौ बुद्धयः" हैं। चार विद्या-बुद्धिएं अमृत प्रधान होतीं हुई विद्यात्मिका हैं, चार अविद्या बुद्धिएं मृत्युप्रधान होतीं हुई अवि-द्यात्मिका हैं। इस प्रकार भग भेद से एक ही बुद्धियोगनिष्ठा चार भागो में विभक्त हो जाती है। अध्यात्म विद्या के साथ साथ गीता इन चारों बुद्धियोगनिष्ठाओं का भी निरूपण करती है।

ईश्वर की योगमाया बड़ी विचित्र है। दुःख बिना प्रयास के भी आ जाता है, सुख प्रयास करने से भी नहीं मिलता। लोक में भी तो हम ऐसा ही देखते हैं। प्रकाश के लिए सूर्य्य, चन्द्रादि के उदय की आवश्यकता होती है, परन्तु अन्धकार बिना किसी कार्य कारणभाव के अपने आप ही अपना अधिकार जमा लेता है। उजेले के लिए दीपक की अपेक्षा है, अंधेरे के लिए कोई कोशिश नहीं करता, फिर भी वह आक्रमण कर बैठता है। कूड़े से कौन कहता है कि आप उन स्वच्छ अट्टालिकाओं में पधारिए, एवं वहां की स्वच्छता दूर कर सब प्राङ्गणों को मलिन कर दीजिए। परन्तु आप बिना प्रयत्न के ही पधार आते हैं, और बड़ी प्रमुता से विरा-जमान हो जाते हैं। उधर स्वच्छता अपने आप नहीं रहती। इस के लिए प्रयास करना पड़ता है। बुहारी देनी पड़ती है सफाई करनी पड़ती है। क्यों? उत्तर प्रकृति से पूछिए। प्रकृति स्वभाव से ही दोषों पर अधिक कृपा रखती है, गुण पर प्रायः अकृपा रखती है। कारण प्राकृ-तिक विश्व का मूल ही तमोगुण है। फलतः तमोमय विश्व में दोषो का ही साम्राज्य होना स्वभावसिद्ध है।

पूर्वोक्त इसी स्वाभाविक नियम के अनुसार हमारी बुद्धि मे भी अविद्याबुद्धिरूप चारों क्लेशों का रहना स्वाभाविक बन जाता है। अविद्या (शास्त्रज्ञानाभाव), अस्मिता (आत्मसङ्कोच), राग–द्वेष (विषयासक्ति), अभिनिवेश (दुराग्रह–हठधर्म्मी), यह चारों बिना किसी प्रयास के अपने आप हमारे घर के प्राघुणिक (पाहुने) बने रहते हैं। इन्हें हटाने के लिए हमें

प्रयास करना पड़ेगा। वह प्रयास होगा उक्त चारो क्लेशों के प्रतिद्वन्द्वी ज्ञान, ऐश्वर्य, वैराग्य, धर्म्म इन चारो भावों का बुद्धि में विकास करना। किस कारण से कौन सा दोष कब बुद्धि पर आक्रमण करता हुआ आत्मा को मलिन बना डालता है ? इस प्रश्न का उत्तर देना मानवी-शक्ति से बाहर है। अधिक से अधिक इस सम्बन्ध में यही कहा जासकता है कि मनुष्य जैसे शुभाशुभ कर्म्म करता है, उन कर्म्मों का उस के अन्तःपटल पर वैसा ही संस्कार होता जाता है। एक सांस्कारिक कर्म्म का फल भोगने के लिए हम संसार में आए, दूसरे शब्दों में हमने स्थूलशरीर धारण किया। इस शरीर से हमने और और कर्म्म कर डाले। परिणाम यह हुआ कि जब पूर्व संस्कार के बल से उत्पन्न शरीर के (इस संस्कार भोगसमाप्ति पर) विनाश का समय आया, उस समय ऐसा नवीन कर्म्म संस्कार उक्थ रूप से आत्मा में और प्रतिष्ठित हो गया, जिस के प्रभाव से पूर्वशरीरपरित्यागानन्तर उत्तर शरीर का ग्रहण करना (जन्म लेना) आवश्यक हो गया। इस प्रकार सांसारिक कर्म्म से उत्पन्न शरीर द्वारा होने वाले कर्म्मों की कृपा से मृत्यु-जन्म, मृत्यु-जन्म यह परम्परा निरन्तर चलती रहती है, जन्ममृत्युहेतुभूत इस सांस्कारिक कर्म्मपरम्परा का ही नाम **"कर्म्माश्वत्थ"** है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। **इन सांस्कारिक** कर्म्मों की कृपा से जन्ममृत्युपाश में बद्ध, अतएव सर्वथा परतन्त्र इस आत्मा में संस्कार वश यथा समय अविद्यादि दोषों का बुद्धि द्वारा आक्रमण हुआ करता है। इन अविद्याओं से आवृत होती हुई बुद्धि भी अविद्यात्मिका बन जाती है। इस अविद्या बुद्धि के सम्बन्ध से आत्मा का विद्या भाग आवृत हो जाता है। विद्या के निर्बल होते ही, किंवा आवृत होते ही अविद्यादि दोषों को अविद्या बुद्धि द्वारा आत्मा पर आक्रमण करने का अवसर मिल जाता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी धरोहर को कहीं रख कर भूल जाता है, इस भूल से घर में ही कहीं अज्ञात स्थान में धरोहर के पड़े रहने पर भी इस अज्ञान की कृपा से अन्यमनस्क बनता हुआ व्याकुल एवं दुःखी होता हुआ उस धरोहर की खोज में इधर उधर भटकता हुआ **"तुझे मालूम है क्या" "तुमने मेरी वस्तु देखी है क्या"** इस प्रकार इतर व्यक्तियों से पूछा करता है, एवं वहां–**"नहीं हमने नहीं देखी" "हमें नहीं मालूम"** इस प्रकार के निराशामय उत्तर सुन कर

और भी अधिक दुःख प्राप्त करता है, ठीक वही परिस्थिति उस व्यक्ति की होती है, जो कि अविद्या से आक्रान्त है।। शान्तिलक्षण आत्मानन्दरूप धरोहर इसी के पास है, इसी के घर में प्रतिष्ठित है। परन्तु अविद्या के आक्रमण से यह अपनी उस आनन्द सम्पत्ति को भूल जाता है। यही धरोहर इस का जीवन है, अतः इस के बिना इसे क्षणभर भी चैन नहीं पड़ता। फलतः अज्ञानवश मोह में पड़कर इसी आनन्द की खोज के लिए इन्द्रियो के द्वारा यह लौकिक विषयो के पास भटकता फिरता है। उधर विषयों में आनन्द कहां। वे तो स्वयं जड़रूप होते हुए आत्मानन्द से वञ्चित हैं। फलतः विषयो में अभीप्सित आनन्द के न मिलने के कारण यह और भी अधिक व्याकुल हो जाता है। जीवात्मा की इस आगन्तुक वेदना को दूर करनेके लिये, वेदनामूलभूत अविद्या दोषो का समूल विनाश करने के लिए प्रवृत्त होने वाला गीताशास्त्र अविद्या से उत्पन्न शोकनिवरणार्थ आवरण लक्षण अविद्यादि दोषो को हटाने का उपायमात्र बन जाता है। वह उपाय है—धर्म्म-ज्ञानादि रूप विद्याभावों का उत्कर्ष। विद्या जिन उपायों से प्रकट हो जाती है, उन उपायो का स्पष्टीकरण करना ही तो गीता का मुख्य लक्ष्य है। उन उपायों से होता क्या है ? चतुर्विध बुद्धियोगनिष्ठाओ की प्राप्ति। धर्म्मबुद्धियोग से अभिनिवेश की, ज्ञानबुद्धियोग से मोह रूपा अविद्या की, वैराग्यबुद्धियोग से रागद्वेषरूप आसक्ति की, ऐश्वर्यबुद्धियोग से अस्मिता की निवृत्ति हो जाती है। आवरण हट जाता है, आत्मबोधका का उदय हो जाता है, शाश्वत शान्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार आत्मविद्या में जैसे गीता अव्यय को मुख्य लक्ष्य बनाती है, एवमेव प्रकृतिविद्या किंवा बुद्धिविद्या में गीता बुद्धियोग को अपना प्रधान लक्ष्य मानती है।

बुद्धियोग का स्वरूप निर्वचन

क्या आत्मा के साथ बुद्धि का योग नहीं रहता ? विज्ञान सिद्धान्त के अनुसार तो हम यही कहेंगे कि बुद्धि आत्मा के बिना क्षणमात्र भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। इन्द्रियो

का विषयों के साथ सम्बन्ध रहता है। इन्द्रियों में जो ऐन्द्रियक ज्ञान रहता है, उसी से तत्तद् विषयों का साक्षात्कार होता है। इस विषयप्रत्यक्ष के हेतुभूत ऐन्द्रियक ज्ञान की प्रतिष्ठा एवं प्रभव सर्वेन्द्रियमन नाम से प्रसिद्ध प्रज्ञानात्मा नाम का हृदयस्थ मन ही है। प्रज्ञाप्राणात्मक इस मनरूप उक्थ से निकलने वाले अर्कों का ही नाम इन्द्रिएं हैं। दूसरे शब्दों में मन यदि दीपबिम्ब (दीपक की लो) है तो इन्द्रिएं इस बिम्ब से निकलनें वाली रश्मिएं हैं। फलतः इन्द्रियों का मन के साथ नित्य सम्बद्ध रहना सिद्ध हो जाता है। मन चन्द्रमा से निष्पन्न हुआ है, बुद्धि सूर्य्य से उत्पन्न हुई हैं, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। जिस प्रकार ईश्वरसंस्था में चन्द्रमा सूर्य्य प्रकाश को लेकर ही प्रकाशित रहता है, एवमेव जीवसंस्था में चन्द्ररूप मन सूर्य्यरूप बुद्धि के प्रकाश को लेकर ही प्रकाशित रहता है। इसी बौद्धप्रकाश की कृपा से इन्द्रियद्वारों के बंद होने पर स्वप्नावस्था में परिणत होता हुआ मन अपने सांस्कारिक मानस विषयों के साथ क्रीडा किया करता है। जब बुद्धि महानात्मा के साथ पुरीतति नाडी में जाकर ज्योतिर्धन आत्मा में अपीत हो जाती है (डूब जाती है) तो बुद्धि से प्रकाश प्राप्त करने वाला मन प्रकाशशून्य होता हुआ सुषुप्त्यवस्था में परिणत हो जाता है। फलतः मन का बुद्धि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होना सिद्ध हो जाता है। बुद्धि में जो चित्प्रकाश है, वह भी उस का अपना प्रकाश नहीं है। कारण बुद्धि वाक्प्रकृतिक होती हुई स्वस्वरूप से सर्वथा जड़ है। कर्तृत्वशक्ति इस बुद्धिरूपा प्रकृति में अवश्य है, उधर पुरुषत्मा नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा निष्क्रिय है शुद्ध विकास स्वरूप है। इस चिदात्मा के चिदंश को लेकर ही बुद्धि में ज्ञानज्योति का प्रादुर्भाव होता है, जैसा कि-"प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः"इत्यादि प्राधानिक सिद्धान्त के अनुसार स्पष्ट है। भला जो बुद्धि आत्मा के चिदंश को लेकर ही अपना बुद्धित्व सुरक्षित रखने में समर्थ होती है, उस बुद्धि का आत्मा के साथ योग न हो, यह कैसे माना जा सकता है। अवश्य ही आत्मा (महदवच्छिन्न पुरुषात्मा) का बुद्धि के साथ साक्षात्सम्बन्ध है। मन के साथ बुद्धि द्वारा आत्मा का सम्बन्ध है। इन्द्रियों के साथ बुद्धि-मन द्वारा आत्मा का सम्बन्ध हैं। एवं बुद्धि-मन-इन्द्रियों के द्वारा परम्परया आत्मा का विषयो के साथ भी सम्बन्ध है।

सभी तो अहं पश्यामि, अहं शृणोमि, अहं वदामि, अहं स्पृशामि, अहं विचारयामि, इत्यादि रूप से इन्द्रिय-मन-बुद्धि के व्यापारों के सम्बन्ध में अहंरूप आत्मा का अभिनय किया जाता है। इसी पारस्परिक सम्बन्ध का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः (गी० ३।४२।)॥

इस प्रकार उक्त निदर्शन से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि बुद्धि का आत्मा के साथ अवश्य ही नित्य योग है। ऐसी स्थिति में हम प्रश्न कर सकते है कि, जब बुद्धि का आत्मा के साथ योग रहना प्रकृति सिद्ध है तो भगवान् ने बुद्धियोग नाम की किस अपूर्व निष्ठा का प्रतिपादन किया, भगवान् ने हमें क्या नई बात सिखलाई ? प्रश्न यथार्थ है। सचमुच बुद्धि का योग प्रकृति सिद्ध है। अन्तर केवल यही है कि प्रकृति सिद्ध योग विषमयोग है, एवं भगवान् ने समत्वयोग का उपदेश दिया है। आत्मब्रह्म सर्वत्र सम है। फिर बुद्धि मन-इन्द्रियों के व्यहारों में विषमता क्यों ? मानना पड़ेगा कि समत्वभावापन्न आत्मा के साथ बुद्धि आदि का विषम योग हो रहा है। इस विषमता का क्या कारण ? कहना पड़ेगा कि आत्मा एवं बुद्धि के बीच में आने वाले अविद्या के आवरणने हीं इस योग को विषम बना रक्खा है। इसी विषम-योग ने हमें (आत्मा को) मोह में डाल रक्खा है। इसी स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि मनो-बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनाम् ॥ (गी० ३।४०)।

लोक में हम देखते हैं कि यदि एक रोगी मनुष्य कुछ भोजन करता है तो वह उस का हित न करते हुए अहित हीं करता है। इस का भोजन करना भोजन न करने के समान है। यदि हम विषमता से किसी से मिलते है तो हमारा यह मिलना न मिलने के समान है। यदि दो प्रेमियों के मध्य में कोई अन्तराय है तो उनका मिलना न मिलना ही कहा जायग।

एक सिंह के सामने खड़े हुए अज पशु को यदि आप घास खिलाते हैं तो क्या यह खिलाना खिलाना कहलाएगा ? ठीक यही दशा यहां समझिए । यदि बुद्धि और आत्मा के साथ आवरण के अन्तराय से विषम योग है तो क्या वह योग योग कहलाएगा ? कदापि नहीं । भगवान् तो यह तक मानते हैं कि यदि बुद्धि का आत्मा के साथ विषमयोग है तो वह योग योग नहीं, एवं वह बुद्धि बुद्धि नहीं– "नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य , न चायुक्तस्य भावना " । इन्द्रियों की कृपा से, एवं सांस्कारिक कर्मों के प्रभाव से आने वाले दोषों ने बुद्धि की प्रातिस्विक प्रतिभा का नाश करते हुए ज्ञान-विज्ञान दोनों का स्वरूप नष्ट कर रक्खा है । दोषों ने हमें बुद्धियोगनिष्ठा से वञ्चित कर रक्खा है । सुनिए ! भगवान् क्या कहते हैं—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ (गी. ३ । ४१ ।) ॥
धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ॥
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ (गी. ३ । ३८ ।) ॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ (गी ३ । ३९ ॥

पूर्व में हमने गीता की सर्वशास्त्रता अनेक प्रकार से सिद्ध की है । दो शब्दों में यहां भी इस सम्बन्ध में कुछ निवेदन करना चाहते हैं । गीता को आप 'ब्रह्मविद्या' समझिए। ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थ हुए हैं । परन्तु गीता के सम्बन्ध में हम ब्रह्म से 'अव्यय पुरुष' का ग्रहण करेंगे, कारण गीता का यही प्रधान लक्ष्य है । इस अव्यय ब्रह्म की विद्या पुरुषविद्या, प्रकृतिविद्या भेद से दो भागों में विभक्त है । अव्यय पुरुष से ही सम्बन्ध रखने वाली अव्यय की भक्ति (भाग-अंश-अवयव) रूपा, अतएव आत्मलक्षणा आत्ममयी विद्या पुरुषविद्या अव्यय ब्रह्म की पहिली विद्या है। प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली, प्रकृति की भक्तिरूपा, अतएव प्रकृतिलक्षणा प्रकृतिमयी विद्या दूसरी प्रकृतिविद्या है । अव्ययभक्तिरूपा, अतएव आत्मरूपा इस पुरुषविद्या , किंवा आत्मविद्या में, बुद्धिभक्तिरूपा, अतएव प्रकृतिरूपा इस प्रकृतिविद्या

का योग हो जाना ही **बुद्धियोग** है। दूसरे शब्दों में सूर्य्यलक्षण बुद्धि का विषम योग से हटकर समत्वरूप से अव्यय के विद्या भाग के साथ सम्बन्ध कर लेना ही बुद्धियोग है। योग पहिले भी था, परन्तु वह विषम था, अतएव पूर्वकथनानुसार वह योग अयोग था। समत्वलक्षणा बुद्धि का आत्मा के साथ योग होना ही वास्तविक बुद्धियोग है, बुद्धियोग का यही स्वरूपनिर्वचन है। 'गीता को प्रधान रूप से यद्यपि बुद्धियोग का उपाय ही बतलाना है। ऐसी स्थिति में इसे केवल योगशास्त्र ही कहा जाना चाहिए था। परन्तु जिस आत्मब्रह्म के साथ, किंवा आत्मविद्या के साथ बुद्धि का योग बतलाना है, उस आत्मा का स्वरूप बतलाना भी गीता का आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। फलतः जहा गीता ने बुद्धियोग का प्रतिपादन करने से **योगशास्त्र** की उपाधि प्राप्त की है, वहां योगाधारभूमि आत्मब्रह्म का निरूपण करने के कारण **"ब्रह्मविद्या"** उपाधि से भी अपने को युक्त करते हुए अपनी सर्वशास्त्रता को चरितार्थ किया है। आत्मविद्या के साथ बुद्धि का योग चार प्रकार से हो सकता है। चार प्रकार से समत्वयोग उपपन्न होता है। अतएव बुद्धियोग चार प्रकार के हो जाते हैं। कारण स्पष्ट है। जिन के कारण बुद्धि में विमषता का उदय होता है, वे स्वयं चार भागो में विभक्त हैं। विपमतामूलक क्लेशो को बुद्धियोग द्वारा हटाना है। हटने वाले चूंकि चार हैं, अतः हटाने वाले भी चार ही होने चाहिएं। प्रतिद्वन्द्विता में समानता ही अपेक्षित है। आपको यह मानना पड़ेगा कि दुःख को आप उत्पन्न नहीं करते, अपितु दुःख का मूल प्रकृति है। भला जिसके कारण आप नहीं, उसे आप हटा कैसे सकते है। इसके लिए तो आपको प्रकृति की ही शरण में जाना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में यदि कोई हतधी दुःखों से त्रस्त होकर उन्हे दूर करने के लिए प्रकृति विरोधी अपने कल्पित कारणो का आश्रय लेता है, तो कम होने के स्थान में उसके दुःख और बढ़ते ही हैं। प्रकृति ने दुःख दिया है, प्रकृति सुधारिए। प्रकृति में गुण भी हैं, दोष भी हैं। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि विषम प्रकृति भी प्रकृति है, समप्रकृति भी प्रकृति है। विषम को समसे हटाया जासकता है। प्रकृति ही प्रकृति की चिकित्सा है—**"विषस्य विषमौषधम्"**। कांटा काटे से निकल सकता है। एक कांटे को निकाल ने

के लिए आपके हाथ दूसरे कांटे के प्रयोग में निमित्त बन सकते हैं। आप स्वयं यदि हाथों से (बिना कांटे के सहारे) कांटा निकालना चाहेंगे तो परिश्रम व्यर्थ जायगा। एवं अङ्गुल्यादि के आघात से वह सूक्ष्म कण्टक इतस्ततः होकर और भी गहराई में जाता हुआ अधिक वेदना का कारण बन जायगा। कचरा साफ करना है तो उस कचरे का (तृणसमूह रूप बुहारी का) आश्रय लीजिए। यदि लोटे पर मिट्टी (मैल) जम गई है तो मिट्टी से घर्षण कीजिए। मिट्टी अपने आप जमी थी, मिट्टी ही उसे हटाएगी। क्या बिना साबुन पानी के आप वस्त्र का मैल दूर करसते हैं ?। बस ठीक यही दशा यहां समझिए। दुःख हुआ है, अविद्यादि दोषों से, विषम प्रकृति से। इसे हटाने के लिए आपको समप्रकृति का ही आश्रय लेना पड़ेगा। आपका काम केवल इतना ही हैं कि विषमप्रकृतिरूप जिन अविद्यादि प्राकृत दोषो ने आप को दुःखी कर रक्खा है, उन दोषों के प्रतिद्वन्द्वी विद्यादि गुण उपस्थित करदे। जिस प्रकार प्रकाश के आ जाने से प्रकाश का प्रतिद्वन्द्वी अन्धकार अपने आप विलीन हो जाता है, बिना प्रकाश के आए लाख चेष्टा करने पर भी प्रकृति सिद्ध तम नहीं हट सकता। एवमेव जिस दिन आप की बुद्धि में अविद्या दोषों को प्रतिद्वन्द्विनी विद्या का उदय हो जायगा, उस दिन दुःखमूला अविद्या अपने आप निवृत्त हो जायगी।

हां आप प्रयत्न में अवश्य स्वतन्त्र हैं। दुःखनिवृत्ति के प्रयत्न में नहीं, अपितु दुःख निवृत्त करने वाली प्रकृति को आत्मसात् करने के प्रयत्न में। मिट्टी ही लोटे का मैल साफ करेगी। प्रकृति की ओर से पहिले से यह नियत है कि इतने बल प्रयोग से मिट्टी लोटा साफ कर देगी। आप उतना बल यदि १० मिनिट में ही लगा देंगे तो दस ही मिनट में लोटा साफ हो जायगा। यदि २ घन्टे में अपेक्षित बल खर्च करेंगे तो सफाई में भी उतना ही समय लगेगा। बल प्रयोग आपके अधिकार में, सफाई प्रकृति के अधिकार में। साथ ही में यह भी निश्चत है कि यदि आपने अपेक्षित बलप्रयोग कर डाला तो प्रकृति तत्क्षण अपने आप सफाई कर देगी। इसी प्रकार समत्वयोग में जितना बल, जितना आत्मसंयम, जितना इन्द्रिय निग्रह अपेक्षित है, सत्य, आर्जव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सर्वभूतरति आदि जो जो नियम अपेक्षित हैं, इन को आप जितना ही शीघ्र

संपन्न कर लेंगे, सिद्धि उतनी ही अधिक निकट आजायगी। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

"तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ (गी० ४। ३८।)'

यदि आप प्रश्न करें कि हमें समत्वयोग को प्राप्त करने में कितना समय लगेगा? अथवा कितना बल खर्च करना पड़ेगा? तो हम कहेंगे अपने कर्म्मों से पूँछिए। "जितना गुड डालो उतना मीठा" किंवदन्ती प्रसिद्ध है। आपके आत्मा में जितना कर्म्म लेप है, वह सब जिस दिन एकान्ततः निवृत्त हो जायगा, बुद्धियोग सिद्ध हो जायगा। परीक्षित की मुक्ति सात दिन पारायण सुनने से हो सकती है। आज बरसों भागवत सुनने वाले, स्वय अपने को भागवताचार्य मानने वाले कथावाचक भी राग-द्वेष से युक्त देखे जाते हैं। हो सकता है-आप आज ही मुक्त हो जांय, संभव है अनेक जन्म में मुक्ति हो। कर्म्मग्रन्थितारतम्य, साथ ही में प्रयत्न तारतम्य ही उक्त प्रश्न का समाधान कर सकता है। फिर भी आत्मसिद्धि के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि अनेक जन्म का प्रयास ही इस सिद्धि की प्राप्ति का कारण है। क्योंकि इस मायामय दोषमूर्त्ति विश्व के कुचक्रों में बद्ध पहिले तो कोई प्रयत्न ही नहीं करता। हजारों में एक आध व्यक्ति प्रयास करता भी है तो मोह जाल इसे पद पद पर लक्ष्यच्युत बनाने के लिए सामने आता है। फलतः प्रयत्नशीलों मे भी कोई विरला ही भाग्यवान् चरम लक्ष्य पर पहुंच सकता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥(गी. ७।३)।
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (गी. ७।१९)।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"

क्या इसी एकमात्र विभीषिका से डर कर उक्त बुद्धियोगनिष्ठाप्राप्ति के मार्ग को छोडदें?

नहीं !। यह ठीक है कि पूर्णतृप्ति पेट भर जल पीने से ही होगी। परन्तु एक चुल्लूभर पानी भी प्यासे के आत्मा को आंशिक शान्ति पहुंचा सकता है। हमें एक रुपय्या नहीं मिल सकता, इसलिए क्या दो चार आने छोड़दें। यदि मासिक वेतन २०० न मिले तो ५०--६० की उपेक्षा कर अकर्मण्य वनते हुए क्या अपने कुटुम्ब को और भी अधिक दुःखी करने के कारण बनें। कौन बुद्धिमान् इस युक्ति का समर्थन करेगा। उत्तम कर्म्म सदा उत्तम ही रहेगा। पूर्ण न सही, बहुत सही, बहुत न सही थोड़ा सही। "सही" उपादेय है, "गलती" अनुपादेय है। लाभ प्रत्येक दशा में लाभ है। कुछ भी न करने से कुछ करना अच्छा मानागया है। बूंद-बूंद करते घट कालान्तर में जल से परिपूर्ण हो जाता है। "बापरे बाप ! अनेक जन्म, ओह कैसा भयङ्कर प्रतिबन्ध, न हम से यह कभी न होगा" यह अकर्म्मण्यों की वाणी है। "जितना, जैसा वन पड़ेगा, उतना वैसा करेंगे, और अवश्य करेंगे"-यह कर्म्मवीरों का उद्घोष है। यही उद्घोष सिद्धि का मूलद्वार है।

न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति ।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

निष्कर्ष यही हुआ कि—"आत्मविद्या में बुद्धि का समभाव से योग हो जाना ही बुद्धियोग है। यह योग चार भागों में विभक्त है। गीता आत्मविद्या के साथ साथ इन्हीं चारो योगों का उपदेश देती है" जैसा कि पाठक आगे के प्रकरण में देखेंगे।

———:०:———

१२- गीता का बुद्धियोग

* श्रीः *

१—वैराग्य-बुद्धियोग

पूर्व के गीताप्रतिपादित आत्मविद्या, गीताप्रतिपादित बुद्धियोग, एवं बुद्धियोग-शब्द का स्वरूपनिर्वचन इन तीनो प्रकरणो से पाठको को यह विदित होगया होगा कि गीताशास्त्र ने आत्मा के ज्ञान भाग के सम्बन्ध में तो चार विद्याओं का निरूपण किया है, एवं आत्मा के कर्म्मभाग के सम्बन्ध में चार बुद्धियोगों का निरूपण किया है। गीताप्रतिपादित आत्मा अव्ययपुरुष है। विद्या द्वारा अव्ययभक्तिलक्षणा आत्मविद्या की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है, एवं बहिरङ्गप्रकृतिभक्ति—(वाक्प्रकृतिभक्ति)—लक्षणा बुद्धि की ओर बुद्धियोग द्वारा हमारा ध्यान आर्षित किया है। इस प्रकार प्रकृति-पुरुष के समन्वितरूप का निरूपक यह गीताशास्त्र अवश्य ही एक पूर्ण एव अलौकिक ग्रन्थ कहा जासकता है। क्लेशनिवृत्ति ही गीताशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है, तदर्थ भगसम्पत्ति प्राप्ति का उपाय बतलाना ही गीता का मुख्य विषय है। विज्ञान प्रणाली के नष्टप्राय हो जाने से आज विद्वत् समाज में क्लेश को दुःख का पर्य्याय, एवं भग को ऐश्वर्य का पर्य्याय समझा जारहा है। वस्तुतः क्लेश दुःख का कारण है, एवं भग ऐश्वर्य्यादि का कारण है। अविद्या-अस्मिता राग-द्वेष-अभिनिवेश इन पाचो के लिये क्लेश शब्द नियत है। इन क्लेशो के आजाने से दुःख का उदय होता है। इसी प्रकार धर्म्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य इन चारों के लिये भग शब्द नियत है। इन के आगमन से शान्तिलक्षण आत्मानन्द का विकास होता है। आनन्दलक्षण भगसम्पति को प्राप्त करो, भग के प्रतिद्वन्दी क्लेश निवृत्त हो जायगे, क्लेशनिवृत्ति से क्षोभलक्षण दुःख अपने आप निवृत्त हो जायगा। स्वयं भगसम्पत्ति का नाम बुद्धियोग है। भगसम्पत्ति प्राप्ति के प्रकार (तरकीब) का नाम विद्या है। इस प्रकार चार बुद्धियोगों के कारण तत्प्राप्तिप्रकारभूता विद्याएं भी चार ही हो जाती हैं, जैसा कि आगे की तालिका से स्पष्ट हो जायगा। इन चारो प्रकारो में से एक भी प्रकार का अनुष्ठान अध्यात्मसंस्था की शान्ति का कारण बन जाता है। यदि चारों का ही विकास है, तब तो कहना ही क्या है। चतुर्विध बुद्धियोगाधिष्ठाता पुरुष पुरुष नहीं, साक्षात् परब्रह्म का अवतार है।

बुद्धियोग–विद्या चतुष्टयी—

१–वैराग्यबुद्धियोगः—राजर्षिविद्या—ततः–रागद्वेषनिवृत्तिः (१)

२–ज्ञानबुद्धियोगः—सिद्धविद्या—ततः–अविद्यालक्षणमोहनिवृत्तिः (२)

३–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगः—राजविद्या—ततः–अस्मितानिवृत्तिः (३)

४–धर्म्मबुद्धियोगः—आर्षविद्या—ततः–अभिनिवेशनिवृत्तिः (४)

यद्यपि स्वयं मूलभाष्य में उक्त योगों, एवं विद्याओं का विस्तार से निरूपण होने वाला है, परन्तु प्रकरणसंगति के लिए संक्षेप से इस उपोद्घात प्रकरण में भी क्रमशः इन का स्वरूप जान लेना अनावश्यक न होगा। पहिले **राजर्षिविद्या** मूलक **वैराग्यबुद्धियोग** को ही लीजिए। **राग-द्वेषलक्षण** क्लेश से उत्पन्न होने वाले शोक को रोकने वाला कारण ही **वैराग्यबुद्धियोग** है, एवं इस कारण का स्वरूपज्ञान कराने वाली प्रक्रिया ही **वैराग्य-विद्या** है। यही विद्या गीता में **राजर्षिविद्या** नाम से व्यक्त हुई है।

पूर्वजन्मकृत कर्म्मों की कृपा से उत्पन्न संस्कार हमारे इस प्रारब्ध जन्म के कारण बनते हैं। सांस्कारिक कर्म्मानुसार ही हमें **ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र** इन चारों वर्णों में से किसी एक वर्ण में जन्म लेना पड़ता है। व्यापक आत्मा का कर्म्मवश शरीर बन्धन में आ जाना, यही आत्मा की पहिली परतन्त्रता है। उन्हीं सांस्कारिक कर्म्मों के प्रबल आघात से, प्रबल प्रेरणा से इच्छा न होते हुए भी–"**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः**" इस सिद्धान्त के अनुसार सांसारिक दुःखप्रद तत्तत् भोगों में प्रवृत्त होना, आत्मा की दूसरी परतन्त्रता है। पिता के शुक्र, माता के शोणित में औपपानिक रूप से कर्म्मवश प्रतिष्ठित होकर गर्भाशय यन्त्र से नियन्त्रित होना भी एक महा परतन्त्रता है। माता पिता के सांक्रमिक दोषों का उन के पुत्र होने के नाते अधिकारी बनना ही एक महादुःख का उदय है। प्रकृतिमण्डलस्थ क्रूर ग्रहों की सत्ता में गर्भाशय में आने से तत्तद् ग्रहों के तत्तत् प्राणों से युक्त होकर उन की कृपा का भाजन बनाना भी कम परतन्त्रता नहीं है। जिस देश में हम जन्म लेते हैं, उस

देश की अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति भी हमें निर्लेप नहीं छोड़ देती। आर्थिक परिस्थिति के अनुसार, किंवा शिक्षा की कमी के कारण माता को जैसा भोजन प्राप्त होता है, उस विकृत अविकृत भोजन के रस से नाभिनाल द्वारा गर्भाशय में प्रतिष्ठित हमारा जो पोषण होता है, इस रसपोषण से होने वाले जो गुण दोष हैं, उन का भी हमें हिस्सेदार बनना पड़ता है। इस प्रकार **शुक्रदोष, शोणितदोष, ग्रहदोष, नाड़ीदोष, देशदोष, अन्नदोष, कर्म्मदोष, शरीरदोष** आदि अनेक दोषों की चहार दीवारी से घिरता हुआ यह जीवात्मा कर्म्मफल भोगने के लिए धरातल पर अवतीर्ण होता है। होता क्या है—सहजसिद्ध सांस्कारिक कर्म्मों की परतन्त्रतावश इसे उक्त दोषों को तो विवश होकर अपनाना ही पड़ता है, परन्तु इन से अतिरिक्त अपने इन्द्रियदोषलक्षण प्रज्ञापराध (नासमझी) से यह और और भी दोषों को बटोर लेता है। पहिले के समाप्त नहीं होते, और सञ्चित हो जाते हैं। सञ्चित अविद्यादिदोष एवं प्राक्तनकर्म्मकृत सांस्कारिक दोष जीवात्मा के ज्योतिर्मय विद्याभाग को सर्वथा आवृत कर लेते हैं। यही इसके दुःखी रहने का मूल कारण है। किन कारणों से यह दुःखी रहता है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए हम पहिले रागद्वेष नाम की दो प्रसिद्ध अविद्याविभूतियों को ही पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं।

इन्द्रियों के द्वारा मन से हम सांसारिक विषयभोगों में प्रवृत्त होते हैं। साथ ही में यह भी एक सिद्ध विषय है कि कितने ही पदार्थों के साथ तो हमारा प्रेम होता है, एवं कितनों हीं से स्वभावतः द्वेष रहता है। प्रेम और द्वेष दोनो हीं व्यापारों में हमारा मन उन विषयों में बद्ध हो जाता है। जिस के साथ हम प्रेम करते हैं, उस प्रेमी के आकार से हमारा मन आकारित रहता है। साथ ही में जिस के साथ द्वेष करते हैं, उस का आकार भी अन्तःपटल पर खचित रहता है। शत्रु एवं मित्र दोनो मन पर चढ़े रहते हैं। आश्चर्य तो यह है कि एक प्रेमी मित्र कभी भुलाया भी जासकता है, परन्तु एक प्रबल शत्रु खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते सदा हमारी दृष्टि पर चढ़ा रहता है। किसी रज्जु (रस्सी) में सीधी गांठ लगाना राग है, उल्टी गाठ लगाना द्वेष है। शास्त्रपरिभाषा के अनुसार **अनुकूल बन्धन** राग है, **प्रतिकूल बन्धन** द्वेष है। एक आदमी आप के सामने खड़ा है, दोनो के शरीर का स्पर्श नहीं है, केवल दृष्टि का स-

म्बन्ध है। वह आप को देख रहा है, आप उसे देख रहे हैं। दोनो का मध्य धरातल एक है, दोनो का सहयोग हो रहा है, शरीर से पृथक् रहते हुए भी दोनों का लक्ष्य एक बन रहा है। इस मुख-सांमुख्य का ही नाम "राग" है। लीजिए आप दोनों ने मुख को लौटा दिया। पीठ से पीठ मिला दी। परिणाम क्या हुआ—आप को दृष्टि पूर्व में है, तो दूसरे की दृष्टि पश्चिम में है, दोनों के लक्ष्य भिन्न भिन्न है। ध्यान रखिए-शरीर दोनो के परस्पर में मिले हुए हैं। सहयोग में असहयोग है, सम्बन्ध में असम्बन्ध है, मेल में बेमेल है। इस प्रतिकूल सहयोग का ही नाम "द्वेष" है। राग में विषय का आगमन होते हुए बन्धन है, एवं द्वेष में विषय के न आने पर भी बन्धन है। सर्प, विष, हिंसक प्राणी आदि से हम कोसों दूर भागते हैं। फिर भी इन के साथ मन का योग रहता है। कानून के जानने वालों को यह मालूम है कि चोरी करने वाले चोर की अपेक्षा चोरी की मन्शाह रखने वाले को अधिक दण्ड मिलता है। ठीक वही दशा यहां है। मन का विषय के साथ सम्बन्ध करने वाले द्वेषानुयायी का मन उस अप्रिय विषय के साथ दृढ़रूप से बद्ध रहता है। राग एवं द्वेष दोनों ही **आसक्ति** के कारण हैं। अथवा आसक्ति के ही **रागासक्ति** एवं **द्वेषासक्ति** भेद से दो विवर्त्त हैं।

आपने मार्ग में चलते हुए एक सुन्दर दृश्य देखा। दृश्य की अतिशयसुन्दरता से आपका मन उस ओर विशेष रूप से आकर्षित हो गया। तत्काल **उपलब्धिवेद** के प्रभाव से उस दृश्य की छाप आप के मन पर लग गई। आप आगे निकल गए, परन्तु मन में वही दृश्य चढ़ा हुआ है, मन दृश्याकाराकारित बन रहा है। मन पर दृश्य की जो छाप है (जो कि **संस्कार** नाम से प्रसिद्ध है), वही "**वासना**" नाम से प्रसिद्ध है। वह दृश्य संस्काररूप से मन पर बस जाता है, अतएव इसे वासना कहना अन्वर्थ होता है। यह वासना संस्कार करता क्या है? सुनिए! आप घर लोट आते हैं। परन्तु आपको यह मानस संस्कार "**चलें, फिर एकबार उस दृश्य को देखें**" यह विचार उत्पन्न किया करता है। फलतः इस चर्वणा से मन उस विषय के साथ बद्ध हो जाता है। वासना ही स्मृति की जननी है स्मृति ही रागासक्तिरूप विषयबन्धन की जननी है। यह आसक्ति होती कब है? यह भी विचारणीय प्रश्न है। यदि आप घर लौट

कर अन्यान्य कर्म्मों में व्यस्त हो जायंगे तो स्मृति का उदय न होगा। फलतः वासना संस्कार को तत्सम्बन्धी विषय की ओर मन को ले जाने का अवसर न मिलेगा। यदि आप और किसी कार्य में प्रवृत्त न होकर बार बार उसी विषय का चिन्तन करते रहे तो इस ध्यान के चिरकाल से अवश्य ही स्मृति का उदय हो जायगा। फलतः मन आसक्तिपाश में बद्ध हो जायगा। आपको यह नहीं भूलना चाहिए कि "चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्" के अनुसार संकल्प-विकल्पात्मक (ग्रहण-परित्यागधर्म्मावच्छिन्न) मन किसी विषयपर पर चिर-काल तक स्थिर नहीं रह सकता। क्षणभर इस विषय पर, क्षणमात्र उस विषय पर, कभी उसको लिया, इसको छोड़ा, कभी अन्य को लिया, अन्य को छोड़ा यह मन का स्वाभाविक धर्म्म है। जब मन चिरकाल तक किसी विषय पर स्थिर नहीं रह सकता तो यह मान लेना पड़-ता है कि आसक्ति के मूलहेतु चिरकालिक ध्यान में अवश्य ही मन को किसी अन्य सहयोगी की सहायता लेना आवश्यक हो जाता है। विशुद्ध मन चिरकाल तक एक ही विषय के अनुध्यान में सर्वथा असमर्थ है। वह सहयोगी है—बुद्धि। बुद्धि स्थिरलक्षणा है। बुद्धि के सहयोग से मन में स्थिरता का उदय होता है। फलतः बुद्धि सहकृत मन चिरकाल तक उस विषय के चिन्तन में समर्थ हो जाता है। मन स्वय स्निग्ध पदार्थ है। कारण मन का निर्म्माण अन्नद्वारा चान्द्रसोम से हुआ है। चान्द्रसोम भार्गव तत्त्व है। भृगु तेजोरूप है। इस अपने स्नेहगुण से तेजोलक्षणा बुद्धि की स्थिरता को लेकर मन विषय में आसक्त हो जाता है। यह अनुध्यान ही विषयसंग का कारण है। बुद्धि के इसी सहयोग को लोकभाषा में "खयाल" कहते है। खयाल बुद्धि का व्यापार है। यदि मन बार बार उस विषय का खयाल करता रहेगा, बुद्धि की मदद लेता रहेगा, तो अवश्य ही वह विषयासक्ति में फंस जायगा। यदि आपने खयाल (बुद्धि) हटा लिया तो आसक्ति को अवसर न मिलेगा।

बुद्धि तत्त्व **अपेक्षा उपेक्षा** भेद से दो भागो में विभक्त है। मन और बुद्धि का संयोग होता है। इस संयोग में यदि बुद्धि मन के आधीन है, तो उपेक्षा है। यदि मन बुद्धि के आधीन है, तो अपेक्षा है। उपेक्षा बुद्धि **उत्थिताकाङ्क्षा** (अपने आप उठी हुई स्वाभाविकेच्छा,

किंवा ईश्वरेच्छा) की जननी है। एवं अपेक्षा बुद्धि उत्थाप्याकाङ्क्षा (मन की इच्छा, किंवा-जीवेच्छा)·की जननी है। यदि उपेक्षा बुद्धि है, तो मन कभी आसक्ति का कारण नहीं बन-सकता। कारण आसक्ति में चिरकालिक अनुध्यान अपेक्षित है। वह बुद्धि का व्यापार है। इधर अपेक्षाभाव में बुद्धि मन के आधीन रहती हुई, अतएव अपने स्थिरतालक्षण अनुध्यान कर्म्म में असमर्थ रहती है। इसी उपेक्षा बुद्धि के सम्बन्ध में "उसने ग़ौर नहीं किया" यह कहा जाता है। यदि अपेक्षा बुद्धि है तो अनुध्यान को अवसर मिल जाता है। कारण यहां बुद्धि प्रधान रहती है, मन इसके आधीन रहता है। फलतः बुद्धि को अपने स्थिरधर्म्मप्रयोग का अवसर मिल जाता है। इसी सम्बन्ध में "उसने ख़ूब ग़ौर किया है" यह कहा जाता है। यद्यपि तेजोलक्षणा अपेक्षा बुद्धि स्वयं असंग है, वह विषयाकाराकारिता नहीं बनती। पर-न्तु चूँकि इसके साथ मन रहता है, अतः बुद्धि की कृपा से मन में संस्कार की छाप दृढ़ हो जाती है। विषय की छाप को लेना, दूसरे शब्दो में विषयाकार में परिणत होना मन का काम है, एवं उस छाप का दृढ़मूल बनना बुद्धि की महिमा है।

बुद्धितत्त्व भग-क्लेश भेद से (विद्या-अविद्या भेद से) दो भागों में विभक्त है, यह पाठक न भूले होंगे। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि अविद्याबुद्धि से युक्त मन ही आसक्ति का अधिष्ठाता बनता है। संस्कार को दृढ़ बनाना क्लेशरूप अविद्या का ही काम है। यदि बुद्धि में विद्या नामक भग भाग की प्रधानता है तो यह विषय के साथ सम्बन्ध करती हुई भी आसक्ति उत्पन्न नहीं करेगी। ऐसी परिस्थिति में हम इस निष्कर्ष पहुचते हैं कि—अविद्या-बुद्धिसक्त मन का चिरकाल तक विषय का चिन्तन करना ही अनुध्यान है, अथवा प्रज्ञान में विज्ञान का संश्लिष्ट होना ही अनुध्यान है, अथवा अविद्यारूप अपेक्षा बुद्धि के द्वारा मन से (इन्द्रियों के द्वारा) परिगृहीत विषय को चिरकाल तक गृहीत रखना ही अनुध्यान है। यही अनुध्यान आसक्ति का मूलजनक है। चिरकालिक यह विषयसंयोग ही आसक्ति, किंवा संग है, यही राग है। राग काम मूलक है, एवं द्वेष क्रोधमूलक है। अथवा काम रागमूलक है, क्रोध द्वेषमूलक है। जो लक्षण राग का है, वही द्वेष का है। दोनों में मन की चिरकालिक अनु-

त्यागजन्या आसक्ति विद्यमान है। एक में ग्रहण की आसक्ति है, एक में परित्याग है। एक को याद रखना चाहते हैं, दूसरे को भूलना चाहते हैं। कामक्रोधमूला यह रागासक्ति, एवं द्वेषासक्ति दोनों ही आत्मविनाश के कारण हैं।

राग-द्वेष से आत्मा का क्या बिगड़ता है? इस प्रश्न का समाधान करने की कोई आवश्यकता नहीं। राग से भी आत्मा में क्षोभ उत्पन्न होता है, एवं द्वेष से भी आत्मा क्षुब्ध रहता है। क्षोभ ही तो अशान्ति है, अशान्ति ही तो दुःख की आवासभूमि है, किंवा अशान्ति ही तो दुःख है— "अशान्तस्य कुतः सुखम्"। ज्योतिर्म्मय आत्मा का मन के द्वारा विषय मे बद्ध हो जाना ही इस का पारतन्त्र्य है। विषयावरण से आवृत आत्मा अपने स्वाभाविक विकास से वञ्चित हो जाता है। यह आवरणलक्षणा, किंवा बन्धनलक्षणा परतन्त्रता ही दुःख की मूलजननी है। होता यह है कि रागद्वेषरूपा आसक्ति के प्रवेश से बुद्धि में अविद्याभाव की प्रधानता हो जाती है, फलतः बुद्धि का विद्याभाग निर्बल बन जाता है। इस आसक्तिरूप अविद्या के आवरण से विद्याबुद्धि का आत्मविद्या (अव्ययविद्या) के साथ योग नहीं होने पाता। इस अन्तराय से बुद्धि आत्मा की स्वाभाविक ज्योति से वञ्चित होती हुई आत्मलक्षण प्रसादगुण से वञ्चित रह जाती है। आसक्तिमयी ऐसी बुद्धि वाला मनुष्य यदि विद्वान् भी है, शास्त्रज्ञ भी है, तब भी वह इन्द्रियसंयम करने में असमर्थ ही रहता है। आसक्तिप्रधान मनुष्य का जप-तप-प्राणायाम-ईश्वरोपासना आदि सब प्रयत्न व्यर्थ जाते हैं। इसी स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ (गी० २।६०)

आत्मा का अपना कोई नियत धरातल है। वही धरातल उपनिषदों में "दहराकाश" एवं "दभ्राकाश" नामो से व्यवहृत हुआ है। हृदयाकाशस्थ इसी दहरपुण्डरीक में ज्योतिर्घन आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। हृदयस्थ आत्मा में विषमता का सर्वथा अभाव है। क्योंकि हृदयस्थान में पूर्णप्रतिष्ठाभाव के कारण विषमता को प्रवेश करने का अवसर ही नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में अपेक्षाबुद्धिसहकृत मन यदि आसक्तिवश विषयों से राग करता है, तो आत्म

के उस ओर विषमस्थान में प्रतिष्ठित विषयों के संसर्ग से आत्मरूप समता से च्युत होता हुआ विषमभावमूलक विषाद से युक्त होजाता है। इसी प्रकार आसक्तिवश विषयों से द्वेष करता हुआ आत्मा से इस ओर हटता हुआ भी विषाद के कुचक्र में फंस जाता है। दोनों (राग-द्वेष) में हीं स्थानविच्युति है, दोनो में हीं क्षोभ लक्षण अशान्ति है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

करना क्या चाहिए ? कैसे आसक्ति हटाना चाहिए ? उत्तर वही सुप्रसिद्ध **वैराग्यबुद्धियोग** है। आसक्ति को आप नहीं हटा सकते, अपितु आसक्ति का प्रतिद्वन्द्वी **अनासक्तिलक्षण वैराग्य** ही इसे हटा सकता है। जबतक आसक्तिरूप अविद्यायुक्त बुद्धि में रागद्वेषनिवृत्तिलक्षण वैराग्यभाव उत्पन्न न किया जायगा, जबतक पूर्वकथनानुसार सारे उपाय व्यर्थ जांयगे। जिस दिन बुद्धि में, किंवा बुद्धिसहकृत मन में वैराग्य का उदय हो जायगा, उस दिन आसक्ति अपने आप हट जायगी। ऐसी वैराग्यभावोपेता बुद्धि का आत्मविद्या के साथ जो योग होगा, वही वैराग्यबुद्धियोग कहलावेगा। वैराग्य को बुद्धियोग नहीं कहा जाता है। बुद्धिका (आत्मा के साथ) योग तो स्वतः सिद्ध है, जैसा कि पूर्व के **बुद्धियोगनिर्वचन** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। स्वतः सिद्ध बुद्धियोग आसक्तिरूप आवरण से आत्मज्योति से वियुक्त होता हुआ विषमता का कारण बन जाता है। आसक्तिरूप वैराग्य के आ जाने से आवरण हट जाता है, समत्वलक्षण आत्मा से युक्त बुद्धि आत्मज्योति से योग करती हुई प्रसादभाव को प्राप्त हो जाती है। ऐसी अवस्था में **"वैराग्यबुद्धियोग"** का **"वैराग्यहेतुक-बुद्धियोग"** यही तात्पर्य्य समझना चाहिए। बुद्धियोग सिद्ध पदार्थ है, वैराग्य साध्य है। इस साध्य की सिद्धि के लिए, दूसरे शब्दों में वैराग्य के उदय के लिए कितने ही उपायो का आश्रय लेना पड़ता है। वह उपाय संग्रह ही वैराग्यविद्या है, यही राजर्षिविद्या है। राजर्षिविद्या में भगवान नें प्रधान रूप से अनासक्ति का ही उपदेश दिया है, एवं जिन वृत्तियों से, जिन उपायो से आत्मा राग द्वेष से विमुक्त होता है, वे उपाय बतलाए हैं। अमुक व्यक्ति में वैराग्यहेतुक बुद्धियोग का उदय हुआ कि नहीं, यदि इस का निश्चय करना हो तो उस व्यक्ति की वृत्ति (वर्त्तन-व्यवहार) पर लक्ष्य दीजिये। यदि उस व्यक्ति की वृत्ति में समता है, यदि उस के व्यवहार में **"दूसरा ही कोई करता है; दूसरा ही कोई**

राग: (विषादभूमिः)
योगविच्युतिः
रागासक्तिः
आत्मस्थानम् (प्रसादभूमिः)
हृदयम्
(समत्वम्) योगसिद्धिः

कराता है। दुनिया के काम ऐसे ही बनते हैं, ऐसे ही बिगड़ते हैं" इन भावों की आप प्रधानता देखते हैं, तो विश्वास कर लीजिए! उसने वैराग्यबुद्धियोगनिष्ठा में सिद्धि प्राप्त कर ली, यही इस योग की पहिचान है। एक हीरा मिल गया तो हर्ष नहीं, वह नष्ट हो गया तो क्षोभ नहीं। न किसी से राग, न किसी से द्वेष, इसी का नाम समता है। कार्य सिद्ध हो गया तो ठीक है, न सिद्ध हुआ तो ठीक है, यही समत्वयोग है। समय समय पर ज्ञान-कर्म्म के द्वारा आत्मा में ऊँचे नीचे भाव उत्पन्न हुआ करते हैं। कभी हमारा ज्ञान हमारे आनन्द का कारण बनता है, कभी हमारी समझ हमें दुःख देने लगती है। कभी कोई कर्म्म हमें प्रसन्न कर देता है, कभी किसी कर्म्म को करके हम पछताने लगते हैं। ज्ञान-कर्म्म के यह उच्चावचभाव हमारे मन में क्षोभ उत्पन्न करते रहते हैं। किसीने आके कह दिया कि तुम्हें अमुक व्यक्ति एक सहस्र रुपय्ये देगा। लीजिए सुनते ही बौद्धजगत् में एक तूफान खड़ा हो गया। जिस प्रकार एक रोगार्त्त मनुष्य को खाना पीना कुछ अच्छा नहीं लगता, वह रोगवेदना से छटपटाता रहता है, ठीक वही दशा इस की हो जाती है। अर्थलालसा सब कुछ भुला देती है। इसी प्रकार किसी ने कह दिया कि आज से तुम्हें सेवा कर्म्म करना पड़ेगा, लीजिए सारा उत्साह मन्द होगया। बस जो पुरुषपुङ्गव ज्ञान-कर्म्म के इन उच्चावचभावों में सतत प्रवृत्त रहता हुआ भी नित्य निर्द्वन्द्व रहता है, जो न कभी अट्टाट्टहास करता, न कभी अश्रुपात करता, विश्वास कीजिए! उसे वैराग्यबुद्धियोग मिल गया। ऐसे धीर की प्रज्ञा (बुद्धिसहकृत मन) सर्वथा स्थिर हो जाती है, क्यो कि उसने प्रतिभाग छोड़ते हुए आत्म-प्रतिष्ठा को अपना लिया है। ऐसे व्यक्ति की बुद्धि मन के आधीन हो जाती है, उपेक्षा-भाव का उदय हो जाता है। फलतः सतत विषयों में प्रवृत्त रहता हुआ भी यह निर्लिप्त रहता है। इसका अपना इच्छास्वातन्त्र्य टूट कर ईश्वरेच्छा में अन्तर्भूत हो जाता है। इसकी तो "कुर्वन्नेवेह कर्माणि न करोति न लिप्यते" यह अवस्था हो जाती है। इसी वैराग्यबुद्धि-योग का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं —

१ — योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ (२।४८।) ।

२ — इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ (५।१९)।

३ — सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (६।२९)।

४ — आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन !
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ (६।३२)।

हे अर्जुन ! तुम आसक्ति छोड़ कर (वैराग्यसंपत्ति प्राप्त करते हुए) योग (बुद्धि-योग) में प्रतिष्ठित हो जाओ। सिद्धि एवं असिद्धि में अपने आपको सम बना डालो। क्योंकि समत्व ही योग कहा जाता है। अर्थात् जिस दिन राग-द्वेषमूलिका आसक्ति को छोड़ते हुए तुम वैराग्यहेतुकबुद्धियोग का आश्रय ले लोगे, उस दिन तुम्हारा बुद्धिसहकृत मन योगलक्षण आत्मा में प्रतिष्ठित हो जायगा। उस दशा में न सिद्धि से तुम्हे राग होगा, न असिद्धि में द्वेष रहेगा, क्योंकि योग की यही महिमा है। आत्मयोग सचमुच समतालक्षण है। उस पर प्रतिष्ठित हो जाने से विषमता को अवसर ही नहीं मिलता।

जिन योगियो का मन समत्वयोग में प्रतिष्ठित हो गया, उन्होने इसी लोक में, इसी शरीर से सम्पूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त कर लिया। कारण स्पष्ट है। हृदयस्थ अव्ययब्रह्म "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" के अनुसार सर्वत्र सम है, अविद्यादि दोषों से एकान्ततः विनिर्मुक्त है। वैराग्य द्वारा अपनी बुद्धि का जिन्होने इस हृदयस्थ सम एवं निर्दोष ब्रह्म के साथ योग कर दिया, जो ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो गए, वे अवश्य ही विषमतालक्षण विश्व पर विजय प्राप्त कर चुके।

राजर्षिविद्याके सम्यक् अनुष्ठान से वैराग्यहेतुक बुद्धियोग को सिद्ध करने वाला, अतएव "योगयुक्तात्मा" नाम से प्रसिद्ध वह योगी सर्वत्र समानभाव से कर्म्मानुष्ठान में प्रवृत्त रहता हुआ अपने आप को सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित देखता है, एवं सम्पूर्ण भूतों को अपने आपमें प्रतिष्ठित देखता है। तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार विश्वव्यापक अव्ययेश्वर सम्पूर्ण विश्व में

व्याप्त है, एवं सम्पूर्ण विश्व उसके गर्भ में प्रविष्ट है, इसी आत्मीयता से जैसे उस का किसी के साथ न राग है, न द्वेष है, तथैव वैराग्यबुद्धियोग द्वारा अव्यय का साक्षात् करने वाला जीवात्मा (शारीरकआत्मा) अव्यय के साथ समभाव को प्राप्त होता हुआ द्वन्द्वभावों से पृथक् हो जाता है।

हे अर्जुन! जो (महापुरुष) अपने ही समान सर्वत्र देखता है, विश्व के दुःख को अपना दुःख समझता है, विश्व के सुख को अपना सुख समझता है, वही मेरी दृष्टि में श्रेष्ठ योगी है। अर्थात ज्ञान–ऐश्वर्य–धर्म्मबुद्धियोगों का अनुष्ठान करने वाले भी योगी अवश्य कहलाते हैं। परन्तु इन सबकी अपेक्षा समत्वलक्षण वैराग्यबुद्धियोग से सिद्धि प्राप्त करने वाला योगी ही सर्वश्रेष्ठ कहा जायगा। गीताप्रतिपादित **राजर्षिविद्या** द्वारा सिद्ध **वैराग्यबुद्धियोग** का यही संक्षिप्त स्वरूप-निर्वचन है।

—— १ ——

२—ज्ञान-बुद्धियोग

जिस प्रकार राग-द्वेषरूपा **आसक्ति** का प्रतिद्वन्द्वी भाव "**वैराग्य**" नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव **मोह** का प्रतिद्वन्द्वी भाव **ज्ञान** है। दर्शन ने ज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी इस मोह को "**अविद्या**" शब्द से व्यवहृत किया है। यद्यपि दर्शनमर्यादा के अनुसार ज्ञान के प्रतिद्वन्द्वी को अविद्या शब्द से व्यवहृत करना असङ्गत प्रतीत नहीं होता, परन्तु विज्ञान मर्यादा के अनुसार इसे अविद्या न कह कर मोह शब्द से ही व्यवहृत करना चाहिये। कारण मोह–अस्मिता–आसक्ति–अभिनिवेश इन चारों का ही नाम अविद्या है। अविद्या शब्द से चारों का ग्रहण होता है। इस दृष्टि से तो अस्मिता भी अविद्या है, अभिनिवेश भी अविद्या है, आसक्ति भी अविद्या है, मोह भी अविद्या है। परन्तु जब चारों के पृथक् नामों की हम गणना करेंगे तो उस समय मोह को मोह ही कहेंगे। फलतः विज्ञानपक्ष में— "अविद्या–अस्मिता–रागद्वेषा–भिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" इस के स्थान में "मोहास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च-क्लेशाः" यह रूप होना चाहिये। अस्तु हमारी बुद्धि में संस्कारवश, किंवा प्रकृति की कृपा से मोह का साम्राज्य रहता है। इस मोह के सम्बन्ध से बुद्धि भी मुग्ध बन जाती है, सद्-

सद्विवेक नष्ट हो जाता है। हमने पूर्व प्रकरणो में आत्मा को ज्ञानकर्म्ममय वतलाया है। साथ ही में यह भी वतलाया गया है कि पाप्मा की कृपा से ज्ञान के **सम्यक्ज्ञान, अन्यथाज्ञान, अज्ञान** भेद से तीन पर्व हैं, एवं कर्म्म के भी **सुकर्म्म, विकर्म्म, अकर्म्म** भेद से तीन ही पर्व हैं। विशुद्ध ज्योति सम्यक्ज्ञान है, इसका उत्तेजक किंवा उदय का हेतु सुकर्म्म (निवृत्ति लक्षण निष्काम कर्म्म) है। निष्काम कर्म्म के प्रभाव से जिस में इस निरावरण शुद्ध ज्योति-रूप सम्यक्ज्ञान का उदय हो जाता है, उसे ही जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त **"मुक्तात्मा"** कहा जाता है। गीता की परिभाषानुसार वही **"सिद्ध"** कहलाता है। इसी सिद्धावस्था के सम्बन्ध में— **"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" 'ज्ञानान्मुक्तिः" "ज्ञानाग्निः सर्व-कर्म्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" "उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"** इत्यादि सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। मलिन ज्योति अन्यथा ज्ञान है, यही साध्यावस्था है। इस अवस्था से युक्त व्यक्ति को ही गीता ने **"आरुरुक्षु"** कहा है। आवरण अज्ञान है। यह नष्टावस्था है। प्रकाश का (ज्ञानज्योति का) दोषो से सर्वथा आवृत हो जाना अज्ञानावस्था है, ज्ञानाभाव का नाम अज्ञान नहीं है, अपितु अज्ञान से एकान्ततः आवृत ज्ञान ही का नाम अज्ञान है। इसी अज्ञानावृत ज्ञान को, किंवा आवरणयुक्त ज्ञान को **"मोह"** कहा जाता है, जैसा कि — **'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः"** इत्यादि से स्पष्ट है। यहां ज्ञानज्योति का सर्वथा अभिभव है। अतएव इन्हे **"अचेतसः"** कहा जाता है। विशुद्ध लौकिक, केवल आहारनिद्राभयमैथुनादि सांसारिक विषयों को ही परम पुरुषार्थ मानने वाले ऐसे नष्टप्राय जन्तुओं के लिये ही भगवान् को **"सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः"** इन कटु शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। ऐसे अज्ञानियों के लिये तो शास्त्रोपदेश एक प्रकार से केवल अरण्य-रोदन ही बनता है। जिनके आत्मा में आवरण की कमी रहती है, उनका ज्ञान आंशिक रूप से विकसित रहता है। कुछ ज्योति है, इस लिए तो सत्कर्म्मों में प्रवृत्ति होती है। एवं साथ ही में आवरण भी है, इस लिये विशुद्ध सत्य का भी उदय नहीं होता। यही साध्यावस्था-पन्न आरुरुक्षु है। इनका जो मोह है, दूसरा ज्ञानबुद्धियोग उसे ही हटाता है। विशुद्ध

मोहावस्थापन्न विशुद्ध अज्ञानियों की चिकित्सा सर्वथा असंभव है। ज्ञानबुद्धियोग के प्रभाव से जब मोह रूप आवरण की एकान्ततः निवृत्ति हो जाती है, तो अन्तर्ज्योति का उदय हो जाता है। यही सिद्धावस्था, किंवा युक्तावस्था है। इस प्रकार ज्ञान कर्म्म के तारतम्य से तीन अवस्थाएं हो जातीं हैं।

१— १—शुद्धज्योतिः (शुद्धसत्वः) — सिद्धावस्था (युक्तयोगी) — मुक्तात्मा
   २—मलिनज्योतिः (मलिनसत्वः) — साध्यावस्था (युञ्जानयोगी) — आरुरुक्षुः
   ३—आवरणम् (विशुद्धं तमः) — लौकिकावस्था (अयुक्तः) — लक्ष्यच्युतः
२— १—सम्यग्ज्ञानम् — सुकर्म्म (चिकित्सितः) — मोहात्यन्तिकनिवृत्तिः
   २—अन्यथाज्ञानम् — विकर्म्म (चिकित्स्यः) — मोहस्यांशात्मना प्रवेशः
   ३—अज्ञानम् — अकर्म्म (असाध्यः) — मोहात्यन्तिकप्रवृत्तिः

उक्त तीनो ज्ञानपर्वों, एवं तीनों कर्म्मपर्वों का परस्पर में संघर्ष होता रहता है। हम यह प्रत्यक्ष में अनुभव करते हैं कि कभी क्षणमात्र के लिये हमारी बुद्धि में सात्विक विचार आते हैं, कभी मलिन विचार प्रवाहित रहते हैं। कभी हम सर्वथा मूढ़ (अज्ञानी) बन जाते हैं। बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। इन्हीं तीनों विचारों के आधार पर कभी हम सुकर्म्म की ओर, कभी विकर्म्म की ओर प्रवृत्त होते हैं। कभी अज्ञान के प्रभाव से "क्या करें कोई काम ही नहीं दीखता" ऐसे अक्षरों का प्रयोग करते हुए सर्वथा अकर्म्मण्य बन जाते हैं। इस प्रकार हमारी बुद्धि किसी एक ज्ञान-अन्यथाज्ञान-अज्ञान-सुकर्म्म-विकर्म्म-अकर्म्म पर निर्भर न रह कर समय समय इन ६ओ के संघर्ष में पड़ी रहती है। प्राकृतिक विज्ञान के अनुसार संघर्ष सदा क्षोभ का कारण है। उदाहरण के लिये यों समझिये कि हम किसी वस्तु को प्राप्त करना चाहते हैं। उस वस्तु की ओर हमारा मन झुक रहा है, यही काम है। अब उसी वस्तु को दूसरा भी चाह रहा है। एक ही वस्तु पर दो व्यक्तियों के काम ने आक्रमण कर रक्खा है। इन दोनों कामों के संघर्ष का परिणाम यह होता है कि दोनों व्यक्तियों में एक दूसरे के प्रति क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इस क्रोध से "हम अमुक विषय को चाहते

है' इस मानस संस्कार पर आघात होता है। हमें यह प्रतीत होने लगता है कि अमुक व्यक्ति हमारे अभिलषित पदार्थ को लेना चाहता है। यदि वह न होता तो हमारी इच्छा में कोई बाधा न थी। इस संस्कार के आघात से मन क्षुब्ध हो जाता है। मन के क्षोभ से बुद्धि क्षुब्ध हो जाती है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक जाता रहता है। हम शून्यवत् बन जाते हैं। अक़्ल कोई काम नहीं करती। सामने कोई खड़ा है, अथवा नहीं यह भी भान नहीं रहता, जागते हुए भी सो रहे हैं। इस प्रकार ज्ञानकर्म्म के मिथः संघर्ष से उपमर्द्दित, काम से उत्पन्न क्रोध के आवेश से उपमर्द्दित संस्कारों में जो एक क्षोभ उत्पन्न होता है, उस क्षोभ से बुद्धि में जो एक स्तब्ध वृत्ति का उदय होता है, वही मोह किंवा संमोह नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् व्यास ने इसी को "मुग्धावस्था" कहा है। "मुग्धेऽर्धसंपत्तिःपरिशेषात्" (शा०सू० ३।२।१०) के अनुसार इस मोहावस्था में आधी जाग्रदवस्था रहती है, आधी सुप्तावस्था रहती है। जाग्रदवस्था में चक्षु–मुख–हस्तपादादि की जो चेष्टाएं हैं, वे भी यहां उपलब्ध होतीं हैं। एवं सुप्तावस्था की विवेकाभावरूपा जो चेष्टाएं हैं, वे भी यहां विद्यमान हैं। फलतः मुग्धावस्था में दोनों अवस्थाओं के धर्म्मों का समन्वय हो जाता है। यही चित्त (मन) का वैचित्र्य है, यही वैचित्र्य मोह है। इस मोह से बुद्धि का जो ज्ञानरूप विद्याभाग है, वह आवृत हो जाता है। परिणाम इस का यह होता है कि हमें कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। फलतः आत्मा सदा क्षुब्ध रहता है। किसी ने भला बुरा कह दिया तो हम महादुःखी हो जाते हैं। अज्ञानावृत ज्ञानरूप संघर्षजनित मोह हमें पद पद पर लक्ष्यच्युत किया करता है। जिस दिन ज्ञानोदय से मोह निवृत्त हो जाता है, उस दिन हम सर्वथा निर्वेदभाव को प्राप्त हो जाते हैं, जैसा कि भगवान् कहते हैं —

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी०।२।५२)

इस उक्त लक्षण मोह नामक क्लेश से उत्पन्न जो शोक है, उसकी निवृत्ति के लिये मोह का प्रतिद्वन्द्वी, अतएव प्रतिबन्धक ज्ञानबुद्धियोग (ज्ञानहेतुक बुद्धियोग) अपेक्षित है।

बुद्धि में इस ज्ञान का उदय कैसे, किन उपायों से, कब सम्भव है ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए भगवान् ने जो उत्तर दिये हैं, उनका संग्रह ही ज्ञानविद्या है। ज्ञानोदय से सिद्धावस्था का उदय होता है, अतएव इस ज्ञानविद्या को **सिद्धविद्या** भी कहा जाता है। जिस प्रकार अनासक्ति वैराग्यविद्या का रहस्य था, एवमेव इस ज्ञान विद्या का मूल रहस्य **अन्तर्ज्योति** है। वैराग्य से जैसे आत्मा में अनासक्तिभाव का उदय होता है, एवमेव ज्ञान से अन्तर्ज्योति का उदय होता है।

ज्योतितत्व अन्तः— बहिः भेद से दो भागों में विभक्त है। दोनों के स्वरूपज्ञान के लिये सूर्य्य चन्द्रमा को सामने रखिये। सूर्य्य ज्योतिर्घन है, चन्द्रमा भी ज्योतिर्म्मय है। परन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। सूर्य्य चारो ओर से (बाहर भीतर सब ओर से) प्रकाशित है। इसे अपने को प्रकाशित करने के लिये अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। यह अपने ही प्रकाश से आप भी सर्वात्मना प्रकाशित है, एवं इसने अपने प्रकाश से त्रैलोक्य को भी प्रकाशित कर रक्खा है। अतएव सूर्य्य को "स्वज्योति" कहा जाता है, यही अन्तर्ज्योति है। चन्द्रमा अत्रि के पुत्र माने गये हैं। प्राणविज्ञान× के अनुसार अत्रि प्राण पारदर्शकता का प्रतिबंधक बनता

× प्राणविद्या ही वेदविद्या है। वेद में इन प्राणों के बड़े बड़े गम्भीर रहस्यों का प्रतिपादन हुआ है। इन प्राणों की प्रधान रूप से १० जातियें मानी गईं हैं। इन में ५-५ प्राणों के दो विभाग हैं। दोनों परस्पर में विद्या-अविद्या चतुष्टयी की तरह प्रतिद्वन्द्वी हैं। ऋषि पहिला एवं मुख्य प्राण है। इसका प्रतिद्वन्द्वी राक्षसप्राण है। रुधिर शोषण करना इस प्राण का मुख्य काम है। खून को सफेद बना कर प्राणी को निर्बल करना इसी प्राण का अन्यतम कर्म्म है। स्थूलकाय प्राणी भी राक्षसप्राण के प्रवृद्ध हो जाने पर बिलकुल पीला पड़ जाता है। चेहरा सफेद हो जाता है। ऋषिप्राण के निर्बल हो जाने पर भी राक्षसप्राण को प्रवेश करने का अवसर मिलजाता है। दूसरा पितरप्राण है। इसका प्रतिद्वन्द्वी पिशाचप्राण है। मांस पर आक्रमण कर उसे सुखा देना इस का कार्य है। पिशित मांस का नाम है। "पिशितमश्नाति" के अनुसार पिशित पर आक्रमण करने वाला प्राण ही पिशाच है। इसके आक्रमण से हड्डी २ निकल आती है। इसी को "सूखने का रोग" कहा जाता है। तीसरा देवप्राण है। इसका प्रतिद्वन्द्वी असुरप्राण है। बुद्धि को नष्ट

हुआ धामच्छद पदार्थों का उत्पादक माना गया है। वाक्–आपः–अग्नि नाम के तीन शुक्रों से धामच्छद् विश्व का निर्माण हुआ है, जैसा कि पूर्व के आत्मविद्याप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। यही तीनों शुक्र क्रमशः अत्रि, भृगु, अंगिरा नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन तीनों में अंगिरा नामक अग्निशुक्र भी अग्नि–यम–आदित्य भेद से तीन भागों में विभक्त है। भृगु नामक आपः शुक्र भी आपः–वायु–सोम भेद से तीन भागों में विभक्त है। परन्तु अत्रि नामक वाक् शुक्र तीन नहीं हैं, अतएव "न त्रिः" इस निर्वचन से इसे अत्रि कहा जाता है। अपिच यह सौरज्योति को खा जाता है, अपने पारदर्शकता प्रतिबन्धक धर्म्म के प्रभाव से जिस पदार्थ में अत्रिप्राण प्रधान रूप से रहता है, उसके आरपार रश्मियों को नहीं जाने देता, स्वयं उन को पी जाता है। इस लिये भी "अत्तीति-अत्रिः" इस निर्वचन से इसे अत्रि कहा जाता है। सर्वथा कृष्ण चन्द्रमा में अत्रिप्राण की ही प्रधानता है। दूसरे शब्दों में अत्रिप्राण के आगमन से धामच्छद चन्द्रमा का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। अतएव इसे अत्रिपुत्र मानना न्यायसंगत होता है। इसी अत्रि की कृपा से चन्द्रमा में आने वाला सौरप्रकाश आरपार न निकल कर प्रतिफलित होता हुआ वापस लौट जाता है। चन्द्रमा का जो प्रकाश है, वह सूर्य्य का ही प्रकाश है। साथ ही में यह प्रकाश अन्तर्मुख नहीं, अपितु वहिर्मुख है। इसी लिये चन्द्रमा को "परज्योति" कहा जाता है, यही वहिर्ज्योति है।

यही दो विभाग आत्मप्रपञ्च के सम्बन्ध में समझिये। आत्मज्योति ही आत्मा-प्रकृति भेद से दो भागों में विभक्त हो जाती है। आत्मज्योति (अव्ययज्योति) अन्तर्ज्योति है, यही ज्ञानज्योति है। प्रकृतिज्योति वहिर्ज्योति है, यही भूतज्योति है। सूर्य्य–चन्द्रमा–विद्युत–तारक–

करना, बुद्धि पर आक्रमण करना इस का मुख्य कर्म्म है। चौथा मनुष्यप्राण है। इसका प्रतिद्वन्द्वी गन्धर्वप्राण है। मरने के अनन्तर प्राणी की जो अवस्था रहती है वही गन्धर्वप्राण है। इस का मन पर आक्रमण होता है। पांचवा ग्राम्यपशुप्राण है, इसका प्रतिद्वन्द्वी आरण्यपशुप्राण है। इन सब प्राणों का विवेचन प्रकृत में नहीं किया जा सकता। इसके लिये ऋषिरहस्यादि ग्रन्थ ही द्रष्टव्य हैं।

अग्नि आदि सब का इस भूतज्योति में ही अन्तर्भाव है। **"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"** इस औपनिषद सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानज्योति जहा भूतज्योति की मूलप्रतिष्ठा है, वहा **"पञ्चज्योतिरयं पुरुषः"** इस ब्राह्मण सिद्धान्त के अनुसार बिना भूत-ज्योति के ज्ञानज्योति भी स्वस्वरूप से विकसित नहीं हो सकती। दोनों का परस्पर में उपका-र्योपकारक सम्बन्ध है। सूर्य्यज्योतिरूप भूतज्योति से बुद्धि का, एवं चन्द्रज्योतिरूप भूतज्योति से मन का स्वरूप निर्म्माण हुआ है। फलतः अध्यात्मसंस्था में इन दोनो को हम भूतज्योति कह सकते हैं। इनके साथ हृदयस्थ अन्तर्ज्योतिर्घन अव्ययात्मा का सम्बन्ध रहता है। यदि इन दोनो ज्योतियो के मध्य में मोह नामक क्लेश प्रविष्ट हो जाता है तो अन्तर्ज्योति आवृत हो जाती है। फलतः बुद्धि अन्तर्ज्योति से वञ्चित होती हुई, केवल भूतज्योति के चक्र में बद्ध होती हुई क्षोभ का कारण बन जाती है। यही क्षोभ मोह है, यही अज्ञान है, ज्ञानज्योति-र्विहीना बुद्धि का यही अविद्याभाव है। ऐसी स्थिति में अव्ययविद्या में बुद्धिविद्या को बिना किसी रुकावट के युक्त करने के लिये मोह की निवृत्ति अपेक्षित है, एव तदर्थ अन्तर्ज्योतिर्लक्षण ज्ञान का आश्रय अपेक्षित है। वही ज्ञान मोह को हटावेगा, फलतः निरावरण बुद्धि अपनी ज्ञान-सम्पत्ति से विकसित होती हुई आत्मविद्या के साथ योग कर लेगी। यही दूसरे ज्ञानबुद्धियोग का संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है। इसमें ज्ञान ही प्रधान द्वार है, अतएव भगवान् ने इस ज्ञान-विद्यापरपर्य्यायिक सिद्धविद्या में प्रधान रूप से ज्ञान-विज्ञानलक्षण अन्तर्ज्योति के स्वरूप, एवं तत्प्रा-प्त्युपायो पर ही विशेष प्रकाश डाला है। तुष्टि ही इस योग की सफलता की पहिचान है। तुष्टितत्व १७ भागों में विभक्त है। जिसमें आप इन तुष्टियों का विकास देखें, विश्वास कर लीजिये, उसे ज्ञानयोगनिष्ठा प्राप्त हो गई।

—— २ ——

३—ऐश्वर्य-बुद्धियोग

आनन्द-विज्ञान गर्भित, मनः-प्राण-वाङ्मय, अक्षर-क्षरपुरुष से नित्य सम्बद्ध, बहिरंग पञ्चप्रकृतिविशिष्ट, शुक्रत्रयावच्छिन्न विश्वमूर्त्ति का ही नाम "ईश्वर" है। इस ईश्वर की ईश्वरता

का ही नाम "ऐश्वर्य" है। यह ऐश्वर्य, किंवा ईश्वरता ज्ञान–कर्म्म–अर्थ भेद से तीन तन्त्रों में विभक्त है। ज्ञान उसका पहिला ऐश्वर्य है, कर्म्म उसका दूसरा ऐश्वर्य है, एवं अर्थ उसका तीसरा ऐश्वर्य है। इन तीनों ऐश्वर्यों से, किंवा त्रिवर्ग ऐश्वर्य से ईश्वर सब का ईशिता (स्वामी-अध्यक्ष) बनता हुआ सम्पूर्ण विश्व में विकसित हो रहा है। ऐश्वर्यशाली इसी ईश्वर के अंश का नाम जीवात्मा है। फलतः इस में भी उन ईश्वरीयधर्म्मों का आगमन स्वतःसिद्ध है। वेद ने ईश्वर की ईश्वरता के सम्बन्ध में जहां ज्ञान-कर्म्म- अर्थ यह तीन तन्त्र माने हैं, वहां उपवेद भूत आयुर्वेद ने इन्हीं तीनों को काल-कर्म्म अर्थ नामों से व्यवहृत किया है। मन ही काल-त्मक शिव है, यही कालचक्र है, शिरोयन्त्र ही इस की प्रतिष्ठा है। प्राण ही कर्म्म है, यही ब्रह्मा है, हृदययन्त्र ही इसकी प्रतिष्ठा है। वाक् ही अर्थ है, यही विष्णु है, नाभियन्त्र ही इसकी प्रतिष्ठा है। इस प्रकार अध्यात्मसंस्था के तीनों यन्त्रों के द्वारा हम ईश्वर की ईश्वरता के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं।

१–ज्ञानम्–(कालः)–कालचक्रम् (कालः–शिवः)-मनः
२–क्रिया–(कर्म्म)–कर्म्मचक्रम् (कर्म्म–ब्रह्मा)-प्राणः
३–अर्थः–(अर्थः)–अर्थचक्रम् (अर्थ–विष्णुः)-वाक्

}–"अयंसदेकमयमात्मा"

—— १ ——

मनःप्राणवाङ्मय ईश्वर प्रजापति जैसे ज्ञान से सर्वज्ञ, क्रिया से सर्वशक्तिमान्, एवं अर्थ से सर्ववित् बनता हुआ सर्वमूर्त्ति, किंवा पूर्णमूर्त्ति बन रहा है। एवमेव तदंशभूत मनःप्राण-वाङ्मय जीवप्रजापति भी "पूर्णमदः पूर्णमिदम्" यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह"-"योऽसौ, सोऽहम्–योऽहं सोऽसौ" इत्यादि प्रमाणों के अनुसार ईश्वर की ज्ञान–क्रिया–अर्थ तीनों विभू-तियो से पूर्ण है। ईश्वरांशभूत जीव में किसी बात की कमी नहीं है। परन्तु आश्चर्य यह है कि ईश्वर के इन तीनों ऐश्वर्यों से नित्य युक्त रहता हुआ भी जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, एवं अल्प-वित् बन रहा है। "हमारे यह बात समझ में नहीं आती, हम उस कामको करने में असमर्थ हैं, हमारे पास उस साधन की कमी है" इस प्रकार यह अपने जीवन में ज्ञान-क्रिया-अर्थ तीनों

विभूतियों की कमी का अनुभव करता रहता है। आज यह नहीं, कल वह नहीं, पर्य्याप्त द्रव्य नहीं, पर्याप्त अन्न नहीं, पर्याप्त गृह नहीं, कहीं से वह मिल जाय, कहीं से वह कुछ दे जाय, इस प्रकार यह निरन्तर अर्थ के पीछे अनुधावन करता रहता है यह सब क्यों होता है ? इस प्रश्न का उत्तर **अस्मिता** नाम की अविद्या है। आत्मा के वास्तविक विकास को, आत्मा के ऐश्वर्य को को रोकने वाला भाव ही अस्मिता है "स्मिङ्-ईषद्धसने" के अनुसार विकास ही स्मितभाव है। खिला हुआ पुष्प स्मित है, हंसता हुआ मुख स्मित है। मुकुलित पुष्प अस्मिता है, मुर्झाया हुआ चेहरा अस्मिता है। बुद्धि में जब इस अस्मिता क्लेश का आगमन हो जाता है तो रहता हुआ भी आत्मविकास दब जाता है। इस अस्मिता से अनैश्वर्यलक्षण शोक का उदय हो जाता है, सदा मन मुर्झाया रहता है, चित्त अशान्त रहता है। इस शोक को हटाने का उपाय है, अस्मिता क्लेश को हटाना। अस्मिता तभी हट सकती है, जब कि अस्मिता का प्रतिद्वन्द्वी ऐश्वर्य बुद्धि में उदित हो। बस जिस उपाय से बुद्धि अपने विद्यारूप ऐश्वर्य से युक्त हो जाती है, जिस ऐश्वर्य के आने से अनैश्वर्यमूलिका अविद्या अपने आप हट जाती है, उन उपायों का संग्रह ही ऐश्वर्यविद्या है। इसी को **राजविद्या** कहा जाता है। राजविद्या से ऐश्वर्यहेतुक बुद्धियोग का उदय हो जाता है, जिस प्रकार ज्ञानविद्यापरपर्यायक सिद्धविद्या का मौलिक रहस्य अन्तर्ज्योति था, एवमेव इस ऐश्वर्यविद्या का मौलिक रहस्य ईश्वरानन्यत्व ही समझना चाहिए। हमारे और उसके उसके मध्य में अस्मिता का आवरण आगया है। इसी लिए हम अपने अंशी कि ईश्वरता को भूल रहे हैं। हम भूल जाते हैं कि हम उसी के एक अंश हैं, भाग हैं, अवयव हैं, अङ्ग हैं। हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि यदि हमे हमारे वास्तविक इतिहास का पता लग जाता है तो हमारे आत्मा में अपने आप नवीन बल का सचार हो जाता है। उदाहरण के लिए आज के भारतवर्ष को लीजिए। हमें अपने मौलिक रहस्यरूप सत्य इतिहास से वञ्चित रखते हुए आरम्भ में ही मिथ्या इतिहासो के द्वारा हमारे यह संस्कार बना दिए गए कि "हम पहिले, पूर्वयुग में मूर्ख थे, असभ्य थे, जङ्गली थे, जड़ पदार्थों की उपासना करने वाले थे, विज्ञानशून्य थे"। परिणाम यह हुआ कि आज इस मिथ्यासस्काररूप अस्मि-

ता के आवरण से हम अपने उस पूर्व ऐश्वर्य को भूलते हुए भ्रमवश अस्मिता प्रचारकों का ही गुणगान करने लगे। यदि कोई पुरुष पुङ्गव हमें सत्साहित्यद्वारा (वैदिक विज्ञानद्वारा),एवं सत्य इतिहास द्वारा यह बता देता है कि तुम ऐसे न थे वैसे थे, तो तत्काल हमारी अस्मिता हट जाती है। जिस दिन हमें अपने वास्तविक स्वरूप का पता लग जाता है, उसी दिन हम अपने आत्मा में एक अपूर्व विकास का अनुभव करने लगते हैं। इसी विकास के बल पर हम अपने खोए हुए, एवं छिने हुए, किंवा छीने गए ऐश्वर्य को प्राप्त करने में समर्थ होजाते हैं। दो प्रतिद्वन्द्वियों में से पराजित होने वाले व्यक्ति के कान में यदि "अरे तुम तो अमुक के वंशज हो, कोई पर्वाह नहीं शेर ! फिर से मुकाबला करो" यह अक्षर पड़ जाते हैं तो अपने वंशजों का रक्त जाग्रत हो जाता है, अस्मिता पलायित हो जाती है। इस प्रकार ऐसे सैंकड़ो स्थल वत-लाए जासकते हैं, जिन में अस्मिता के प्रभाव से रहता हुआ भी बल-पौरुष दबा रहता है, एवं वहां वास्तविक ऐश्वर्य के परिचय करा देने से आत्मपौरुष विकसित हो जाता है। ठीक यही दशा यहां समझिए। जीवात्मा अस्मिता के आवरण से अपने मूलप्रभव ईश्वर के ऐश्वर्य से वञ्चित होता हुआ शोकग्रस्त बन रहा है। दूसरे शब्दों में यो समझिए कि अस्मिता की कृपा से अल्पशक्तियुत जीवात्मा की बुद्धि भी अस्मितारूप अविद्या से युक्त हो रही है। इस अविद्या के प्रभाव से बुद्धि में आने वाला आत्मा का ऐश्वर्य आवृत हो रहा है। फलतः विद्याबुद्धि का अव्ययरूप विद्या के साथ योग नहीं हो रहा। यही इस जीवात्मा की ऐश्वर्य से विच्युति है। इस के लिए इसे बुद्धि की अस्मिता हटानी पड़ेगी। साथ ही में अस्मिता हटाने के लिए इसे ईश्वर की अनन्य उपासना करनी पड़ेगी। चिरकाल तक ज्ञान-विज्ञानमूर्त्ति ईश्वर का अनुध्यान करना पड़ेगा। इस उपासना के बल से ज्यों ज्यों जीवात्मा ईश्वर के निकट पहुंचता जायगा, त्यों त्यों बुद्धि से अस्मितारूपा अविद्या का आवरण हटता जायगा। जिस दिन उपासना सिद्ध हो जायगी, जीवात्मा सर्वात्मना उस का भक्त (भाग–अंश) बन जायगा, उस दिन बुद्धि से अस्मिता का एकान्ततः विनाश हो जायगा, तत्काल बुद्धि में ऐश्वर्य का उदय हो जायगा। ऐसी ऐश्वर्य-दशा। बुद्धि का अव्ययात्मा के साथ जो योग होगा, वही ऐश्वर्य नामक बुद्धियोग कह

लाएगा। ईश्वर अनन्तघन है। इस की उस अनन्तशक्ति का भागीदार बनने के लिए "सा परानुरक्तिरीश्वरे" (शाण्डिल्यसूत्र) अनुसार खाते, पीते सोते, उठते, बैठते, चलते सदा उस ईश्वर में परानुरक्ति (अनन्यभाव से ईश्वर की ओर मन को लगाना, अनन्ययभाव से आत्म समर्पण) रखनी पड़ेगी, इससे उस शक्ति का इसमें प्रवेश होगा। जिस प्रकार एक विजातीय अपरिचित के आने से एक बालक कुण्ठित हो जाता है, एवं सजातीय बन्धु के आने से उस की मुकुलित वृत्ति उच्छिन्न हो जाती है। एवमेव अस्मितारूप विजातीय क्लेश के आजाने से हमारी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। सजातीय ईश्वर बन्धु के संसर्ग से हमारा यह मुकुलित भाव दूर हो जाता है, हम अपने वास्तविक रूप को पहिचान लेते हैं। इस बुद्धियोग का प्रधान आलम्बन ईश्वर की अनन्य उपासना है, इसी लिए भगवान् ने ऐश्वर्यविद्यापरपर्य्यायिका इस राजविद्या में प्रधान रूप से ज्ञान-विज्ञानसयुक्ता, उपासना लक्षणा ईश्वर की अनन्यभक्ति का ही विशेष रूप से प्रतिपादन किया है, जसा कि विद्याभाष्य में स्पष्ट हो जायगा। इस उपासना का फल है, अवर-परलक्षण अव्ययप्राप्तिद्वारा नैष्कर्म्यभाव की सिद्धि।

अव्ययपुरुष के विद्या–काम–कर्म्म यह तीन रूप माने गए हैं। आनन्द-विज्ञान विद्या व्यय है, इसे ही पराव्यय कहा जासकता है। प्राण-वाक् कर्माव्यय है, इसे ही अवर अव्यय कहा जासकता है। दोनों के मध्य में श्वोवसीयस नामका मन प्रतिष्ठित है, यही कामात्मा है। मद

* विज्ञानशास्त्र में मनस्तत्त्व चार भागों में विभक्त है। दूसरे शब्दों में अध्यात्मसंस्था में पृथक् पृथक् नाम-रूप कर्म्मवाले चार मन प्रतिष्ठित हैं। सुख-दुःख का अनुभव करने वाला, नियत विषय के कारण इन्द्रियकोटि में ही अन्तर्भूत संवेदनीय मन पहिला मन है। इसे ही इन्द्रियमन भी कहा जाता है। इसी के लिए अथर्वसंहिताने "मनः षष्ठानीन्द्रियाणि" (अथर्वसं०) यह कहा है। वाक्- प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन इन पांच इन्द्रियों में जो पांचवां मन है, वह यही वेदनीय मन है। इसी को हम बहिर्म्मन कह सकते हैं। उक्त सब इन्द्रियों का सञ्चालन करने वाला, अतएव सर्वेन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध, किन्तु इन्द्रिय न होने से अनिन्द्रिय नाम से प्रसिद्ध अतीन्द्रिय मन ही दूसरा मन है। यही "प्रज्ञान" नाम से भी प्रसिद्ध है। इसे हम अन्तर्मन नाम से भी व्यवहृत कर सकते है। तीसरा मन महदात्मक है। इसे ही चित्त-महान्-सत्त्व-

का दोनों से सम्बध है। यदि मन अवर अव्यय की ओर है तो संसार है, पर अव्यय की ओर है तो मुक्ति है, अपने स्थान पर है तो दोनों का समन्वय है। पर—अवर—मनो भेदसे अव्ययात्मा के तीन विवर्त्त हो जाते हैं। इन्हीं तीनों के आधार पर प्राचीनों के ज्ञान— भक्ति— कर्म्म नाम के तीनों योग प्रतिष्ठित हैं। विशुद्ध सांसारिक कर्म्मों मे लिप्त रहना **कर्म्मयोग** है। इसका साक्षी प्राणवाङ्मय अवर अव्यय है। सांसारिक कर्म्मों का एकान्ततः परित्याग करते हुए सर्वकर्म्म—परित्यागलक्षण सन्यास का अनुगमन करना **ज्ञानयोग** है। इस का साक्षी आनन्दविज्ञानमय पराव्यय है। कर्म्म सब करते रहना, परन्तु ईश्वर के निमित्त, यही **भक्तियोग**, किंवा उपासना

गुण आदि विविध नामों से व्यवहृत किया जाता है। चन्द्रस्थानीय प्रज्ञानमन स्वस्वरूप से घोर कृष्ण है। सूर्य्यस्थानीय विज्ञान (बुद्धि) प्रकाश से यह प्रकाशित होता है। बस जो तत्व इस प्रज्ञान के साथ विज्ञानज्योति का सम्बन्ध कराता है, वही तीसरा चित्ताख्य सत्व मन है। इसका, इसका ही नहीं सब का आलम्बन अव्यय मन ही श्वोवसीयस मन है। इसी को चिदात्मा-चिन्मन-श्वोव-स्यसब्रह्म इत्यादि नामो से भी व्यवहृत किया जाता है। पहिले के तीनो मन करणरूप हैं, एवं चौथा मन आत्मरूप है। इस पर अन्तश्चिति, वहिश्चिति भेद से दो प्रकार की चितिएं होती है। आनन्द-विज्ञान की चिति ही अन्तश्चिति है। प्राण-वाक् की चिति ही वहिश्चिति है। अन्तश्चितिरूप अव्यय ही पर है, यही मुक्तिसाक्षी है, यही ज्ञानात्मा है। वहिश्चितिरूप अव्यय ही अवर है, यही सृष्टिसाक्षी है, यही कर्म्मात्मा है। दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव उभयधर्म्मावच्छिन्न मन ही कामात्मा है।

१—चिदात्मा--अव्ययमन —श्वोवस्यसं ब्रह्म -आलम्बनमनः- आत्समनः			आत्मा
२—चित्तम् -महन्मनः —गुणात्मकं मनः—सत्वमनः		अन्तर्मनः	कामात्मा
३—प्रज्ञानम्--सर्वेन्द्रियमन.—अनिन्द्रियमनः--अनिन्द्रियमनः--वहिर्मनः			
३—वेदनीयम्—इन्द्रियमनः — × — × —प्राणमनः			

इन चारों मे से प्रकृत की ईश्वरोपासन में चिदात्मा नामक मन को ही सिद्ध करना पड़ता है। यही चयन का अधिष्ठाता बनता हुआ शान्ति का कारण है। इसी के विकास को लोक-भाषा मे "चैन" (चयन-चिति-वलागमन) कहा जाता है। इसके अभाव को ही हमारी प्रान्तीय भाषा में "अचेत्" (अचयन-अचिति-वलनिर्गमनलक्षणा अशान्ति) कहा जाता है।

है। इसका साक्षी मध्यस्थ अव्यय मन है। इस में पर अव्यय के ज्ञान भाग का भी समावेश है, अवर अव्यय के कर्म भाग का भी समावेश है। अतएव भक्तियोगापरपर्य्यायक इस उपासना मे कर्म्म भी किया जाता है, ईश्वरानुध्यानलक्षण ज्ञान की ओर भी प्रवृत्ति रक्खी जाती है। यह मन मध्यपतित होने से ज्ञान-कर्म्म (पर-अवर) दोनों को भक्ति (अवयव) बना हुआ है। इन्द्रियमन का प्रज्ञानमन में समन्वय करते हुए, दूसरे शब्दों में इन्द्रियसंयमलक्षण योग का अनुष्ठान करते हुए चित्त द्वारा आत्मा को इस परावरलक्षण भक्तिरूप मन के साथ युक्त कर देना ही भक्तियोग है। यही भक्तिनिष्ठा की सिद्धि है। कर्म्म कर रहे हैं, परन्तु आत्मार्थ, ईश्वरार्थ। अतएव यह कर्म्म कर्म्म होता हुआ भी नैष्कर्म्यकोटि में प्रविष्ट हो जाता है।

१—आनन्दः }
२—विज्ञानम् } —पराव्ययः (ज्ञानप्रधानः) कर्म्मनिवृत्तिलक्षणो ज्ञानयोगः।

१—मनः } —— उभयाव्ययः (कामप्रधानः) उभयलक्षणो भक्तियोगः।

१—प्राणः }
२—वाक् } —अपराव्ययः (कर्म्मप्रधानः) कर्म्मप्रवृत्तिलक्षणो कर्म्मयोगः।

जिस व्यक्ति में आप अवर-पराव्ययसमन्वितरूप कर्म्माबन्धनलक्षण नैष्कर्म्यभाव देखें, विश्वास कीजिये ! उसने ऐश्वर्यबुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करली। ऐसा व्यक्ति प्रत्येक कर्म्म में "भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी" यही वृत्ति रखता है। कर्म्मसिद्धि पर न यह हर्ष प्रकट करता, कर्म्म की असिद्धि में न क्षोभ प्रकट करता, यही तो नैष्कर्म्यसिद्धि है। इस तीसरे ऐश्वर्य्यबुद्धियोग का यही संक्षिप्त स्वरूपनिदर्शन है।

——३——
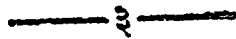
४—धर्म्म-बुद्धियोग

प्रवृत्तिमूलक ज्ञान एवं कर्म्म अन्तर्जगत् की उत्पत्ति के कारण बन जाते हैं। विज्ञान का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि हम जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ देखते हैं, वह हमारा बनाया हुआ ही है। चन्द्रमा-पृथिवी-आकाश-ग्रह-नक्षत्र-नद-नदी-ओषधि-वनस्पति-पशु-पक्षी-

कृमि-कीट-मनुष्य इत्यादि इत्यादि जितनें जड़चेतनोभयविध पदार्थों को हम अपने चर्म्मचक्षुओं से देख रहे हैं, वे सब दीखने वाले पदार्थ हमारे बनाए हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने निर्मित पदार्थों को ही देख सकता है, एवं देख रहा है। बात जरा अटपटी सी मालूम होती है। सूर्य्य-चन्द्रादि हमारे बनाए हुए हैं, भला इस बात पर कौन विश्वास करेगा।

परन्तु वैज्ञानिक कहते हैं कि तुम्हें अवश्य ही विश्वास करना पड़ेगा। इस विश्वास के लिये अन्तर्जगत् एवं बहिर्जगत् भेद से जगत् के दो विवर्त्त मानने पड़ेंगे। प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्जगत् सर्वथा भिन्न एवं नियत है, एवं बहिर्जगत् सब के लिये एक है। जहां तक आपका ज्ञान व्याप्त है, वहां तक आपका अन्तर्जगत् व्याप्त है। इस ज्ञानीय (खयाली) अन्तर्जगत् में अनेक प्रकार के (भावना वासनासंस्कारात्मक) पदार्थ बैठे हुए हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञानीयजगत् सर्वथा स्वतन्त्र है। कोई भी व्यक्ति दूसरे के ज्ञानीयजगत् के पदार्थों को नहीं देख सकता।

आपके खयाल में क्या है? आपके अन्तर्जगत् में कौन कौन संस्कार हैं? हम यह न जान सकते, न देख सकते। इसी प्रकार आप भी हमारे खयाल को नहीं जान सकते। आप, एवं हम उसी को जान सकेंगे, उसी को देख सकेंगे, जो कि विषय आप के एवं हमारे ज्ञानधरातल पर आता हुआ आप की एवं हमारी प्रातिस्विक संपत्ति बन जाएगी। जिस प्रकार हमारा ज्ञानमण्डल हमारा अन्तर्जगत् है, एवमेव जहां तक ईश्वर का ज्ञान व्याप्त है, वहां तक ईश्वर का अन्तर्जगत् है। सम्पूर्ण विश्व ईश्वर का ज्ञानमण्डल है। सूर्य्यचन्द्रादि सारे पदार्थ ईश्वर के ज्ञानमण्डल में प्रतिष्ठित हैं। भला जब हम एक मनुष्य के ज्ञानीयजगत्रूप अन्तर्जगत् को नहीं देख सकते, तो ईश्वर के उस ज्ञानीयजगत्रूप विश्व को, किंवा विश्वान्तर्गत पूर्वोक्त सूर्य्यचन्द्रादि पदार्थों को कैसे देख सकते हैं। इसी प्रत्यक्षविज्ञान के आधार पर हमें मान लेना पड़ता है कि हम जो कुछ देखते हैं, हमारा बनाया हुआ ही देखते हैं। हमारे अन्तर्जगत् की अपेक्षा ईश्वर का अन्तर्जगत् भी बहिर्जगत् है, एवं अन्य व्यक्तियों के अन्तर्जगत् भी बहिर्जगत् हैं।

बहिर्जगत् के आधार पर हमारे अन्तर्जगत् का निर्म्माण होता है। वही हमारी दृष्टि का विषय है। बात यथार्थ है। वैज्ञानिकों का कहना है कि ईश्वरीयजगत् में सूर्य्य पृथिवी से १३ सहस्र गुना बड़ा

है। क्या हमने कभी अपनी आखो से सूर्य्य का इतना बड़ा आकार देखा है ? असंभव। जब हम सूर्य्य का वह वास्तविक आकार नहीं देख सकते तो किस आधार पर हम यह अभिमान कर सकते हैं कि हमने ईश्वरनिर्म्मित सूर्य्य को देख लिया। यही अवस्था अन्य ईश्वरीय पदार्थों के सम्बन्ध में समझिये। सूर्य्य का प्रतिविम्बभाव से चक्षुपटल के साथ सम्बन्ध होता है। चक्षु ने जिस सूर्य्यप्रतिविम्ब का ग्रहण किया है, वह उस महाकाय सूर्य्य से सर्वथा अपूर्व तत्त्व है। इस आकार का जनक एकमात्र हमारा चक्षु है। चक्षु द्वारा प्रतिविम्बित सूर्य्य का प्रज्ञानमन से सम्बन्ध होता है। चक्षु से निर्म्मित प्रज्ञान पर आए हुए इसी ज्ञानीय सूर्य्य के लिये हम 'मैं सूर्य्य देख रहा हू" यह कहते हैं। प्रज्ञान पर आया हुआ यही सूर्य्य सास्कारिक सूर्य्य है। सस्कार के जनक हम है, सास्कारिक सूर्य्य के जनक भी हम है, एवं यही हम देख रहे हैं। जिस वस्तु की अन्तःपटल पर संस्काररूप से आगति नहीं होती, दूसरे शब्दों में हमारा मन जिस का निर्म्माण नहीं करता, न उस का हमें ज्ञान ही होता, न उस को हम देख ही सकते। इसी आधार पर "आप मरा और जग परल–(प्रलय)" यह किंवदन्ती प्रचलित है।

यह सास्कारिक जगत् ज्ञान कर्म्म भेद से दो भागो में विभक्त है। हम विना कर्म्म किये हुए ठाली वैठे कुछ सोचा करते है नवीन नवीन कल्पनाएं किया करते हैं। यह कल्पना व्यर्थ नहीं जाती। इसकी मन प छाप लग जाती है इसी का नाम ज्ञानजनित सस्कार है, इसी को शास्त्रों ने "भावना" नाम से व्यवहृत किया है। इसी प्रकार कर्म्म करने से भी आत्मा पर उसी प्रकार से एक छाप लग जाती है, जैसे कि वालू मिट्टी पर पैर रखने से एक ठप्पा लग जाता है। यही कर्म्मजनित संस्कार है, इसी को "वासना" नाम से व्यवहृत किया है। भावना-वासनात्मक संस्कारपुञ्ज ही हमारा अन्तर्जगत् है। इन संस्कारो की आधारभूमि वाह-जगत् के पदार्थ ही है, यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। उदाहरण के लिये हम अपने ज्ञान से अपने ज्ञान के धरातल पर ही एक मकान बनाते हैं। मकान वन कर तैयार हो जाता है, यह ज्ञानीय मकान है। इसमें वहिर्जगत् (ईश्वरीयजगत्) के ईंट पत्थर रख कर इसे हम

बहिर्जगत् का रूप दे डालते हैं। यदि ज्ञानीय मकान की सीमा से बाहर कोई ईंट पत्थर (शिल्पी के दोष से) लग जाता है तो उसे या तो हम निकलवा देते हैं, यदि उसका निकलना असुविधाजनक होता है तो वह ईंट पत्थर हमारे मन में खटका करता है।

इसी प्रकार अपने ज्ञानीय विद्यासंस्कारों को बहिर्जगत् की वस्तु बनाने के लिये हमें कागज, स्याही, लेखिनी, लिपी आदि का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसी वस्तुओं में जीव ईश्वर दोनों शिल्पियों के शिल्प का समन्वय है। एक जंगली वृक्ष विशुद्ध ईश्वर का शिल्प है, हमारे अन्तर्जगत् में प्रतिष्ठित वही सांस्कारिक जंगली वृक्ष विशुद्ध जीव का शिल्प है। हमने अपने इस अन्तर्जगत् के वृक्ष के आधार पर काटछांट कर उस ईश्वरीय वृक्ष का संस्कार कर उसे बागीचे के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इस परिष्कृत वृक्ष में दोनो के शिल्प है। प्राकृतिक पदार्थों को छोड़ कर मनुष्य विरचित जितने भी पदार्थ हैं, सब में दोनों का समन्वय है। बस इसी द्वैतभावना का नाम **अभिनिवेश** है।

यह हमने किया है, यह हमारी रचना है, यह हमारी कारीगरी है, यह हमारा सेवक है, यह हमारा पुत्र है, यह हमारी सम्पत्ति है, इत्यादि आवेशों को ही अभिनिवेश कहा जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो उस ईश्वरीय जगत् के सामने हमारा एवं हमारे अन्तर्जगत् का कोई मूल्य नहीं है। हम उससे कोई पृथक् पदार्थ नहीं हैं। हम उसी के अंश हैं, वही हैं। जिन बुद्धि, मन, इन्द्रियों के बल पर हम हमारे अन्तर्जगत् का निर्माण करते हैं वे सब करण (साधन) ईश्वरीय सूर्य्य-चन्द्रमा-अग्नि-वायु-इन्द्र-भास्वरसोम दिक्सोम के प्रत्यंश हैं। जिस शरीर को हम अपनी सम्पत्ति समझते हैं, वह ईश्वरीय पार्थिव पदार्थ का प्रत्यंशमात्र है। शुक्र-शोणित के समन्वय से उत्पन्न जिन पुत्रादि को हम अपना समझने का अभिमान करते हैं, इनके मूल भूत शुक्र शोणित ईश्वरीय ओषधि-वनस्पतियों के प्रत्यंशमात्र हैं। निदर्शनमात्र है। अध्यात्मसंस्था के परमाणु परमाणु का विश्कलन कर डालिये। सर्वत्र आपको ईश्वर की विभूति के ही दर्शन होंगे। फिर हम क्या रहे, हमारा अन्तर्जगत् क्या रहा, संस्कार क्या रहे, फलतः अभिनिवेश का क्या मूल्य रहा।

घोर-घोरतम इस अभिनिवेश नाम के पाप्माने हीं हमें उन से पृथक् कर रक्खा है। ज्ञान-कर्मजनित भावना-वासनासंस्काररूप अभिनिवेश ने ही हमें " वसुधैव कुटुम्बकम् " इस ईश्वरीय विभूति से वञ्चित कर रक्खा है। अभिनिवेशस्वरूपसंपादक इन संस्कारों की जननी है- "प्रवृत्ति"। प्रवृत्ति से ही आत्मा में सस्कारो का उदय होता है। "वह हम से अलग है, हम उस अपना बनाले तो अच्छा हो" " अमुक वस्तु हमारी बन जाय तो अच्छा हो" यही प्रवृत्ति है। इसी से सस्कार का उदय होता है। मनोवृत्ति का आवेशपूर्वक तत्तद् विषयो के साथ प्रवृत्त होना ही प्रवृत्ति है। यही प्रवृत्ति बन्धन का मूल कारण है। उक्त आवेशमूलिका इस प्रवृत्ति मे जहां संस्कार का उदय होता है, ठीक इससे विपरीत निवृत्ति रूप अनावेश से कर्म्म करते रहने पर भी संस्कार का उदय नहीं होता। ऐसे सैकडो दृष्टान्त पाठको के सामने रक्खे जासकते हैं कि जिन में प्रवृत्ति के कारण संस्कार देखा गया है, एवं निवृत्ति के कारण संस्कारो का अभाव देखा गया है। ससार में हम हजारों पदार्थ देखते हैं, परन्तु सभी का सस्कार आत्मा पर ही नहीं होता। जिस पदार्थ के साथ आत्मा का आवेश होता है, वही स्मृतिपटल पर अङ्कित होता है। प्रतिदिन सात्विक भोजन करते हैं। सुबह का खाया शाम को भी याद नहीं रहता। यदि किसी पदार्थविशेष पर मन का अधिक झुकाव हो जाता है तो उस पदार्थ का सस्कार आत्मा पर जम जाता है। जितनीं भीं इन्द्रिये हैं, सब निरन्तर अपना अपना काम करतीं रहतीं हैं। आख निरन्तर कुछ देखती रहती है, श्रोत्र निरन्तर कुछ सुनते रहते हैं, प्राण निरन्तर कुछ सूघता रहता है मन निरन्तर कुछ चिन्तन करता रहता है, बुद्धि सतत कुछ विचार किया करती है। परन्तु सदा ही इन से संस्कार उत्पन्न नहीं होते। मार्ग में चलते हुए हम देखते भी हैं, सुनते भी हैं, सूँघते भी है, मनन भी करते रहते हैं विचार भी किया करते हैं, कोई करण चुप चाप नही है। परन्तु सभी रूपों का, शब्दो का, प्राणो का, एव विचारो का घर आने पर हमें स्मरण भी नहीं रहता। यह निवृत्ति की महिमा है। यदि किसी रूपविशेष पर, शब्दविशेष पर, गन्धविशेष पर, विचारविशेष पर हम आवेश के साथ मन का प्रयोग करते हैं तो इस प्रवृत्तिमूलक आवेश से तत्काल उन रूप शब्द गन्ध-विचारो को दृढमूल बनने का अवसर मिल जाता है।

पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्म कर्म। बन्धन का कारण नहीं है। अपितु कर्मजानत संस्कार बन्धन का मूल है। प्रत्यक्षप्रमाण यही है कि लोक मे वधकर्म्म में नियत वधिक की कोई निन्दा नहीं होती। कारण उस की प्रवृत्ति मारने की नहीं है। वह अपने अधिकृत कर्म्म का पालन कर रहा है। सभी इन्द्रिएं सतत कर्म्म कर रहीं है, फि' संस्कार क्यो नहीं होता ? क्यो नहीं विना संस्कार के इन मे क्षोभ का उदय होता ? क्यो संस्कारमात्र से विना भी कर्म्म के क्षोभ उत्पन्न हो जाता है ? इन्हीं सारी परिस्थितियो से हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि वही कर्म्म प्रवृत्तिमूलक बनता हुआ बन्धन का कारण है, एवं वही कर्म्म निवृत्तिमूलक बनता हुआ अबन्धन है। कर्त्तव्यत्वेन कर्म्म अनुष्ठान करना ही निवृत्तिकर्म्म है। निवृत्तिभाव को प्रधान मानते हुए यदि आप घोर से घोर पातक कर्म्म कर डालेंगे, तब भी अनिष्ट न होगा। यदि जान बूझ कर कोई व्यक्ति किसी पर पाषाण से प्रहार करता है तो वह दण्डय समझा जाता है। अनजाने यदि उसके हाथ से धोके से कोई मर भी जाता है तो न्यायालय उस के दण्ड पर सावधानी से विचार करता है। एक बालक की असावधानी सदा क्षम्य मानी जाती है। चोरी करने वालों की अपेक्षा चोरी की मनशाह रखने वाले को अधिक दण्ड दिया जाता है। अपराधों पर मन्शाह को विशेष महत्व दिया जाता है। इन सब का मूल रहस्य यही है कि, कामनामय संस्कार बन्धन क कारण है, एवं ये ही प्रवृत्तिमूलक आवेश के जनक हैं। "हम तो ऐसा ही करेंगे—हमारा कौन क्या बिगाड़ सकता है" इसी का नाम आवेश है। यह उन संस्कारों की ही प्रेरणा है। यही आवेश अभिनिवेश है, यही हठवाद है, यदि दुराग्रह है। इस दोष को शास्त्रोने महाभयावह माना है। अभिनिविष्ट की चिकित्सा करना साधारण काम नहीं है। "तुम कुछ भी कहो, हम नहीं मानते" इस दुराग्रह की क्या चिकित्सा का जाय। जहां ओर ओर शास्त्रकारों ने "न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्" कह कर अभिनिवेश की चिकित्सा सर्वथा असंभव बतला दी है, वहां हमारा गीताशास्त्र धर्म्मबुद्धियोगद्वारा इसकी भी चिकित्सा बतलता हुआ सर्वमूर्धन्य बन रहा है।

प्राकृतिक ईश्वरीय नियमों के संघ का ही नाम "धर्म्म" है, दूसरे शब्दो में प्राकृतिक कर्म्म

का ही नाम धर्म्म है, एवं प्राकृतिक नियमो से विरुद्ध जाना ही अधर्म्म है। यही अधर्मसंस्कार अभिनिवेश का जनक है। हम वही है, हम अपनी ओर से कुछ नहीं करते, सब कुछ वही कर रहा है, वही करवा रहा है, यही धर्म्म है। हम करते है, हम लेते हैं, हम देते हैं, यह प्रकृति विरुद्ध अहंता ही अधर्म्म है। अधर्म्म से अभिनिवेश का उदय होता है। अभिनिवेश के आजाने से बुद्धि का प्राकृतिक धर्म्मभाव आवृत हो जाता है। ऐसी अविद्याबुद्धि प्रवृत्ति की जननी बनती हुई संस्कारोदय का कारण बन जाती है। यही संस्कार बन्धन के कारण बनते हुए आत्म अशान्ति के कारण बन जाते हैं। अभिनिवेशलक्षण क्लेश से उत्पन्न इस शोक के उत्पन्न होने का प्रतिबन्धक यही हमारा सुप्रसिद्ध **धर्म्मबुद्धियोग** है। बुद्धि में धर्म्म का उदय कैसे, किन उपायों से, एवं कब हो ? इन विषयो का समाधान करने वाला विद्याभाग ही "**धर्म्मविद्या**" नाम से प्रसिद्ध है। यही विद्या गीता में "**आर्षविद्या**" नाम से व्यवहृत हुई है। जिस प्रकार **ईश्वरानन्यभक्ति** ऐश्वर्यविद्या का मौलिक रहस्य था, तथैव इस विद्या का मौलिक रहस्य **निवृत्त-कर्म्म** है। निवृत्तकर्म्म ही प्राकृतिक हैं, ये ही सहज कर्म्म है, एव यही धर्म्म है। ज्यों ज्यो आप निवृत्तकर्म्मरूप धर्म्म का आचरण करते जांयगे, त्यों त्यों बुद्धि से अभिनिवेशरूप संस्कार हटते जांयगे। इस चिरकालिक धर्म्मानुष्ठान से जब संस्कार एकान्ततः हट जाते हैं, एवं इसी धर्म्मरूप निवृत्त कर्म्म के प्रभाव से भविष्य में सस्कारों का उत्पन्न होना अवरुद्ध हो जाता है तो उस समय बुद्धि सर्वथा निर्म्मल बनती हुई इसी धर्म्म के प्रभाव से उस अध्ययात्मविद्या के साथ योग करती हुई पूर्ण प्रसादभाव को प्राप्त हो जाती है। दूसरे शब्दों में यो समझिये कि निवृत्तकर्म्म से धर्म्म का बल बढता है, अधर्म्म निर्बल बनता है। अधर्म्म के एकान्ततः उच्छेद से तन्मूलक अभिनिवेश नष्ट हो जाता है, धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। जिसे आप लाभ-अलाभ-जय पराजय-अच्छे-बुरे सब भावों में पूर्ण प्रसन्न देखें, जिस की आप सदा सात्विक कर्म्मों में स्वाभाविक-प्रवृत्ति देखें, समझ लीजिये उसे धर्म्मबुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो गई। यही इस की पहिचान है।

इस विद्या के सम्बन्ध में यदि कोई यह प्रश्न करे कि, जिन कर्म्मों से सस्कार होता है,

उन कर्म्मों को ही क्यो न छोड़ दिया जाय? न रहेगा वास, न बजेगी बांसुरी। इसी आधार पर प्राचीनों ने सर्वकर्म्मपरित्याग लक्षण सन्यास को उपादेय भी माना है। इस प्रश्न का मूलोच्छेद करते हुए भगवान् कहते हैं —

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (गी० ३। ४।)

कर्म्म छोड़ देने से कभी नैष्कर्म्यलक्षण ज्ञान का उदय सम्भव नहीं है। कर्म्म परित्याग लक्षण सन्यास से कोई भी आत्मसिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। कारण स्पष्ट है। जैसे ज्ञान आत्मा का स्वरूप है, एवमेव कर्म्म भी आत्मा का स्वरूपधर्म्म है। कर्म्म छोड़ना आत्मा का नाश करना है। भला आत्मा का भी कभी नाश हुआ है? आत्मा अविनाशी है, अनुच्छित्ति धर्म्मा है। फलतः इसके ज्ञान-कर्म्म दोनों अवयव भी अविनाशी हैं। जिस प्रकार ज्ञान कभी आत्मा से पृथक् नहीं होता, एवमेव कर्म्म को भी आत्मा से कभी पृथक नहीं किया जा सकता। जो धूर्त्त-वञ्चक—"हमने तो सब छोड़ दिया, कर्म्म से हमारा क्या सम्बन्ध, हम तो वीतराग हैं. सन्यासी हैं" यह कह कर जनता को धोका देते हैं, वे महापातकी हैं। वे स्वयं अपने आत्मा को धोका दे रहे हैं। क्या उन की इन्द्रियों ने काम करना छोड़ दिया? क्या वे खाते पीते नहीं? फिर वे किस आधार पर कर्म्म छोड़ने का अभिमान करते हैं। जो पाखण्डी कर्म्मपरित्यागलक्षण सन्यास का डिण्डिमघोष करते हैं, उनकी वृत्तिऐ उनसे भी अधिक दूषित हैं, जो प्रवृत्त कर्म्म में रत हैं। कहते हैं सब कुछ छोड़ दिया, भीतर सब की चर्वणा चल रही है। यह मानस पाप और भी भयावह है। इन्हीं वक्रवृत्तियों की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं —

कर्म्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ (गी० ३।६)।

नाम के सन्यासी, कर्म्मों में गृहस्थी से भी आगे बढ़े हुए। हाथी, पालकी, घोड़े, सेवक, दासिएं साथ में, भस्म शरीर पर, जटा माथे पर, क्या इसी का नाम सन्यास है? क्या इन्हीं स-

न्यासियों से हम आत्मज्ञानलक्षणा मुक्ति की आशा कर रहे हैं ! बड़ी विडम्बना ! बड़ा अज्ञान !! बड़ा भ्रम !!!

कर्म्म किसी हालत में छूट नहीं सकता, इस लिये छोड़ा नहीं जा सकता। उधर कर्म्म संस्कार का जनक होता हुआ बंधन का भी कारण है। ऐसी स्थिति में कोई ऐसा मार्ग निकलना चाहिए कि हम कर्म्म मे रत रहते हुए भी संस्कारों से बच जांय। इसी मार्ग का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है —

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥ (ईशोपनिषत् २)

कर्त्तव्यबुद्ध्या प्रवृत्ति छोड़ कर यावज्जीवन कर्म्म करते रहना ही सन्यास है। कर्म्म-सन्यास का नाम सन्यास नहीं है, अपितु—"काम्यानां कर्म्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः" के अनुसार कामना सन्यास का नाम सन्यास है। इसी का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन !
कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ (गी० ३।७)।

मन्वादि धर्म्माचार्य्यों ने-"प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म्म वैदिकम्" (मनुः १२।८८) इत्यादि रूप से वैदिक कर्म्मों को प्रवृत्तकर्म्म,-किंवा प्रवृत्तिकर्म्म, निवृत्तिकर्म्म,-किंवा निवृत्तिकर्म्मभेद से दो भागों में विभक्त माना है। इनमें प्रवृत्तकर्म्म अवश्य ही संस्कारों के जनक बनते हुए अभिनिवेशलक्षण अविद्या के उत्पादक हैं। इन्हीं वैदिक कर्म्मों में से यदि प्रवृत्ति को निकाल दिया जाता है तो ये ही निवृत्तकर्म्म बन जाते हैं। कतकरजोवत् यह सांस्कारिक मलों को नष्ट

*इस मन्त्र के राजनीति, धर्म्मनीति, विज्ञाननीति भेद से तीन अर्थ होते हैं। राजनैनिक कर्म्मों का स्थूलशरीर से, धार्म्मिक कर्म्मों का सूक्ष्मशरीर से, एवं वैज्ञानि (प्राकृतिक) कर्म्मों का कारणशरीर रूप आत्मा से सम्बन्ध है। इन सब विषयों की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को "ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य" १ खण्ड देखना चाहिये।

करते हुए स्वयं भी अन्तर्लीन हो जाते हैं। ऐसे कर्म सर्वथा अबन्धक हैं। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है–आर्षविद्या इसी निवृत्तकर्म्म का स्वरूप बतलाती है। इसी कर्म्मस्वरूपपरिचय के लिए भगवान् ने प्रवृत्तकर्म्म-निवृत्तकर्म्म का विवेक करते हुए अनेक प्रकार से सत्त्व-रजस्तमो-गुणों की परीक्षा की है। विना गुणपरीक्षा के, एवं कर्म्मविवेक के निवृत्तकर्म्म का रहस्य विदित नहीं हो सकता। बस इस चौथे धर्म्मबुद्धियोग, किंवा धर्म्महेतुक बुद्धियोग का यही संक्षिप्त स्वरूप निर्वचन है।

—— ४ ——

१३- विद्या एवं योग के सम्बन्ध में भगवद्गीता

❁ श्रीः ❁

१३—विद्या एवं योग के सम्बन्ध में भगवद्गीता

गीताप्रतिपाद बुद्धियोग वैराग्य–ज्ञान–ऐश्वर्य–धर्म्म भेद से चार भागों में विभक्त है। इन चारों बुद्धियोगों की प्राप्ति का उदय बतलाने वाला चार ही विद्याएं हैं। वैराग्यविद्या पहिली विद्या है, यही राजर्षिविद्या है। इस विद्या के अभ्यास[A] से बुद्धि से राग-द्वेषमूला आसक्ति निवृत्त हो जाती है, वैराग्यबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है। ज्ञानविद्या दूसरी विद्या है, यही सिद्धविद्या है इसके सम्यक् परिज्ञान[B] से बुद्धि से अविद्या (अज्ञान) मूलक मोह निवृत्त हो जाता है, ज्ञानबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है। ऐश्वर्यविद्या तीसरी विद्या है, यही राजविद्या है। इसकी अनन्यता[C] से अस्मितामूलक अनैश्वर्य बुद्धि से निवृत्त हो जाता है, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग का बुद्धि में उदय होजाता है। चौथी धर्म्मविद्या है, यही आर्षविद्या है। इसके आचरण[D] से अभिनिवेशमूलक अधर्म्म बुद्धि से निकल जाता है, एवं धर्म्मबुद्धियोग का बुद्धि में उदय हो जाता है।

उक्त चारो विद्याओ में क्रमशः अनासक्ति, अन्तर्ज्योति, ईश्वरानन्यता, निवृत्तकर्म्म इन चार रहस्यो का निरूपण हुआ है। आत्मविद्या की उपनिषदें जहां चार विद्याएं हैं, वहां इन उपनिषदो की उपनिषदे (रहस्य) यह चारो भाव हैं। दूसरे शब्दों में ये ही चारों चार विद्याओ के निष्कर्ष हैं। इन चारों में से यदि एक का भी अनुष्ठान सफल हो जाता है तो शारीरक आत्मा (जीवात्मा) देहस्थित प्रत्यगात्मा (अव्ययात्मा) के साथ (उस सिद्ध बुद्धियोग के द्वारा) युक्त होता हुआ अव्यय की भगसम्पत्ति प्राप्त कर लेता है। उस दशा में पहुचे बाद जीव जीव न रह कर भगवान् बन जाता है। जब एक एक ही बुद्धियोग में इतना सामर्थ्य है तो जिस महापुरुष में इन चारो का, सो भी जन्म से ही उदय रहता हो, उस की महत्ता का तो कहना ही

A. वैराग्य का अभ्यास होता है।

B. ज्ञान का परिज्ञान से सम्बन्ध है।

C. ऐश्वर्य्यरूपा भक्ति का अनन्यता से सम्बन्ध है।

D. धर्म्म का आचरण से सम्बन्ध है।

क्या है। साथ ही में यह भी एक सिद्ध विषय है कि देवयुग से आरम्भ कर आजतक यह श्रेय एकमात्र हमारे चरितनायक, गीतोपदेष्टा श्रीकृष्ण को ही मिला है। तभी तो वे चारों विद्याओं, एवं चारो बुद्धियोगों के द्रष्टा कहे जाते हैं। तभी तो उन की यह रहस्योपनिषत् "भगवद्गीतोपनिषत्" नाम से प्रसिद्ध हुई है।

१—वैराग्यविद्या प्रथमा — सैषा राजर्षिविद्या —ततः—वैराग्यबुद्धियोगसिद्धिः।

२—ज्ञानविद्या द्वितीया — सैषा सिद्धविद्या——ततः—ज्ञानबुद्धियोगसिद्धिः।

३—ऐश्वर्य्यविद्या तृतीया — सैषा राजविद्या ——ततः— ऐश्वर्य्यबुद्धियोगसिद्धिः।

४—धर्म्मविद्या चतुर्थी — सैषा आर्षविद्या ——ततः—धर्म्मबुद्धियोगसिद्धिः।

—— ० ——

१—वैराग्यविद्याभ्यासेन — अनासक्तेरुदयः——ततः— आसक्तिनिवृत्तिः।

२—ज्ञानविद्यापरिज्ञानेन — अन्तर्ज्योतिरुद्रेकः——ततः—मोहनिवृत्तिः।

३—ऐश्वर्यविद्यानन्यतया — ईश्वरानन्यताप्राप्तिः——ततः—अस्मितानिवृत्तिः।

४—धर्म्मविद्याचरणेन — निवृत्तकर्म्मणिप्रवृत्ति-ततः——अभिनिवेशनिवृत्तिः।

—— ० ——

१—आसक्तिनिवृत्तौ — रागद्वेषविनाशः—ततश्च — वैराग्योदयः—कृतकृत्यता।

२—मोहनिवृत्तौ —— अविद्याविनाशः—ततश्च — ज्ञानोदयः——तृप्तिः।

३—अस्मितानिवृत्तौ — अनैश्वर्य्यपलायनम्-ततश्च — ऐश्वर्य्योदयः——पूर्णता।

४—अभिनिवेशनिवृत्तौ — अधर्म्मोत्क्रान्तिः ततश्च — धर्म्मोदयः—शान्तिः।

—— ० ——

गीता का उपदेश महाभारतकाल में हुआ है, यह सर्वविदित है। महाभारत युद्धप्रसङ्ग में गीता के व्याज से भगवान् ने जिन चारों विद्याओं का, एवं चारों बुद्धियोगो का अर्जुन के प्रति उपदेश दिया है, वह उपदेश सर्वथा अपूर्व नहीं माना जा सकता। वस्तुतः महाभारत से कई सहस्र वर्ष पहिले देवयुग के आरम्भ में ही उक्त चारों विद्याएं, एवं चारों योग विद्यमान थे। भगवान् ने गीता में

उनका एक ही स्थान में (कुछ संशोधन के साथ) समन्वयमात्र किया है। यह संशोधन, एवं समन्वय अवश्य ही एक अपूर्व बात है। इसी अपूर्वता के कारण पूर्व प्रकरण में हमने गीताशास्त्र को इतरशास्त्रो की अपेक्षा अपूर्व, पूर्ण, एवं विलक्षण कहा है। अब इस सम्बन्ध में हमारे सामने प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन विद्याओं को राजर्षि, सिद्ध, राज, आर्ष इन नामो से व्यवहृत करने का क्या कारण है ? प्रकृत प्रकरण इसी प्रश्न का संक्षिप्त समाधान करने के लिए पाठकों के समक्ष उपस्थित हुआ है।

१—वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्त्तिका–"राजर्षिविद्या"–प्रथमा

ज्ञान-विज्ञान रहस्यवेत्ताओं के मतानुसार **राजर्षिविद्या** नाम से प्रसिद्ध यह वैराग्यविद्या प्रधानरूप से आत्मस्वरूपवेत्ता, किंवा औपनिषदतत्त्ववेत्ता राजर्षियों में ही विशेष रूप से प्रचलित थी। **गीताकालमीमांसा** नाम के पूर्व प्रकरण मे जिस देवयुग का दिग्दर्शन कराया गया है, उसी युग मे अव्यय द्वारा इस विद्या का आविष्कार हुआ था। इतिहास प्रसिद्ध विवस्वान् स्वर्गीय देवता थे। भगवान् कृष्ण ने (शरीरान्तर से) सर्वप्रथम विवस्वान् को ही इस वैराग्यविद्या का उपदेश दिया था, जैसा कि —"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्" इत्यादि वचन से सिद्ध है। विवस्वान् यद्यपि राजा थे, सूर्य्यवंशियों के मूलप्रवर्त्तक थे। परन्तु इस भगवदुपदिष्ट वैराग्यविद्या के प्रभाव से इन का आत्मा ऋषि तुल्य बन गया था। आत्मतत्त्व का इन्होंने साक्षात्कार कर लिया था। वैदिकपरिभाषानुसार साक्षात्कर्त्ता ही ऋषि कहलाता है, द्रष्टा ही ऋषि है। इसी लिये विवस्वान् राजा रहते हुए भी **राजर्षि** कहलाए। यही राजर्षि इस वैराग्यविद्या के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हुए जिन जिन सूर्य्यवंशी राजाओं नें इस विद्या का अनुगमन किया, मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि आदि वे सब राजा राजर्षि की उपाधि से विभूषित हुए। इस प्रकार इन राजर्षियों की सम्प्रदाय में विशेष रूप से प्रतिष्ठित होने के कारण, साथ ही में इनके द्वारा ही लोक में प्रवृत्त होने के कारण इस भगवद्विद्या ने आगे जाकर **राजर्षिविद्या** नाम धारण कर लिया। राजर्षि ही इसके विशेष ज्ञाता, एवं प्रवर्त्तक थे, इसी अभिप्राय से भगवान् ने —"एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः" कहा है।

राजर्षिविद्यात्मक वैराग्यबुद्धियोग "योग" नाम से प्रसिद्ध हुआ। गीता में जहां भी कहीं योग शब्द प्रयुक्त हुआ है, सर्वत्र उसे एकमात्र वैराग्यलक्षण बुद्धियोग, किंवा सामान्यतः बुद्धियोग का ही वाचक समझना चाहिये। केवल इसी परिभाषा के आधार पर आप गीता के वास्तविक मर्म्म पर पहुंचने में सफलता का अनुभव कर सकते हैं। अस्तु वक्तव्य यही है कि राजर्षियों के सम्बन्ध से जहां यह विद्या राजर्षिविद्या कहलाई है, एवमेव योगशास्त्र की परिभाषा के अनुसार यही बुद्धियोगात्मिका विद्या योग नाम से भी व्यवहृत हुई है। गीता का यह योग तत्त्व प्रचलित ज्ञान, भक्ति, कर्म्म सब से विलक्षण है, अतएव इसे इन तीनों से पृथक् बतलाने के लिये गीता ने इसे केवल "योग" नाम से ही व्यवहृत किया है। गीता न ज्ञानयोग को प्रधान लक्ष्य बनाती, न भक्ति एवं कर्म्मयोग को। गीता का प्रधान लक्ष्य है– केवल "योग"। तभी तो यह **योगशास्त्र** नाम से प्रसिद्ध है।

२—ज्ञानबुद्धियोगप्रवर्त्तिका–"सिद्धविद्या"–द्वितीया

स्वयम्भू मनु द्वारा उद्भावित देवयुग मे देवत्रिलोकी पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ भेद से तीन भागों में विभक्त थी। तत्कालीन मानवसमाज को स्वयम्भू ब्रह्मा ने पञ्चकृष्टि, पञ्चक्षिति, **पञ्चचर्षणी, पञ्चजन** आदि अनेक भागों में श्रेणिबद्ध किया था। **ऋषि पितर, देवता, असुर, मनुष्य** इन पांचों की समष्टि **पञ्चकृष्टि** थी। इन पांचों के क्रमशः— **स्वयम्भू, यम,** इन्द्र, वृषाकपि, वैवस्वतमनु अध्यक्ष थे। कृषि से उत्पन्न अन्न ही इनकी प्रधान जीविका थी। अतएव यह **पञ्चकृष्टि** नाम से प्रसिद्ध हुए। **ग्रामणी, राजा सम्राट्, स्वाराट्, विराट्** इन पांचों की समष्टि **पञ्चक्षिति** नाम से प्रसिद्ध थी। यह पृथिवी के अधिपति थे। इस क्षिति सम्बन्ध से ही इन्हें पञ्चक्षिति नाम से व्यवहृत किया गया।

जिसे आज साधारण ज़मीदार कहा जाता है, वही देवयुग में ग्रामणी (गांव का मालिक) कहा जाता था। राजा की **भोज, महाभोज** भेद से दो श्रेणिएं थीं, सम्राट् की **चक्रवर्त्ती, सार्वभौम** भेद से दो श्रेणिएं थीं। स्वाराट् की **इन्द्र, महेन्द्र** भेद से दो श्रेणिएं थीं, एवं

विराट् की ब्रह्मा, विष्णु भेद से दो श्रेणिएं थीं। ब्रह्मा, ऋषि, देव ब्राह्मण, विप्र इन पाचों की समष्टि ही पञ्चचर्षणी थी।

जिसे लोकभाषा में "खुलकुन" कहा जाता है, "मनुष्य" कहा जाता है, वेदभाषा में उसी के लिए "चर्षणी" शब्द प्रयुक्त हुआ है। —(देखिये यजुःसं० १७।२२शा०भाष्य.)। जिन मनुष्यों में ज्ञान का विकास (प्रधान रूप से) रहता है, मनुष्यों में वही मनुष्य कहलाते हैं। ज्ञान की आश्रयभूमि ब्राह्मण है। इसी के उक्त पाचों भेद हैं। जन्मना ब्राह्मण विप्र है। शास्त्रज्ञ ब्राह्मण ब्राह्मण है, शास्त्रज्ञानपूर्वक कर्म्म में प्रवृत्त ब्राह्मण देवता है, भूदेव है। प्राकृतिक तत्वों का परीक्षक ब्राह्मण ऋषि है, सर्वरहस्यवेत्ता सर्वज्ञ ब्राह्मण ब्रह्मा है। इस प्रकार विद्या (ज्ञान) के तारतम्य से चर्षणी के पाच विभाग हो जाते हैं। पुरु, यदु, तुर्वसु, अणु, द्रुह्यु इन पाचो की समष्टि पञ्चजन नाम से प्रसिद्ध थी।

१—ऋषयः (स्वयम्भूः—अध्यक्षः)
२—पितरः (यमः —अध्यक्षः)
३—देवाः (इन्द्रः —अध्यक्षः)
४—असुराः (वृषाकपिः—अध्यक्षः)
५—मनुष्याः (वैवस्वतमनुः—अध्यक्षः)

} १ —।।पञ्चकृष्टयः

———३———

१—ग्रामणी—(ग्रामाधिपतिः—जमीदार)
२—राजा —(देशाधिपतिः —भोज, महाभोजः)
३—सम्राट्—(राष्ट्राधिपतिः —चक्रवर्त्ती, सार्वभौमः)
४—स्वराट् —(त्रैलोक्याधिपतिः-इन्द्र, महेन्द्रः)
५—विराट् —(सर्वाधिपतिः—ब्रह्मा, विष्णुः)

} २ —।।पञ्चक्षितयः

———०———

उक्त चारों विभागों में से पञ्चकृष्टि नाम के प्रथम विभाग में देवताओं का जो तीसरा विभाग है, देवयुग में उसी की अवान्तर देव–देवयोनि भेद से दो श्रेणिएं थीं। स्वर्ग में रहने वाली प्रजा "देव" किंवा "देवता" नाम से प्रसिद्ध थी, एवं शर्य्यणावत् पर्वत से आरम्भ कर हिमालय पर्यन्त हिमालय की द्रोणियों में निवास करने वाली जाति देवयोनि नाम से प्रसिद्ध थी। यही देवयुग में अन्तरिक्ष लोक था। इस अन्तरिक्ष में रहने वाली यह देवयोनिएं विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध इन नामों से प्रसिद्ध थीं।

भारतवर्ष में रहने वाली मानवी प्रजा, एवं स्वर्ग में रहने वाली देवप्रजाओं के पारस्परिक व्यवहारादि का संचालन इन्हीं मध्यस्थ देवयोनियों द्वारा हुआ करता था। इन जातियों में "सिद्ध" नाम की जाति में ही सांख्यदर्शन के प्रणेता महामुनि कपिल का जन्म हुआ था न तो "सिद्ध" शब्द किसी व्यक्ति का वाचक है, एवं न कपिल शब्द ही किसी व्यक्तिविशेष

का द्योतक है। यह दोनों ही शब्द जातियों के सूचक हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण जाति में मूर्ख-विद्वान् सभी तरह के व्यक्ति रहते हैं, एवमेव सिद्ध जाति में भी मूर्ख-विद्वान् सभी तरह के व्यक्ति थे।

साधारण मनुष्यों नें सिद्ध शब्द का जो यौगिक अर्थ समझ रक्खा है, अन्तरिक्ष में रहने वाली सिद्ध जाति के साथ उस यौगिक अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी सिद्ध जाति में एक ऐसा व्यक्ति उत्पन्न हुआ, जिसने कर्म्मवाद का विरोध करते हुए विशुद्ध ज्ञानयोग की स्थापना की। वही आदि पुरुष **कपिलमुनि** नाम से प्रसिद्ध हुए। आगे जाकर इनके हजारों अनुयायी बन गए। वे भी कपिल नाम से ही प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार जो कपिल शब्द आरम्भ में व्यक्ति वाचक था, वही कालान्तर में जातिवाचक बन गया। दूसरे शब्दों में आदि कपिल ने कर्म्म-सन्यास लक्षण जिस सांख्य (ज्ञानयोग) का उपदेश दिया था, उस योग के अनुयायी कपिल नाम से प्रसिद्ध हुए। कपिल चूंकि सिद्ध जाति मे उत्पन्न हुए थे, अतएव इन को यह ज्ञानविद्या भी **सिद्धविद्या** नाम से व्यवहृत हुई। महाभारत शान्तिपर्व मोक्ष धर्म की ३०० अध्याय से आरम्भ कर ३०५ अध्याय पर्य्यन्त इस कापिलसांख्य का विस्तार से निरूपण हुआ है। विशेष जिज्ञासुओं को वही प्रकरण देखना चाहिये।

प्रकृत में इस सम्बन्ध में हमें केवल यही बतलाना है कि महाभारत समकालीन गीतोपदेशकाल के हजारों वर्ष पहिले देवयुगकाल में राजर्षिविद्या के अनन्तर अन्तरिक्ष में रहने वाली सिद्ध जाति को अलंकृत करने वाले महामुनि कपिल ने सर्वकर्म्मसन्यासलक्षणा जिस सांख्य निष्ठा का आविष्कार किया था, एवं जिसके अनुयायी "सांख्य" नाम से ही प्रसिद्ध थे, वही निष्ठा सिद्धविद्या नाम से प्रसिद्ध हुई। ज्ञानयोगाभिमानी सिद्धों में ही इसका विशेष प्रचार हुआ। योगशास्त्र की मर्य्यादा के अनुसार यही विद्या "ज्ञानयोग" नामक योग कहलाया। राजर्षिविद्या यदि स्वर्गीय विद्या थी, तो यह सिद्धविद्या अन्तरिक्ष की विद्या थी। निषध* पर्वत से उत्तर

---

*असुरों के प्रबल आक्रमणों से त्रस्त महाराज कुत्स ने इन्द्र के पास जब यह समाचार भेजे कि "असुरों ने सिन्धु को रोक दिया है, सारी देवभूमि जलप्लावित हो गई है, महारा

अन्तरिक्ष की सीमा में, स्वर्गभूमि के अति सन्निकट ही कपिल का आश्रम था। यहीं वह सुप्रसिद्ध कुकाण्ड हुआ था, जिसकी कृपा से भागीरथी को स्वर्ग से भूमण्डल पर आना पड़ा था।

— ※ —

३—ऐश्वर्य्यबुद्धियोगप्रवर्त्तिका-"राजविद्या"-तृतीया—

अन्तरिक्ष के बाद भारतवर्ष का नम्बर आता है। देवयुग काल में भारतवर्ष ही पृथिवी लोक कहलाता था। यद्यपि पुराणों ने दौष्यन्ति भरत के नामसम्बन्ध से इस देश का नाम भारतवर्ष माना है, परन्तु वस्तुतः अग्नि सम्बन्ध से ही इस देश का नाम भारतवर्ष मानना न्यायसंगत प्रतीत होता है। देवेन्द्र की ओर से भारतवर्ष के शवसोनपात् अग्नि बनाए गए थे। यही अग्नि भारतवर्ष के भरणपोषण करने के कारण "भारत" नाम से प्रसिद्ध हुए, जैसा कि—"अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति" इत्यादि मन्त्रश्रुतियों से स्पष्ट है। भारतीय प्रजा की रक्षा करना, एवं यहां से कर ग्रहण कर स्वर्ग में देवताओं के पास पहुचाना ही इनके मुख्य काम थे, जैसा कि—'एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति' से सिद्ध है। भारतवर्ष में मनु द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्थित हुआ। भारतीय प्रजा को ब्राह्मण–क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र इन चार वर्णों में विभक्त किया गया।

उक्त चारो वर्णों में क्षत्रियश्रेष्ठों के अधिकार में राजशासन दिया गया। इन राजाओं के प्रधान शास्ता स्वयं वैवस्वतमनु थे, दूसरे शब्दों में यही भारतवर्ष के सम्राट् थे देवेन्द्र स्वाराट् थे, ब्रह्मा-विष्णु विराट् थे। भारतीय राजाओं की प्रधान प्रवृत्ति ईश्वरोपासना की ओर थी। राजाओं में ही उपासना का विशेष प्रचार था। काशीराज प्रतर्दन, महाराज कैकय, आदि भारतीय राजा प्रसिद्ध उपासक हो गए हैं। इन का सिद्धान्त था कि सम्पूर्ण कर्म्म ईश्वरबुद्धि से

कम्भीर भी पानी में निमग्न हो चला है, पानी में विष मिला दिया है, आप शीघ्र पधारिए" तो इन्द्र अपने हर्यश्व नाम के अश्वमय विमान से तीन दिन के भीतर भीतर कुत्स के पास पहुंचे। इन्होंने जिस पर्वत पर सर्वप्रथम विश्राम किया, वही पर्वत "यत्रन्यषीदत्-इन्द्रः" इस निर्वचन के अनुसार "निषद" नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऋग्वेद के १। १४० वें सूक्त में विस्तार से इस कथा का उल्लेख मिलता है। यही निषद आज संशोधनदोष से "निषध" बन गया है।

ही करने चाहिएं । फलतः इनके इस भक्तियोगापरपर्य्यायक उपासनायोग मे ज्ञान-कर्म्म दोनो का समन्वय था । इस उपासना में फल का सम्बन्ध था । उपासना द्वारा ईश्वर, एवं तदशभूत देवी-देवताओ से विविध फलों की आकाङ्क्षा की जाती थी । आज भी भारतवर्ष में उपासना का यही स्वरूप प्रचलित है, जो कि गीताशास्त्र से सर्वथा विरुद्ध है । उपासना के बल पर यह उपासक विविध ऐश्वर्यों के फलभोक्ता बनते थे, इसी लिये यह विद्या **ऐश्वर्यविद्या** नाम से प्रसिद्ध हुई । चूंकि इसका विशेषतः राजाओ में प्रचार था, अतएव इसे **राजविद्या** नाम से भी व्यवहृत किया गया । योगशास्त्र की मर्यादा के अनुसार यही **भक्तियोग** नाम का योग कहलाया ।

४—धर्म्मबुद्धियोगप्रवर्त्तिका-"आर्षविद्या"-चतुर्थी

हम कह चुके है कि भारतवर्ष में राजाओ के अतिरिक्त ब्राह्मणसमाज भी एक प्रतिष्ठितवर्ग माना जाता था । इनकी दृष्टि में न ज्ञानयोग का महत्त्व था, न भक्तियोग का । यह विशुद्ध कर्म्मवाद को ही प्रधान मानते थे । यज्ञ तप-दानलक्षण, त्रिगुणभावापन्न वैदिक कर्म्मों का सतत अनुष्ठान करना ही इनका परम पुरुषार्थ था । परममीमांसक, कर्म्म को ही ईश्वर मानने वाले इन कर्म्मठ भारतीय ऋषियो ने बड़े आवेश के साथ भारतवर्ष में कर्म्मयोग का ही प्रचार किया । कर्म्म (यज्ञ) बल से ही इन्हो ने स्वर्गादि फलों से जनता को विमोहित किया । **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म" "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"** इत्यादि रूप से कामनाप्रधान यज्ञादि कर्म्मों को ही इन्हो ने अपना प्रधान लक्ष्य बनाया ।

इनका कहना था कि वर्णानुसार जिस वर्ण के जो नियत कर्म्म है, उनका अनुष्ठान ही धर्म्म है । इसी धर्म्म से सब कुछ सिद्ध हो जाता है । इसी कर्म्ममूलक धर्म्म के सम्बन्ध से यह चौथी विद्या **धर्म्म** नाम से प्रसिद्ध हुई । चूंकि यह भारतीय ऋषियों में ही प्रधान रूप से प्रतिष्ठित थी, अतएव इसे **आर्षविद्या** (ऋषियो की विद्या) नाम से व्यवहृत किया गया, एवं योगशास्त्र की मर्य्यादा के अनुसार यही **कर्म्मयोग** नाम का योग कहलाया ।

ज्येष्ठा एवं श्रेष्ठा भगवद्विद्या

इस प्रकार गीताशास्त्र से बहुत पहिले देवयुगकाल से ही चारों विद्याओं का प्रचार चला आता है। गीताने कुछ अपूर्व नहीं बतलाया है, अपितु चिरकाल से प्रचलित चारों विद्याओं का परिष्कारमात्र किया है। यह परिष्कार अवश्य ही गीता की अपूर्वता कही जासकती है। इन चारों योगों में से बुद्धियोग नाम का वैराग्ययोग सब से बड़ा है, सब से श्रेष्ठ है, एवं यही गीता का हृदय है। इस हृदय को निकाल देने पर गीता एक निरर्थक शास्त्र रह जाता है, जैसा कि उपलब्ध भाष्य एवं टीकाओं से प्रत्यक्ष है। जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है, वैराग्यबुद्धियोग से अतिरिक्त कर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग, फलानुगामी भक्तियोग, प्रवृत्तिमूलक कर्म्मयोग तीनों ही योग चिरकाल से चले आरहे हैं। साथ ही में तीनों के अनुयायी सिद्ध-राजा-ब्राह्मणों में परस्पर स्पर्द्धा चली आरही है, पूर्ण मताभिनिवेश है। तीनों अपने अपने योगों को सर्वश्रेष्ठ, एवं सर्वज्येष्ठ बतलाने का वृथा अभिमान करते हुए इतर योगों को अनुपयुक्त मानने का व्यर्थ का साहस करते आए हैं। इसी संस्कार ने भारतीय विद्वानों पर भी अपनी छाप लगाई। फलस्वरूप भारतवर्ष के विद्वान् भी इन चिरकालिक संस्कारो के आवेश में पड़ कर तीन दलों में विभक्त होगए।

सर्वश्रीशंकर–विद्यारण्यादि महाभागोंनें कर्म्मत्यागलक्षण सन्यास को सर्व श्रेष्ठ बतलाया। कुमारिल–मण्डन–उदयनादि कर्म्मठो ने प्रवृत्तिमूलक कर्म्मयोग को ही अपना आराध्य बनाया। एवं रामानुज–वल्लभ–निम्बार्क–माध्वादि साम्प्रदायिक आचार्योंने भक्तियोग का ही गुणानुवाद किया। नित्यनियति से युक्त ईश्वर भी इन भक्तों की दृष्टि में अनन्तकल्याणगुणाकर, दयालु, कारुणिक, अनुग्रह करने वाला बन गया। इनका यह ईश्वर फूत्कारमात्र से पापो को क्षणमात्र में धोने लगा। इस प्रकार अपनी देवयुगकालीन वैराग्यविभूति से च्युत अभागा भारतवर्ष तीन नियन्त्रणो से नियन्त्रित बन गया। प्रमाण के लिए तीनों महानुभावोंने उपनिषत्–ब्रह्मसूत्र–गीता का आश्रय लिया। सभीने स्वाभिमत योग की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए अपने अपने स्वतन्त्र अर्थ किए। इन अर्थों से उन अर्थ करने वालों का कुछ उपकार हुआ

अथवा नहीं, यह विचार तो छोड़िए। हां इस सम्बन्ध में इतना निश्चित है कि इन विरुद्ध अर्थों से सामान्य जनता अवश्य ही लक्ष्यच्युत हुई है।

गीता का शाङ्करभाष्य उठाकर देखिए, आप को ज्ञानयोग का ही साम्राज्य मिलेगा। भक्ति–कर्म्म के प्रतिपादक वचनो के सम्बन्ध में गौणभाव का समावेश मिलेगा। साम्प्रदायिक भाष्य यह कहते हुए मिलेंगे कि गीता केवल भक्तितत्व का निरूपण करती है। कहीं कहीं भगवान् ने जो ज्ञान–कर्म्म का आदेश दिया है, वह भक्ति का सहायकमात्र है। उधर कर्म्मप्रधान भाष्य "यज्ञो दान तपःकर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्" इत्यादि का उद्घोष करते हुए गीता को विशुद्ध कर्म्मयोगशास्त्र मानने का ही वृथाभिमान करते हुए मिलेंगे। उधर जब एक साधारण व्यक्ति गीता के अक्षरो पर दृष्टि डालता है तो वहां उसे सभी तरह के वचन उपलब्ध होते हैं। भाष्य अपनी अपनी कहते हैं। स्वयं गीता तीनों का प्रतिपादन कर हमें और भी व्यामोह में डाल रही है। हम तो चीज ही क्या हैं स्वयं अर्जुन भी एक बार तो व्यामोह में पड़ गया था। वह कहने लगा था कि भगवन्! कभी आप ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाते हैं, कभी कर्म्म को। मै तो आपके इस विरुद्ध उपदेश से उलटा उलझन में पड रहा हू*। आज हम भी पाठकों के सामने गीता के उन वचनो को उद्धृत कर देते है, जिन से वास्तव में सामान्य जन्म व्यामोह मे पड़े बिना नहीं रह सकते। सचमुच केवल उन वचनो के आधार पर हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि, गीता वास्तव मे किस योग का उपदेश देतो है? पहिले प्राचीनाभिमत तीनों योगो के समर्थक वचनो पर ही क्रमशः दृष्टि डालिए—

—— ० ——

*-ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन! तत्किं कर्म्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव!
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम॥
सन्यासं कर्म्मणां कृष्ण! पुनर्योगं च शससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम॥

१–ज्ञानयोग के समर्थक वचन

१—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योग-क्षेम आत्मवान् ॥ (२।४५)।

२—प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ (२।५५)।

३—यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (३।१७)।

४—वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ (४।१०)।

५—ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म्मसमाधिना ॥ (४।२४)।

६—सर्वाणीन्द्रियकर्म्माणि प्राणकर्म्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ (४।२७)।

७—श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप !
सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (४।३३)

८—अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥ (४।३६)

९—यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ (४।३७)।

१०—नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ (४।३८)।

११—श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (४।३९)।

१२—योगसन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनंजय ! ॥(४।४०)।

१३—तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (४।४२)।

१४—सर्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन् ॥ (५।१३)।

१५—नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥(४ १५)।

१६-ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम् ॥ (५।१६)।

१७—तद् बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ (५।१७)।

१८—भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ (५।२९)।

१९—उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (७।१८)।

२०—बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१९)।

२१—तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ (१०।११)।

२२—इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ (१४।२)।

२३—इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥(१८।६३)।

१४-अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।

ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ (१८।७०)।

उक्त वचनों को देखने से पाठक इस निश्चय पर पहुंचेगे कि भगवान् ने आरम्भ से अन्त तक सर्वकर्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोग (सांख्य) को ही मुक्ति का अन्यतम साधक बतलाया है। अपि च 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' अपने उपदेश के इस आरम्भ से भी भगवान् यही सूचित करते हैं कि ज्ञान की कमी से, अज्ञानजनित मोह से ही मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान जाता रहता है। इस अविद्या को हटाने के लिए ज्ञान का ही उदय आवश्यक है। इसी उद्देश्य को सामने रखकर साधनरूप से यत्र-तत्र कर्म्म-भक्ति का गौणरूप से प्रतिपादन करते हुए भगवान् ने अन्त तक ज्ञानयोग पर ही विशेष जोर दिया है। इसीलिए गीतोपदेश के अनन्तर अर्जुन के मुख से-"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत !" यह अक्षर निकले हैं। गीता जिस अज्ञानजनितमोह को दूर करने के लिए अर्जुन के सामने आई थी, गीता का वह उद्देश्य सफल हुआ। अर्जुन का मोह नष्ट होगया। मोहवश अर्जुन जिस आत्मज्ञान से वञ्चित होगया था, वह उसे फिर प्राप्त होगया। इस प्रकार उपक्रम उपसंहार से भी गीता का ज्ञानयोगप्रतिपादकत्व ही सिद्ध होता है।

२-भक्तियोग के समर्थक वचन—

१—सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥ (६।३१)।

२—तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽभिमतोऽधिकः ।

कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (६।४६)।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७)।

३—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ (७।१६)।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (७।१७)।

४—यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ (७।२१)।

५—अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ (७।२३)।

६—प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (८।१०)।

७—अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ (८।१४।)।

८—पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ (८।२२।)।

९—सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४।)।

१०—अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (९।२२।)।

११—येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ (९।२३।)।

१२—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (९।२६।)।

१३—अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ (९।३०।)।

१४–क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं नियच्छति ।
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ (९ । ३१ ।) ।

१५–मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ (९ । ३२ ।) ।

१६–मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९ । ३४ ।) ।

१७–अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ (१० । ८ ।) ।

१८–भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ (११ । ५४ ।) ।

१९–मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ (१२ । २ ।) ।

२०–ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ (१२ । ६ ।) ।
तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ (१२ । ७ ।) ।

२१–संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ (१२ । १४ ।) ।

२२–ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ (१२ । २० ।) ।

२३–मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ (१३ । १० ।) ।

२४–मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (१४ । २६ ।) ।

२५–यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ (१५ । १६ ।) ।

२६–ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ॥ (१८ । ५४ ।) ।

२७–भक्त्या मामभिजानति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ (१८ । ५५ ।)

२८–मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामवैष्यसि सत्य ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (१८ । ६५ ।) ।

२९–सर्वधर्म्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥ १८ । ६४ ।) ।

३०–य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।

भक्ति मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ (१८ । ६८ ।) ।

उक्त वचनो के देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानो सम्पूर्ण गीताशास्त्र अथ से इति तक भक्तिरस से आप्लावित हो रहा है । एक स्थान पर तो भगवान ने तपस्वी–ज्ञानी–योगी इन सब से भक्त को ऊचा चढ़ा कर यह सिद्ध कर दिया है कि, एकमात्र भगवान् की अनन्यभक्ति ही उद्धार का अनन्य साधन है, ज्ञान-कर्म्म एवं वैराग्य तो भक्ति के साधनमात्र हैं । भगवान् की नवधाभक्ति ही आत्मकल्याण का अन्तिम, एव सर्वश्रेष्ठ उपाय है । अर्जुन साधारण जीव था । परन्तु भगवान् ने अनुग्रह कर उसे अपनी अनन्यभक्ति प्रदान की । भक्तिबल से ही अर्जुन भगवान् के उस विराट्रूप को देखने का अधिकार प्राप्त कर सका, जिस रूप को ज्ञान-कर्म-तप का अनुयायी न आज तक देख सका था, एवं न भविष्य में कोई देख ही सकता । यह अनन्यभक्ति का ही प्रभाव था कि भगवान् ने अपने अवतार में अपने अनन्य भक्त अर्जुन को ही गीता के द्वारा भक्तियोग का उपदेश दिया । गीता का मूल लक्ष्य भक्तियोग ही है,

यही बात सूचित करने के लिए भगवान् ने ग्रन्थसमाप्ति में "भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्य संशयः" इत्यादि रूप से स्पष्ट शब्दों में इतर योगों की अपेक्षा भक्तियोग को ही सर्वश्रेष्ठ माना है।

२—कर्म्मयोग के समर्थक वचन—

१—स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥ (२।३१)।

२—न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति। (३।४)।

३—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। (३।५)।

४—नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्म्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः॥ (३।८)।

५—यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः। (३।९)।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर॥ (३।९)।

६—कर्म्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुमर्हसि॥ (३।२०)।

७—न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्म्मणि॥ (३।२२)।

८—एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्म्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥ (४।१५)।

९—त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यमिति चापरे॥ (१८।३)।

१०—यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८।५।) ।

११—यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (१८।४६।) ।

१२—श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ (१८।४७।) ।

१३—सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ (१८।४८।) ॥

१४—सर्वकर्म्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ (१८।५६।) ।

१५—स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् । (१८।६०।) ।

उक्त वचन स्पष्ट शब्दों में विशुद्ध कर्म्मयोग की ही घोषणा करते हुए प्रतीत हो रहे हैं । भगवान् ने स्पष्ट शब्दो में यावज्जीवन वेदविहित (चातुर्वर्ण्य) कर्म्म के अनुष्ठान की आज्ञा देते हुए हमें यह बतलाया दिया कि प्रत्येक वर्ण को अपना अपना कर्म्म कभी नहीं छोड़ना चाहिए । कर्म्म करता हुआ ही मनुष्य शाश्वत अव्यय पद को प्राप्त हो जाता है । कर्म्म किसी हालत में नहीं छोड़ा जासकता । इन्हीं वचनो के आधार पर कर्म्मठों ने प्रवृत्तिलक्षण यज्ञ-दान-तपोरूप कर्म्मयोग को ही गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय माना है । इन का कहना है कि गीता का उपदेश किस लिए प्रवृत्त हुआ, यह विचार कीजिए । अर्जुन युद्ध कर्म्म के लिए संग्राम में उपस्थित हुआ था । वहां अपने कुलक्षय की आशङ्का से यह कर्म्म से हटने के लिए उद्यत हुआ । अर्जुन को इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही भगवान् को कर्म्मोपदेश करना पड़ा । फलस्वरूप 'करिष्ये वचनं तव" कहता हुआ अर्जुन युद्धकर्म्म में प्रवृत्त होगया । इस प्रकार उपक्रमोपसंहार से भी हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि गीता विशुद्ध कर्म्मयोगशास्त्र

ही है। ज्ञान एवं भक्ति इसके सहायकमात्र हैं। कर्म्म से ही भक्ति उत्पन्न होती है, कर्म्म से ही ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान एवं भक्ति तो साध्य है, एवं इनका साधक कर्म्म ही है। यदि कर्म नहीं तो कुछ नहीं

———•———

४–राष्ट्रवादियों का साम्यवाद

इधर कुछ समय से विशुद्ध राजनीति के अनुयायी हमारे राष्ट्रवादी प्रचलित शास्त्रीय तीनो ही योगो से सर्वथा भिन्न एक नवीन "साम्यवाद" की कल्पना कर गीता को "साम्ययोगशास्त्र" मानने का अभिमान कर रहे हैं। और सम्भव है कि समत्वमूलक बुद्धियोग-प्रतिपादक हमारे इस भाष्य का भी वे यही तात्पर्य लगाने लगे कि लेखकने बुद्धियोग के व्याज से हमारे साम्यवाद का ही समर्थन किया है। ऐसा दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि हम गीता के साम्यवादमूलक बुद्धियोग का, एवं कल्पित साम्यवाद का अन्तर स्पष्ट करदें।

"समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्"–"शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः"-"समत्वं योग उच्यते"–निर्दोषं हि समं ब्रह्म"–"समोऽहं सर्वभूतेषु"-समं पश्यन् हि सर्वत्र"–"समं सर्वेषु भूतेषु"–"समः शत्रौ च मित्रे च"–"सर्वभूतेषु येनैकम्" "सर्वभूस्थितं यो माम्"–"सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः"– 'समदुःखसुखः स्वस्थः" इत्यादि गीता सिद्धान्तों के अनुसार सम्पूर्ण विश्व में, विश्व में रहने वाली चेतन एवं अचेतन प्रजा में सर्वथा समरूप से व्याप्त उस व्यापक परमात्मतत्व को लक्ष्य में रखते हुए, इसी लक्ष्य के आधार पर किसी से राग–द्वेष न रखते हुए, द्वन्द्वभावों का एकान्ततः परित्याग करते हुए, लोकसंग्रह को मूल बनाते हुए यावज्जीवन निष्कामभाव से वर्णाश्रमधर्म्मानुकूल अपने अपने आधिकारिक कर्म्म–ज्ञान–भक्तियोगों में प्रवृत्त रहना ही गीता का समत्वयोग, किंवा वैराग्यबुद्धियोग है, जिसका कि भूमिका तृतीयखण्ड के "बुद्धियोगपरीक्षा" नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण होने वाला है।

"सम्पूर्ण विश्व का कोई एक तन्त्रायी है, वही अन्तर्यामीरूप से प्राणिमात्र के हृदयो में प्रतिष्ठित होकर उनका उनका संचालन कर रहा है, एव वह तन्त्रायी "अविभक्त विभक्तेषु" के अनुसार इन विभिन्न पदार्थों में अभिन्नरूप से, समरूप से) प्रतिष्ठित है" इस ईश्वरानुगत आत्मसाम्यवाद, किंवा आत्मव्यापकतावाद को आधार बनाते हुए अपने स्वभावानुकूल कर्म्मो मे प्रवृत्त रहना ही समत्वलक्षण बुद्धियोग है। ईश्वरमूलक राजतन्त्र ही इस साम्यवाद का प्रतिष्ठा है।

राष्ट्रवादियों के कल्पित साम्यवाद का तो गीता में गन्ध भी नहीं है। कारण इन्होंने गीता की शास्त्रीय मर्य्यादा का सर्वथा तिरस्कार कर अनीश्वरवादमूलक प्रजातन्त्रवाद, किंवा गणतन्त्रात्मकवाद की काल्पनिक भित्ति पर साम्यवाद का आविश्कार किया है। इनके साम्य-वाद का आत्मसाम्य से कोई सम्बन्ध नही है। "सबको समानदृष्टि से देखो" इसका तात्पर्य ये महानुभाव यह लगाते हैं कि सब को सब कर्म्म करने का अधिकार है। सबको वर्णाश्रममर्य्यादा का (जो कि गीताशास्त्र की मूलप्रतिष्ठा बना हुआ है) परित्याग कर भेद व्यवहार हटा देना चाहिए। खान-पान--विवाह आदि की अर्गलाएं सर्वथा तोड़ देनी चाहिए। सब का व्यक्तित्व स्वतन्त्र है। कोई किसी के नियन्त्रण में नहीं रहसकता। प्रजा का संघठन ही शासन का मूल सूत्र है। फलत. इनके साम्यवाद का यह निष्कर्ष निकला कि "मर्यादा" नाम की कोई वस्तु संसार में नहीं है। अमर्य्यादित पशुओ की तरह उच्छृखल बने रहना ही मर्य्यादा है। यही साम्यवाद है, और गीता इसी का निरूपण करती है।

कहना न होगा कि राष्ट्रवादियो का उक्तलक्षण असाम्यवादरूप साम्यवाद विश्वशान्ति की दृष्टि से एक भयानक खतरा है। हम उन सहयोगियों को निमन्त्रण देते हैं कि उन्होंनें गीता के आधार पर जिस कल्पित साम्यवाद की घोषणा करने का दुस्साहस किया है, वे यह प्रमाणित करें कि गीता के अमुक वचन हमारे साम्यवाद का समर्थन कर रहे हैं। अन्यथा उन्हे दयाकरके गीताशास्त्र को कलङ्कित करने का प्रयास छोड़ देना चाहिये। अपनी इच्छा से वे कुछ भी माना,एवं किया करे। परन्तु दुःख का विषय तो यह है कि गीता जैसे पवित्र शास्त्र को आगे कर भोली जनता को धोके में डाला जारहा है। जो गीता पद पद पर वर्णाश्रमधर्म्म के

अनुपालन का आदेश दे रही है, जिस गीताने अर्जुन को क्षात्रधर्म पर आरूढ रहने के लिये उपदेश दिया है, जो गीता ब्राह्मणादि चारों वर्णों के नियत कर्म वतला रही है, जिस गीता का मुख्य उद्देश्य शास्त्रसिद्धकर्म्मों का प्रतिपादन है, उस गीता को वर्णाश्रमधर्म्मकर्म्मों से सर्वथा वाहर निकालते हुए अपनी स्वार्थसिद्धि का साधन वना लेना सचमुच एक महापाप है। और उसी पाप का यह फल है कि अहोरात्र "गीता गीता" का उद्घोष करने हुए भी उन राष्ट्रवादियों के साथ साथ राष्ट्र की मर्यादा, उस का भारतीयत्व, जगद्गुरुत्व भी शनैः शनैः स्मृतिगर्भ में विलीन होता जारहा है।

श्रद्धालु भारतीय प्रजा विधर्म्मी से अवश्य ही सावधानी रहती है। परन्तु जव उसके सामने कल्पित शास्त्रभक्ति का वाना पहिन कर कोई वञ्चक उपस्थित होता है तो शास्त्रभक्ति से भोली प्रजा व्यामोह में पड़ जाती है, और आज यही हो रहा है। वहिरङ्ग शत्रु से हम सावधान रहते हैं, परन्तु घर ही में जव विभीषणों के अवतार होनें लगे तो फिर भगवान् ही रक्षक हैं। उसी भगवदंश से यह प्रार्थना करते हुए कि भगवन्! देवयुगकालीन जिस गीतायोग का महाभारत काल में अर्जुन को निमित्त वना कर आपने उद्धार किया था, कालदोष से पुनः आज वह लुप्त हो गया है। स्वार्थी लोग स्वार्थसिद्धि के लिए आपकी इस प्रतिमूर्त्ति को क्षत विक्षत कर रहे हैं। ऐसे विषम समय में पुनः अपने वैराग्यलक्षण, ईश्वरतन्त्रमूलक, समत्वलक्षण बुद्धियोग का उद्धार करने के लिए आपका आविर्भाव होना चाहिए। अस्तु वक्तव्यांश यही है कि प्रचलित साम्यवाद सर्वथा निर्मूल है, अतएव इसके सम्वन्ध में गीता का कोई वचन उद्धृत नहीं हो सकता। इसी अशास्त्रीयभाव से यह योग सर्वथा अयोगकोटि में प्रविष्ट होकर अप्रामाणिक वनता हुआ एकान्ततः उपेक्षणीय है।

परस्पर में सर्वथा विरुद्ध ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों का प्रतिपादन करनें वाले उक्त वचनों की तुलनात्मक समालोचना करते हुए हम इस निश्चय पर पहुंचते है कि भगवान् जनसाधारण में प्रचलित उक्त तीनों योगों के पक्षपाती हैं भी, और नहीं भी। भगवान् तीनों योगों को

अवश्य मानते हैं, परन्तु प्राचीनों ने इन का जैसा स्वरूप समझ रक्खा है, उस के भगवान् पूर्ण विरोधी हैं। सर्वकर्म्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग में वे यह संशोधन चाहते हैं कि, कर्म्म का त्याग मत करो, कामना का परित्याग करो॥ कामना के परित्याग से कर्म्म करते हुए भी यह योग ज्ञानयोग बन जायगा। इसी प्रकार सकाम भक्तियोग में भी वे कामना का परित्याग चाहते हैं। इसी प्रकार प्रवृत्तिमूलक कर्म्मयोग से भी प्रवृत्ति का परित्याग चाहते हैं। कामना-प्रवृत्ति को छोड़ते हुए भगवान् ने तीनों योगों का आदर करते हुए, लोकसंग्रह को सुरक्षित रखते हुए अपनी ओर से एक चौथे सर्वथा अपूर्व **वैराग्ययोग** का उपदेश और दिया है। इसे भगवान् अपना मत मानते हैं, जैसा कि अनुपद में हीं स्पष्ट हो जायगा। यही गीता का **बुद्धियोग** है। इसे भगवान् ने गीता में **बुद्धियोग–योग** इन दोनों नामों में से व्यवहृत किया है।

यद्यपि प्रकरणविभाग के अनुसार यह योग आरम्भ की ६–अध्यायो में ही प्रतिपादित हुआ है, परतु चूंकि यह भगवान् का अपना मत है, भगवान् इसे सर्वप्रधान मानते हैं इसीलिए आरम्भ से अन्त तक स्थान स्थान पर इतर योगों के मध्य में इस का सम्बन्ध कराना आवश्यक समझा गया है। इसी बुद्धियोग के सम्बन्ध से गीता के इतर तीनो सशोधित योग भी बुद्धियोग नामों से ही प्रसिद्ध हो गए हैं। फलतः यह सिद्ध हो जाता है कि गीता एकमात्र बुद्धियोग का, दूसरे शब्दों में बुद्धियोगरूप योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्म्मयोग का ही निरूपण करती है। गीता वैराग्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोगभेदभिन्न चारों बुद्धियोगों का निरूपण करने वाला **"बुद्धियोगशास्त्र"** है। आत्मकल्याण के लिए गीता निम्नलिखित चार बुद्धियोगों को ही हमारे सामने रखती है—

१—राग-द्वेष का परित्याग करते हुए आसक्ति का सर्वथा परित्याग कर यावज्जीवन अनासक्तिभाव से कर्म्म करते रहो। (वैराग्यबुद्धियोग)।

२—अविद्या नामक मोह का परित्याग करते हुए, शरीरयात्रा निर्वाहक कर्म्म करते हुए अन्तर्ज्योतिर्लक्षणज्ञान के उदय में प्रयत्नशील बने रहो। (ज्ञानबुद्धियोग)।

३—अस्मिता का परित्याग करते हुए, किसी भी फल की आकाङ्क्षा न करते हुए अपने समस्त कर्म्मों का अनुष्ठान करते हुए, साथ ही में इन कर्म्मों के सम्बन्ध में- "ईश्वर करता है, वही कराता है" यह भावना रखते हुए सतत ईश्वर चिन्तन में निमग्न रहो। (ऐश्वर्यबुद्धियोग)।

४—अभिनिवेश का परित्याग करते हुए केवल कर्त्तव्यबुद्धि से निवृत्तिलक्षण यज्ञादि कर्म्मों का यावज्जीवन अनुष्ठान करते रहो। (धर्म्मबुद्धियोग)।

— * —

इन्हीं चारों बुद्धियोगों के समर्थक वचन पाठकों के सम्मुख क्रमशः उपस्थित किए जाते हैं। उन वचनो के आधार पर पाठक स्वयं निर्णय कर लेंगे कि वस्तुतः गीता का हृदय, किंवा प्रतिपाद्य विषय क्या है? आरम्भ से ६ अध्याय पर्य्यन्त सर्वमुख्य एवं सर्वज्येष्ठ राग-द्वेषपरित्यागलक्षण, सर्वकर्म्मग्रहणलक्षण वैराग्यबुद्धियोग का प्रधानरूप से निरूपण हुआ है। पहिले इसी के समर्थक वचनो पर दृष्टि डालिए—

१—वैराग्यबुद्धियोग के समर्थक वचन

१—मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तां तितिक्षस्व भारत ॥ (२ । १४)

२—यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरर्षभ !
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्त्वाय कल्पते ॥ (२ । १५)।

३—अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्ध्यस्व भारत ॥ (२ । १८)।

४—वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ (२ । २१)।

५—स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ (२।३१)।

६—सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ (२ । ३८) ।

७—एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धि,-र्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्म्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ (२ । ३९ ।) ।

८—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ (२ । ४१) ।

९—भोगैश्वर्य्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ (२ । ४४ ।) ।

१०—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ (२ । ४५ ।) ।

११—कर्म्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्म्मणि ॥ (२ । ४७ ।)

१२—योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्त्वं योग उच्यते । (२ । ४८ ।)

१३—दूरेण ह्यवरं कर्म्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय !
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ (२ । ४९ ।) ।

१४—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥ (२ । ५० ।) ।

१५—कर्म्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ (२ । ५१ ।) ।

१६—श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ (२ । ५३) ।

१७—दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (२ । ५६ ।)।

१८—यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२ । ५७ ।)।

१९—राग-द्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (२ । ६४ ।)।

२०—नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (२ । ६६ ।)।

२१—यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन !

कर्म्मेन्द्रियैः कर्म्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ (३ । ७।

२२—यज्ञार्थात् कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (३ । ९ ।)।

२३—तस्मादसक्तः सततं कार्य्यं कर्म्म समाचर ।

असक्तो ह्याचरन् कर्म्म परमाप्नोति पुरुषः ॥ (३ । १९ ।)।

२४—सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत !

कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ (३ । २५ ।)।

२५—इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे राग-द्वेषौ व्यवस्थितौ

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ (३ । ३४ ।)।

२६—काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ (३ । ३७ ।)।

२७—तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ !

पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ (३ । ४१ ।)।

२८—इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ (४ । १)।

२६—एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ (४ । २)।

३०—स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः सनातनः।

भक्तोऽसि सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ (४ । ३ ।)।

३१—न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्म्मफले स्पृहा

इति मां योऽभिजानाति कर्म्मभिर्न स बध्यते ॥ (४ । १४ ।)।

३२—कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥ (४ । १६ ।)।

३३—त्यक्त्वा कर्म्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।

कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित् करोति सः ॥ (४ । २० ।)।

३४—योगसन्न्यस्तकर्म्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।

आत्मवन्तं न कर्म्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ॥ (४ । ४१ ।)।

३५—तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।

छित्त्वैनं संशयं योग—मातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (४ । ४२ ।)।

३६—ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ (५ । ३ ।)।

३७—यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ (५ । ५ ।)।

३८—योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (५।७)

३९--ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (५।१०) ।

४०--सर्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ (५।१३) ।

४१--इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ (५।१९) ।

४२--न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ (५।२०) ।

४३--शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ (५।२३) ।

४५--यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ (५।२८) ।

४५--अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्यं कर्म्म करोति यः ।
स संन्यासी स योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥ (६।१) ।

४६--यं सन्यासमितिप्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव !
न ह्यसन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ (६।२) ।

४७--सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धि-र्विशिष्यते ॥ (६।९) ।

४८--तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ (६।४३) ।

४९--तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (६।४६) ।

५०–ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनुसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्म्मभिः॥ (३।३१।)।
५१.–ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॥ (३।३२।)।

———०———

"राग-द्वेष ही बन्धनरूपा आसक्ति के कारण हैं। इस आसक्तिरूप अविद्या के प्रभाव से बुद्धि का स्वाभाविक वैराग्यभाव अभिभूत हो जाता है। ऐसी बुद्धि का आत्मविद्या (अव्ययात्मा) के साथ योग नहीं हो पाता। यही दुःख का मूल कारण है। द्वेषगर्भित राग ही काम क्रोध का जनक है। यह हमारा (आत्मा का) सब से बड़ा शत्रु है। इन शत्रुओं का दमन करते हुए, इन्द्रियसंयमपूर्वक लोकसंग्रह को लक्ष्य में रखते हुए, साथ ही में शास्त्रविहित कर्म्मों को अपना परम आराध्य समझते हुए हमें यावज्जीवन कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहना चाहिये"— उक्त श्लोक इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण कर रहे हैं। यही सच्चा सन्यास है, यही सच्चा कर्म्मयोग है। अपने इस वैराग्यबुद्धियोग में भगवान् ने प्राचीनाभिमत कर्मत्यागलक्षणा साङ्ख्यनिष्ठा (ज्ञानयोग), एवं प्रवृत्तिकर्मलक्षणा योगनिष्ठा (कर्मयोग) की पर्याप्त समालोचना करते हुए अन्त में यह निर्णय किया है कि इन दोनों को पृथक् समझना बड़ी भूल है। दोनों का समन्वित रूप ही कल्याणकर है। इस प्रकार इस वैराग्यबुद्धियोग में ज्ञान कर्म्म दोनों का समन्वय हुआ है।

प्रचलित ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोगों से पृथक् बतलाने के लिये भगवान् ने इसे केवल—"योग" शब्द से व्यवहृत किया है। इसमें ज्ञान-कर्म्म दोनों समरूप से प्रतिष्ठित हैं। अतएव यह "समत्वयोग" नाम से भी सम्बोधित हुआ है। समत्व ही सच्चा योग है, सम्पूर्ण कर्म्मों में योग ही परम उपादेय है। जनकादि राजर्षि इसी योग के अनुष्ठान से कर्म्मों में सतत प्रवृत्त रहते हुए भी जीवन्मुक्त बने हैं। अतएव इन्हें "विदेह" की उपाधि से विभूषित किया गया है। इस योग के पहिले शिष्य विवस्वान् मनु थे। देवयुग के आदिकाल में इसका भगवान् द्वारा उपदेश हुआ था, इसी लिये हम इसे सर्वज्येष्ठ योग कह सकते हैं। साथ ही में इ-

नरयोगों के प्रवर्त्तक कपिल-राजा-ब्राह्मणादि आश्वत्थिकजीव (मनुष्य) थे, एवं इस योग के प्रवर्त्तक आधिकारिकजीव (अवतार) हैं इसी लिये यह सर्वश्रेष्ठ भी है आदिकाल से चले आने के कारण इस वैराग्यविद्या को "सनातनविद्या" कहा गया है—"योगः प्रोक्तः सनातनः" (४।३।)। राजर्षियों में ही इसका विशेष प्रचार रहा है, इस लिये हम इसे "राजर्षिविद्या" नाम से भी व्यवहृत कर सकते हैं — "एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः"। स्वयं अच्युतभगवान् इस के आदिप्रवर्त्तक थे, इसी लिये इसे भगवद्विद्या भी कहा जा सकता है- "ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः"। भगवान् का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही योग था। फलतः गीता में उन्हें यद्यपि इसी योग का प्रतिपादन करना चाहिए था, परन्तु भगवान् लोकसंग्रह के लिये धरातल पर अवतीर्ण हुए थे। एवं उस समय (महाभारतकाल में) लोक में ज्ञान-भक्ति-कर्म्म भेद से तीन मार्ग जनसमाज में प्रचलित थे। एकान्ततः वैराग्ययोग का ही प्रतिपादन करने से बुद्धिभेद उत्पन्न होने की आशङ्का थी इस लिए भगवान् ने पहिले तो सर्वश्रेष्ठ सर्वज्येष्ठ वैराग्ययोग का ही प्रतिपादन किया, और बाद में लोकसंग्रह को सुरक्षित रखने के लिये क्रमशः तीनों योगों का प्रतिपादन किया। हां, इसके सम्बन्ध में भगवान् ने संशोधन अवश्य किया। भगवान् के द्वारा संशोधित यह तीनों योग भी बुद्धियोगरूप में ही परिणित होगए। उन्हीं संशोधित रूपों के समर्थक वचन क्रमशः पाठकों के समक्ष उपस्थित किये जाते हैं —

२– ज्ञानबुद्धियोग के समर्थक वचन

१—मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ (७।१।)।)

२—ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (७ । २ ।) ।

३—मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ (७ । ३) ।

४—त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ (७।१३।)।

५—दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ (७।१४।)।

६—न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ (७।१५।)।

७—तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ (७।१७।)।

८—उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ (७।१८।)।

९—बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ (७।१९।)।

१०—अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (७।२४।)।

११—नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ (७।२५।)।

१२—जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ (७।२९।

१३—साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ७।३०।)।

१४—अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ (८।५।)

१५—अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ (८। ८।)।

१६–मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ (८। १५।)।

१७–वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्।

अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ (८ २८)

"ज्ञान के साथ विज्ञान का समावेश" ही इस ज्ञानयोग में प्रधान संशोधन है। ज्ञान आत्मसम्बन्धी है, विज्ञान विश्वसम्बन्धी है। विश्वकर्म्म पर दृष्टि रखते हुए आत्मचिन्तन करते रहना ही सच्चा ज्ञानयोग है। सांसारिक कर्म्मों से तटस्थ रहते हुए, साथ ही में सांसारिक को स्व स्व नियत कर्म्म पर आरूढ रहने का आदेश देते हुए ज्ञानोपयिक कर्म्मों का अनुष्ठान करते रहना ही ज्ञानयोग है। भारत के सौभाग्य से कुछ समय पूर्व ही समर्थ श्री रामदास स्वामी, सन्त तुकोवा, सर्वश्रीज्ञानेश्वरमहाराज, आदि कुछ एक महात्मा ऐसे ही ज्ञानयोग के उपासक हो गए हैं। यह सांसारिक कर्म्मों से सर्वथा तटस्थ रहते हुए केवल आत्मचिन्तन में निमग्न थे। परन्तु साथ ही में समाज को वर्णाश्रमानुकूल कर्म्मों में प्रवृत्त रहने का आदेश भी करते थे। जहां प्राचीन लोग स्वयं कर्म्मों का एकान्ततः परित्याग कर संसार को भी कर्म्म छोड़ने के लिए वाध्य करते हुए सर्वथा असंभव ज्ञानयोग का उपदेश देते थे, वहां भगवान् ने कर्म्मत्याग का निषेध करते हुए इन ज्ञानयोगियों के सामने यही संशोधन उपस्थित किया कि तुम्हें कर्म्म से भागना नहीं चाहिए। कर्म्म ईश्वर की विभूति है। अधिक से अधिक तुम सांसारिक (गृहस्थ) कर्म्मों को छोड़ सकते हो। साथ ही में तुम्हें संसार को कर्म्ममार्ग पर आरूढ रखना पड़ेगा।

इस प्रकार भगवान् ने संशोधित ज्ञानयोग का स्वरूप हमारे सामने रक्खा। भगवान् अनासक्त कर्म्मलक्षण वैराग्यबुद्धियोग के अनन्य पक्षपाती थे। इसी लिए लोकसंग्रहदृष्टि से उन्होंने ज्ञानयोग का प्रतिपादन तो किया, परन्तु इस पर विशेष जोर नहीं दिया। यही नहीं–"यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" इत्यादि रूप से भगवान् ने इस के सम्बन्ध में अपनी अरुचि ही प्रकट की। बात यह है कि ज्ञानयोग

के साथ व्यक्तिभाव की प्रधानता है। इस योग से केवल एक ही व्यक्ति का उपकार संभव है। उधर सांसारिक कर्मों में अनासक्तिपूर्वक प्रवृत्त रहने वाले वैराग्य-बुद्धियोगी से विश्व का कल्याण होता है। इस के अतिरिक्त अव्यक्त ज्ञान की उपासना की सफलता में भी बड़ा सन्देह रहता है। कारण स्थूलकर्म्म के परित्याग से स्थूलजगत् की ओर झुके हुए बुद्धि मन का संयम साधारण बात नहीं है। इसी लिए भगवान् को कहना पड़ा है कि "हजारो मनुष्यों में कोई एक तो इस ज्ञानसिद्धि के लिए यत्न करता है, एवं यत्न करने वाले सिद्धो में से भी कोई विरला ही मेरे (अव्यय के) तात्विक स्वरूप को पहिचान ने में समर्थ होता है" "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"। उधर कर्म्ममय वैराग्ययोग स्थूलकर्म्मपरिग्रह से सर्वथा सरलमार्ग बन जाता है। अपिच वैराग्ययोगी जहा केवल एक ही जन्म में विदेह बनता हुआ आत्मनिष्ठा प्राप्त कर लेता है, वहा कर्म्मविमुख ज्ञानी को आत्मप्राप्ति के लिए अनेक जन्म योग साधन करना पडता है-"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते"। अपनी इसी अनभिरुचि (अरुचि) को बतलाने के लिए भगवान् ने केवल २ अध्यायो में ही इसका निरूपण किया है। इस से तो भक्तिमार्ग कहीं अधिक सरल है। इसी लिए भगवान् ने इसका ४ अध्यायो में निरूपण किया है, जैसा कि तद्योगनिरूपण में स्पष्ट हो जायगा। इस योग के मूलप्रवर्त्तक सिद्धजाति में उत्पन्न कपिलसिद्ध थे, अतएव इसे हम "सिद्धविद्या" नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इससे ज्ञान का उदय होता है। बुद्धि ज्ञानमयी बनकर मोह का विनाश करती हुई आत्मा के साथ युक्त हो जाती है। अतएव इसे ज्ञानबुद्धियोग नाम से भी सम्बोधित किया जासकता है।

३—ऐश्वर्य्य बुद्धियोग के समर्थक वचन

१—इदं ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ ९।१ ॥

२—राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥ (९।२) ।
३—मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ (६-४-५) ।
४—अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ (९। ११)।
५—महात्मानस्तु मां पार्थ ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ (९।१३) ।
६—सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (९।१४)
७—ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम् ॥ (९।१५) ।
८—तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ (९।१९) ।
९—अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (९।२२) ।
१०—शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म्मबन्धनैः ।
सन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ (९।२८) ।
११—समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति कश्चन ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (९।२९) ।
१२—अपि चेत् सुदुराचारो भजेत मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ (९।३०) ।

१३-क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं नियच्छति ।
कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ (९।३१) ।

१४-किं पुनर्ब्राह्मणाः-पुण्या-भक्ता-राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ (९।३३) ।

१५-मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४)।

१६-अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ (१०।८) ।

१७-मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ १०।९) ।

१८-यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ (१०।४१) ।

१९-न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्व चक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् (११।८) ।

२०-भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ (११।५४) ।

२१-येतु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ (१२।२०) ।

लोक में प्रचलित भक्तिनिष्ठा का यह अर्थ समझा जाता है कि "हमें अपने दुःख की निवृत्ति के लिए भगवान् की आराधना करनी चाहिए । भगवान् बड़े दयालु हैं, करुणा की मूर्त्ति हैं । वे हमारे सब अपराध, सब पाप क्षमा कर देते हैं, हमारी सब कामनाएं पूरीं कर देते हैं । इसी भावना से प्रेरित होकर भक्त लोग अपने सत्त्व-रज-तमोगुणभावों के अनुसार विष्णु-ब्रह्मा-रुद्र-काली-भैरव-हनुमान्-राम-कृष्ण आदि भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना किया

करते हैं। जरा आपत्ति आने पर देवताओं के नाम प्रसाद बोला करते हैं। विपत्ति दूर होने पर उत्सव मनाते हैं। इस प्रकार इन उपासकों की यह उपासना अथ से इति पर्य्यन्त कामना से ओतप्रोत है। अवश्य ही तत्तद्देवतोपासकों की कामनामयी तत्तदुपासनाओं से तत्तत्फल-प्राप्ति हो जाती है। परन्तु यह फलमुखी उपासना क्षणिक सुख का कारण बनती हुई शाश्वत आनन्दशासन से सर्वथा च्युत है। इस में पराश्रित रहना पड़ता है, पद पद पर देवता से भय खाना पड़ता है, आत्मा का स्वाभाविक ऐश्वर्य्य दबा रहता है। प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिए अपने आप को असमर्थ पाते हुए हम देवता से भीख मांगा करते हैं। भगवान् ऐसे भक्तियोग में भी ज्ञानयोग की तरह संशोधन चाहते हैं। भगवान् कहते हैं कि तुम उपासना किसी भी देवता की करो परन्तु द्वैतबुद्धि छोड़ कर। यह मत समझो कि तुम पृथक् हो, उपास्य देवता पृथक् है। उसे अपने से अभिन्न समझो, यही अनन्योपासना है। विश्वास करो कि तुम उस व्यापक के ही एक अंश बनते हुए उससे अभिन्न हो, सभी देवता तुम हो। आत्मबुद्धि से निष्कामबुध्या उपासना करो, उपासना को अपना कर्त्तव्यकर्म्म (नित्यकर्म्म) समझो, इसे काम्य व्रत बनाओ। "व्यापक की शक्ति के हम भागीदार बनें" यही उपासना का लक्ष्य बनाओ। उस से तुम मांग ते क्या हो। उसने तो पहिले से ही तुम्हें सब कुछ दे रक्खा है। केवल तुम्हारे और उस के बीच में अस्मिता का आवरण आ रहा है। ऐश्वर्य-बुद्धियोगलक्षण भक्तियोग से उस आवरण को हटाना है। एतदर्थ सतत उस पर दृष्टि मात्र रखना पर्य्याप्त है। जो मनुष्य देवता को अपने से पृथक् समझकर अपनी अपेक्षा उसे समृद्ध समझता हुआ काम्यदृष्टि से उसकी उपासना करता है, वह उपासनातत्त्व से सर्वथा वञ्चित है। तुम सूर्य्य हो, तुम मनु हो तुम अग्नि हो, तुम्हीं सब कुछ हो। यही उपासना का मूलमन्त्र है। इसी का स्पष्टीकरण करती हुई मन्त्र-ब्राह्मणश्रुतिएं कहतीं हैं—

१—अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चाहं कक्षीवा ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ १ ॥
अहं भूमिमददामार्य्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।

अहमपो अनय वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥ २ ॥
(ऋक्सं० ४ । २६ । १-२) ।

२—आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति । स वा एष एव पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड़ आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति, तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति" ।
(छां. उ. ७ । २५ । २ ।) ।

३—"तान्यस्यैतानि कर्म्मनामान्येव । स योऽत एकैकमुपास्ते, न स वेद । अकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवति । आत्मेत्येवोपासीत । अत ह्येते सर्व एकं भवन्ति । अनेन ह्येतत् सर्वं वेद" (बृहदारण्यक०) ।

भगवत्संशोधित इस भक्तियोग से ऐश्वर्य का उदय होता है, अस्मिता का विनाश होता है । ईश्वर के साथ अनन्यता सम्बन्ध ९ तरह से स्थापित किया जासकता है । अतएव यह योग "नवधाभक्ति" नाम से भी प्रसिद्ध है । विश्व में ईश्वर ९ रूपों से व्याप्त हो रहा है, जिन का कि विशद निरूपण आचार्यरहस्य-में उपबृंहित है । इस योग का राजालोगो में विशेष प्रचार रहा है, अतएव यह योग "राजविद्या" नाम से व्यवहृत किया जासकता है ।

—— ० ——

४—धर्म्मबुद्धियोग के समर्थक वचन

१—ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ (१३ । ४ ।) ।

* इस उपासनायोग को ही राज वद्या, किंवा राजयोग कहा जाता है । जो उक्तलक्षण राजयोग का अनुष्ठान नहीं करते, वे राजभाव से च्युत होते हुए अन्यराजाओं से शासित रहते हैं ।

२—अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥ (१३ । ७ ।) ।

३—कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ (१३ । २० ।)

४—पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ (१३ । २१ ।)

५—य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ (१३ । २३ ।)

६—अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ (१३ । २५ ।) ।

७—प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ (१३ । २९ ।) ।

८—अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरोऽस्थि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ (१३ । ३१ ।) ।

९—कर्म्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःख-मज्ञानं तमसः फलम् ॥ (१४ । १६ ।) ।

१०—ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ (१५ । १ ।) ।

११—अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्म्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ (१५ । २) ।

१२—एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ (१६ । २२ ।) ।

१३–तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥ (१६ । २४ ।) ।

१४–ओं तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधिः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ (१७ । २३ ।) ।

१५–तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ (१७ । २४ ।) ।

१६–तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ (१७ । २५ ।) ।

१७–सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्म्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ (२६ ।) ।

१८–यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ (१७ । २७ ।) ।

१९–यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (१८ । ५ ।) ।

२०–नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्म्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ (११ ।) ।

२१–ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप !
कर्म्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ (४१ ।) ।

२२–स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्म्मसिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ (४५ ।) ।

२३–श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्म्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ (४७ ।) ।

२४–सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ (४८) ।

२५–सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ (५६) ।

२६–यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिं त्वां नियोक्ष्यति ॥ (५९) ।

२७–स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्म्मणा ।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (६०) ।

त्रैलोक्य में स्वतन्त्ररूप से विचरण करने वाले मन्त्रदृष्टा आर्यमहर्षियोंने अपौरुषेय मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के आधार पर श्रौतस्मार्त्त धर्म्मों का आविष्कार किया । यही धर्म्म आगे जाकर शास्त्रीयकर्म्म नाम से प्रसिद्ध हुए । यही कर्म्म ऋषिसम्प्रदाय में "कर्म्मयोग" नाम से सम्बोधित हुआ । ये शास्त्रसिद्ध कर्म्म ऋषियों की दृष्टि में विद्यासापेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्म, विद्या-निरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्म भेद से दो भागो में विभक्त हुए । पुत्र–राज्य–धन–स्वर्गादि सुखसाधनभूत यज्ञकर्म्म, दानकर्म्म एवं तपःकर्म्म यह तीनों विद्यासापेक्ष कर्म्म कहलाए । इष्ट–दत्त- आपूर्त्त यह तीनों विद्यानिरपेक्ष कर्म्म कहलाए । ऋषियों नें आदेश दिया कि अभ्युदय चाहने वाले मनुष्य को स्वस्ववर्णानुसार यावज्जीवन प्रवृत्तिलक्षण उक्त कर्म्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए । शास्त्रप्रतिषिद्ध विकर्म्मों. एवं अविहिताप्रतिषिद्ध अकर्म्मों (निरर्थक कर्म्मों) का परित्याग करना चाहिए, यही मनुष्य का परमधर्म्म है, एवं धर्म्ममूलक कर्म्म ही अभ्युदय का परम साधक है । भगवान् नें इस ऋषिमार्ग का भी आदर किया, परन्तु संशोधन के साथ । भगवान् ने इस सम्बन्ध में केवल प्रवृत्तिमात्र का संशोधन किया । गीताद्वारा भगवान् नें बतलाया कि धर्म्मभाव के विकास के लिए यज्ञादि कर्म्मों का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए, परन्तु फलप्रवृत्ति छोड़ते हुए । भगवान् का आशय यही है कि कर्म्म कभी व्यर्थ नहीं जाता । यदि उसका सर्वात्मना अनुष्ठान

कर लिया तो फल निश्चित है। ऐसी स्थिति में कर्म्मकाल में यदि फल की कामना की जायगी तो कर्म्मसाधक बुद्धि-मन के (फल की ओर) झुक जाने से कर्म्मसिद्धि की ओर उदासीनता आ-जायगी। इससे एक तो कर्म्म की स्वरूप निष्पत्ति ही न होगी। यदि यथाकथचित् पूर्णबल प्रयोग से कामना रहते हुए भी कर्म्म सिद्ध हो गया तो कामना से आसक्तिरूप संस्कार का उदय हो जायगा। यह संस्कार आत्मा के वास्तविक स्वरूप को (ज्योतिर्म्मय विद्याभाग को) आवृत करता हुआ मुक्ति से वञ्चित कर देगा। इसलिए एकमात्र कर्म्म पर अधिकार रखते हुए प्रवृत्तिमूल कामना का एकान्ततः परित्याग कर देना चाहिए, वही सच्चा कर्म्मयोग होगा। चूकि इसयोग के मूल-प्रवर्त्तक ऋषि थे—अतएव इसे हम "आर्षविद्या" नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इससे धर्म्म का उदय होता है, अतएव इसे धर्म्मबुद्धियोग कहना भी अन्वर्थ बन जाता है।

—— * ——

इस प्रकार भगवान् ने क्रमशः चार बुद्धियोगो का निरूपण किया है। जैसा कि प्रक-रण के आरम्भ में बतलाया जाचुका है, भगवान् प्रधानरूप से वैराग्यबुद्धियोग के ही पक्ष-पाती हैं। रागद्वेष रहित बनकर, द्वन्द्वातीत होते हुए अनासक्तिभाव को आगे कर यावज्जीवन कर्म्म करते रहना ही भगवान् को प्रिय है। यही कारण है कि इतर योगों में संशोधन करते हुए भगवान् ने सर्वत्र अपने अभिमत इस वैराग्ययोग का बीच बीच में समावेश कर दिया है, जैसा कि पाठक निम्नलिखित वचनो से स्वयं अनुमान लगा लेंगे—

*२–ज्ञानबुद्धियोग में वैराग्यबुद्धियोग का समावेश—

१—इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत !
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ (७।२७)।

*–पूर्व कथनानुसार इस योग मे भगवान् की अरुचि है, अतएव इस प्रकरण में वैराग्य-बुद्धियोग के वचन भी अत्यल्पसंख्या में उद्धृत हुए हैं।

२—येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ (७।२८) ।

३—अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ ८।१४) ।

३-ऐश्वर्यबुद्धियोग में वैराग्यबुद्धियोग का समावेश

१—न च मां तानि कर्म्माणि निबध्नन्ति धनंजय !
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्म्मसु ॥ (९।९) ।

२—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (१०।१०) ।

३—मत्कर्म्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ (११।५५) ।

४—मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः (१२।२) ।

५—संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ (१२।४)

६—ये तु सर्वाणि कर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ (१२।६) ।

७—मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय ।

८—अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्म्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
९—संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥ (१२।१४) ।
१०—अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ (१२।१६ ।
११—यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ (१२।१७) ।
१२—तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ (१२।१९) ।

४—धर्म्मबुद्धियोग में वैराग्यबुद्धियोग का समावेश—

१—इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ (१३।८) ।
२—असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ (१३।९) ।
३—समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ (१३।२७) ।
४—गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ (१४।२०) ।
५—मानावमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ (१४।२५) ।

६—निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ (१५।५) ।

७—काम्यानां कर्म्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्म्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ (१८।२) ।

८—एतान्यपि तु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ (१८।६) ।

९—कार्यमित्येव यत् कर्म्म नियतं क्रियतेऽर्जुन !

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ (१८।९) ।

१०—नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।

अफलप्रेप्सुना कर्म्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते ॥ (१८।२३) ।

११—असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ (१८।४९) ।

१२—बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ (१८।५१) ।

१३—विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ (१८।५२) ।

१४—अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।

विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (१८।५३) ।

१५—चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ (१८।५७) ।

—— ० ——

पूर्वप्रतिपादित श्लोकोद्धरण प्रकरण से प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि गीता में यद्यपि ६–२–४–९ इन अध्यायों में क्रमशः यद्यपि चार बुद्धियोगों का निरूपण हुआ है,

तथापि इन चारों में **वैराग्यबुद्धियोग** नाम का प्रथम बुद्धियोग ही इतर तीनों बुद्धियोगों की अपेक्षा ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है। साथ ही में यह भी मानने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती कि आदि से अन्त तक वैराग्यबुद्धियोग को अपना प्रधान लक्ष्य बनाने वाला गीताशास्त्र प्रधानतया **वैराग्यबुद्धियोगशास्त्र** है। इसे ही **निष्कामकर्म्मयोग, बुद्धियोग, योग, समत्वयोग भगवन्निष्ठा** आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया जासकता है। साथ ही में प्रसगोपात्त यह भी ध्यान में रखिए कि प्राचीन व्याख्याताओं ने पूर्वनिदर्शनानुसार गीताशास्त्र की १८ अध्याए **६-६-६** इस क्रम से तीन भागों में विभक्त मानीं हैं। उनके अनुसार क्रमशः प्रथमाध्यायषट्क में **कर्म्मयोग** का (प्रवृत्तिमूलक कर्म्मयोग का, द्वितीयाध्यायषट्क में **भक्तियोग** का (प्रेममूला अपराभक्ति का), एवं तृतीयाध्यायषट्क में **ज्ञानयोग** का (सर्वकर्म्मपरित्यागलक्षण संन्यास का निरूपण हुआ है। यदि थोड़ी देर के लिए प्राचीनो के तीनो योगों का (अभ्युपगमवाद से) आदर कर लिया जाय, तब भी इन के उक्त क्रम का तो भी किसी भी दृष्टि से समादर नहीं किया जासकता। इन योगो के अभिमानी प्राचीनों को हमारी दृष्टि से **कर्म्म-भक्ति-ज्ञान** यह क्रम न रख कर **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म** यह क्रम रखना चाहिए था। अस्तु इस पराधिकारचर्चा में हम पाठकों का अधिक समय नष्ट नहीं करना चाहते। प्रकृत में हमारा लक्ष्य वैज्ञानिक क्रम है। उसी का दिग्दर्शन हमारी दृष्टि में मान्य है।

१—प्राचीनाभिमतविषयविभागः

१—प्रथमाध्यायषट्क (६) कर्म्मयोगः (प्रवृत्तिलक्षणः)
२—द्वितीयाध्यायषट्क (६) भक्तियोगः (प्रेमलक्षणः)
३—तृतीयाध्यायषट्क (६) ज्ञानयोगः (कर्म्मत्यागलक्षणः)
—सर्वथा-अनुपादेयः

—०—

२—वैज्ञानिकाभिमतविषयविभागः

१—बुद्धियोगो वैराग्यविद्या (राजर्षिविद्या)—वैराग्यबुद्धियोगः (१ से ६ पर्यन्त)।

२—ज्ञानयोगो ज्ञानविद्या (सिद्धविद्या)—ज्ञानबुद्धियोगः (७ से ८ पर्यन्त)।
३—भक्तियोगो ऐश्वर्यविद्या (राजविद्या)—ऐश्वर्यबुद्धियोगः (९ से १२-पर्यन्त)।
४—कर्म्मयोगो धर्म्मविद्या (आर्षविद्या)—धर्म्मबुद्धियोगः (१३ से १८ पर्यन्त)।

—— ० ——

गीता के बहिरङ्गभावों से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी विषयों पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया। हमें आशा है कि इस बहिरङ्गदृष्टि से पाठक प्रस्तुत गीताविज्ञानभाष्य के प्रतिपाद्य विषयो पर पहुँचे सकेंगे। अब इस सम्बन्ध में केवल एक जिज्ञासा बाकी रहजाती है, एवं उस जिज्ञासा का इतिहास से सम्बन्ध है। ६३६ श्लोकात्मिका **विज्ञानगीता** में ६४ श्लोकात्मिका **ऐतिहासिकगीता** का भी समावेश है। इस इतिहाससंदर्भपरिज्ञान के लिए यह जानना भी आवश्यक हो जाता है कि गीतोपदेश की आवश्यकता क्यों? एवं कब हुई? बस इसी प्रश्न का समाधान कर प्रथमखण्ड समाप्त किया जाता है।

१४– महाभारत और गीता

(ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति)

||श्रीः||

१४–महाभारत और गीता

(ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति)

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" (म० आदि० १.२६७ श्लो०) इस ऐतिह्य सिद्धान्त के अनुसार अपौरुषेय वेदशास्त्र के यथार्थ परिज्ञान के लिए पुराण एवं इतिहास का मनन सर्वथा अपेक्षित है। सृष्टि का इतिहास बतलाने वाला, दूसरे शब्दों में सृष्टि कब बनी? कैसी बनी? किसने बनाई? क्यों बनाई? कहां बनाई? किसमें बनाई? कब तक रहेगी? कब नष्ट होगी? इत्यादि प्रश्नों का विशदरूप से समाधान करने वाला शास्त्र ही पुराण कहलाता है। एवं मानववंश का इतिहास बतलाने वाला, दूसरे शब्दो में राज्यशासन के अनुसार भुवनकोश (भूगोल) का स्वरूप बतलाते हुए राजवंश, देववंश, ब्राह्मणवंश, क्षत्रियवंश, वैश्यवंश, शूद्रवंश आदि का इतिहास बतलाने वाला शास्त्र ही 'इतिहास" कहलाता है।

इस का यह तात्पर्य नहीं समझ लेना चाहिए कि सृष्टीतिवृत्तप्रतिपादक पुराणों में मनुष्यचरित्र नहीं है। अथवा मनुष्येतिवृत्तप्रतिपादक इतिहासग्रन्थों में सृष्टिचरित्र नहीं है। दोनो मे अपने अपने मूलविषय के निरूपण के अतिरिक्त इतर दोनो विषयो का भी निरूपण हुआ है। इसीलिए पौराणिक आख्यान आठ भागो में विभक्त माने गये हैं। वे आठो आख्यान क्रमशः *१–आधिदैविक, २–आध्यात्मिक ३–आधिभौतिक, ४–आधिदैविकाध्यात्मिक, ५–आधिदैविकाधिभौतिक, ६–आधिभौतिकाध्यात्मिक, ७–आधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिक, ८–असदाख्यान इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पौराणिक परिभाषाओं से सर्वथा अपरिचित कई एक कल्पनारसिक पाश्चात्य विद्वान्, एवं तदनुयायी उच्छिष्ट भोगी कतिपय भारतीय विद्वान् पौराणिक आख्यानो के लिए बड़े गर्व से–"माइथालॉजी" (Mythaloji)

---

*–इन आठो आख्यानो का विशद निरूपण 'पुराणरहस्य' में देखना चाहिए। शतपथ ब्राह्मणहिन्दीविज्ञानभाष्य में भी यत्र तत्र इनका संक्षिप्त निरूपण हुआ है।

शब्द की घोषणा करने में अपने ज्ञान की सीमा समाप्त कर देते हैं । उन्हें यह विदित नहीं कि माइथालाजी का तो एक स्वतन्त्र आठवा विभाग है, जिसे कि हम **"असदाख्यान"** नाम से सम्बोधित करते हैं । अवश्य ही पुराणों में कई कथाएं ऐसी है, जिनका केवल कल्पना से सम्बन्ध है ।

प्रकृतिसाम्राज्य के अलौकिक रहस्यों के बोधसौकर्य्य के लिए नक्षत्र-ग्रह-नदी-पर्वत आदि को आधार बनाते हुए **निदानविद्या** के अनुसार अवश्य ही ऋषियोंने कई कल्पित आख्यान बनाएं हैं । परन्तु इस कल्पना के द्वारा हमें उन सत्यतत्त्वों का परिज्ञान होता है, जिस ज्ञान के लिए सम्भवतः पश्चिमी विद्वानों का वास्तविक तत्त्वज्ञान भी असमर्थ ही रहता है । असदाख्यान मिथ्या कथाएं हैं, परन्तु सत्यतत्त्व का परिज्ञान कराने वाली । अस्तु, प्रकृत में इन सब विषयों का स्पष्टीकरण नहीं किया जासकता । यहां हमें केवल यही बतलाना है कि पुराण मानववंश का भी निरूपण करता है, परन्तु उसे विज्ञान का रूप देकर । उदाहरण के लिए, अगस्त्य का ही आख्यान लीजिए । अगस्त्यनक्षत्र, एवं अगस्त्यप्राण पानी का शोषक है । इस कथा को पुराणने मनुष्य के साथ सम्बद्ध किया है । इसी प्रकार इतिहास भी सृष्टिरहस्य का प्रतिपादन करता है । परन्तु इतना विवेक अवश्य ही कर लेना चाहिए कि पुराण में सृष्टिचरित्र की प्रधानता है, एवं इतिहास में मनुष्यचरित्र का प्राधान्य है ।

कुछ एक पश्चिमी विद्वानो का यह भी आक्षेप है कि "भारतीय लोगो का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता । सच बात तो यह है कि अहोरात्र आत्मचिन्तन में हीं निमग्न रहनें वाले भारतीयो ने न कभी सुसभ्य राज्य स्थापित किया, एवं न उन्हे इतिहास लिखने की आवश्यकता ही हुई" । भारतीय साहित्य का अन्वेषण किए बिना बंद कमरे में बैठ कर मनमानी कल्पना कर लेना दूसरी बात है, एवं साहित्यान्वेषण करने के पश्चात सप्रमाण कुछ कहना दूसरी बात है । अस्तु, वे, एवं उनके अनुयायी कुछ भी मानते एवं कहते रहैं, हमें तो केवल अपने साहित्य के आधार पर हमारे इतिहास का विचार करना है । हम परमुखापेक्षी नहीं है, हमें अन्यों के

साधन अपेक्षित नहीं हैं, वे यदि चाहें तो यहीं से कुछ ले सकते हैं (एवं ले रहे हैं !!!)। इतिहासग्रन्थों में आज दिन महाभारत का आसन सब से ऊंचा हैं । यह एक गुप्तरहस्य है, कि, जहां भगवान् व्यासने पुराण १८ बनाएं है, वहा महाभारत के भी १८ही पर्व रक्खें हैं। १८ की संख्या से व्यासदेव को विशेष प्रेम था, ऐसा मालूम होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा ।

"इति ह आस" (ऐसा ही था) इस निर्वचन के अनुसार अतीत मानव चरित्र का "इदमित्थमेव" (यह ऐसा ही था) इस रूप से प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ ही "इतिहास" कहलाता है। आज से लगभग ५ सहस्र वर्ष पहिले कौरव—पाण्डवों में जिस राज्यलिप्सा के कारण महायुद्ध हुआ था, एव जो महायुद्ध भारतश्री के सर्वनाश का कारण बना था, उस युद्ध की घटनाओ का (वंशारम्भ से अन्त तक का) व्यासने जिस ग्रन्थ में निरूपण किया है, वही ग्रन्थ महाभारत नाम से प्रसिद्ध है । यह ग्रन्थ—"इति ह आस" इस मर्यादा से युक्त है, अतः इसे हम अवश्य ही इतिहास शब्द से सम्बोधित कर सकते हैं। गीताशास्त्र के सम्बन्ध में गीतोपदेश की आवश्यकता क्यो हुई ? कब हुई ? कहां हुई ? किसके प्रति हुई ? इत्यादि ऐतिहासिक प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं । साथ ही में गीता महाभारत का ही एक प्रत्यंश है । ऐसी दशा में ऐतिहासिक ग्रन्थ के मध्य में आजाने से) गीता को ऐतिहासिक मर्य्यादा से पृथक् नहीं किया जासकता । इसीलिए गीता में मूलविषय के अतिरिक्त ऐतिहासिक सन्दर्भ का प्रतिपादन करने वाले ६४ श्लोको का व्यासद्वारा समावेश हुआ है । इसी आधार पर ६४ श्लोकात्मिका गीता को हमने "ऐतिहासिकगीता" नाम से, एवं ६३६ श्लोकात्मिका गीता को " विज्ञानगीता" नाम से व्यवहृत किया है । (देखिए पृष्ठसंख्या २२९) ऐसी परिस्थिति में उक्त ऐतिहासिक प्रश्नों के सम्बन्ध में भी कुछ कहना आवश्यक होजाता है ।

महाभारत एक ऐतिहासिक ग्रन्थ होता हुआ भी ज्ञान-विज्ञान का एक अद्भुत कोश है । हम तो यह भी कहने मे किसी संकोच का अनुभव नहीं करते कि १८ पुराण

एक ओर हैं, एवं १८ पर्वात्मक महाभारत दूसरी ओर है। दोनो की तुलना में महाभारत का ही आसन ऊँचा मानना पड़ेगा। हमारी दृष्टि में इस उच्चासन का विशेष कारण है शतपथ-ब्राह्मण। यह ब्राह्मण ब्राह्मणग्रन्थों में अपूर्व है। यह वेद का अन्तिमग्रन्थ है। इसी लिए इस में संक्षेप से सभी तत्त्वों का निरूपण हुआ है। इस की भाषा भी संस्कृतभाषा से मिलती जुलती है। वैदिक साहित्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए शथपथ का अथ से इति तक अध्ययन कर लेना पर्य्याप्त है। न केवल इस में पदार्थविद्या का ही विश्लेषण हुआ है, अपितु पदार्थविद्या के साथ साथ इस में इतिहास, शिल्प, राजनीति, धर्म्मनीति आदि सभी विषयों का समावेश हुआ है। इस अपूर्व ग्रन्थ के निर्म्माता हैं भगवान् याज्ञवल्क्य। "कृत्तिकास्वाग्नीग्रादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते" (शत० ब्रा० २ कां २। ३।) इस वचन के अनुसार हम शथपथ का निर्म्माणकाल लगभग महाभारत के समकालीन मानने के लिए तय्यार हैं। शतपथ कहता है कि-"कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याध्यान करना चाहिए। क्योंकि यह नक्षत्र पूर्व दिशा को नहीं छोड़ते"। इस कथन से विदित होता है कि शतपथकाल में सप्तनक्षत्रात्मक क्षुरिकाकृति कृत्तिका नक्षत्र पर ही अयनसम्पात था। परन्तु हम देखते हैं कि आज अयनसम्पात कृत्तिका को छोड़ कर सन् १९०० ई० तक) लगभग ६० अंश (डिग्री) हट चुका है। साथ ही में ज्योतिर्गणना के अनुसार यह भी सिद्ध विषय है कि एक अंश के हटने में लगभग ७५ वर्ष लगते हैं। इस हिसाब से कृत्तिकासम्पातकाल सन् १९०० से पहिले लगभग ४९६५ (चार हजार नौसौ पैंसठ) वर्ष पीछे जाता है। यही समय महाभारत का ठहरता है।

इसी आधार पर हम उक्त दोनो ग्रन्थों को (महाभारत एवं शतपथ को) समकालीन मानने लिए तय्यार हैं। हां इस सम्बन्ध में यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि शतपथ ग्रन्थ महाभारत से कुछ समय पहिले बना था, एवं महाभारत का निर्माण कुछ समय पीछे हुआ था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि महाभारत में अथ से इति पर्यन्त प्रमाणस्थलों में स्थान स्थान पर "इति शातपथी श्रुतिः" "इति शातपथी श्रुतिः" इत्यादि रूप से शतपथ के वचनों का उल्लेख मिलता है। यदि पाठक अवधानपूर्वक महाभारत का आदि से अन्त तक अध्ययन करेंगे

तो उन्हें यह मान लेना पड़ेगा कि व्यास ने महाभारत के व्याज से सम्पूर्ण शतपथ का अनुवाद कर डाला है। अपिच जनकयाज्ञवल्क्यसंवाद में स्वयं याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा है कि मैंने शतपथ बनाया है। इस आख्यान से तो यह स्पष्ट ही सिद्ध हो जाता है कि शतपथ अवश्य ही महाभारत से कुछ पहिले बना होगा, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

ततः शतपथं कृत्स्नं माहात्म्यं ससंग्रहम्।
चक्रे सपरिशेषं च हर्षेण परमेण ह ॥१॥
कर्त्तुं शतपथं चेदमपूर्वं च कृतं मया।
यथाभिलषितं मार्गं तथा तच्चोपपादितम् ॥२॥
(महाभा० शा० मो० ३१८।)

कहना हमें केवल यह है कि महाभारत एक ऐतिह्यग्रन्थ होता हुआ भी शतपथ के सम्बन्ध से विज्ञानग्रन्थ है। इस की महत्ता का दूसरा कारण है, गीताग्रन्थ। भगवान् ने अर्जुन को ज्ञान-विज्ञानात्मक जिस अलौकिक एवं अपूर्व बुद्धियोग का उपदेश दिया था, व्यासने अपनी भाषा में १८ अध्यायों में उस का निरूपण किया है। इन्ही सब विभूतियो के कारण महाभारत सचमुच एक अलौकिक ग्रन्थ बन गया है। इतर सारे ग्रन्थो को छोड़ दीजिए, केवल महाभारत ही हमारे सब संशय दूर कर भारतीयशास्त्रों के यथार्थ स्वरूप को हमारे सामने प्रत्यक्षवत् उपस्थित करने के लिए पर्य्याप्त है। महाभारत अगाध समुद्र है। उसके अमल रत्नो की कान्ति से आज भी आर्यसाहित्यभवन प्रकाशित हो रहा है। भारतवर्ष को ही नहीं, अपितु समस्त विश्व को अपने अलौकिक आलोक से आलोकित करने वाला वाला गीतारत्न भी इसी समुद्र की निधि है। १८ पर्वों के सम्बन्ध से ९ (१+८-९) संख्या में परिणत होता हुआ यह ग्रन्थ अवश्य ही आत्मा की पूर्णविभूति का निरूपक है। १८ का संकेत बतला रहा है कि व्यास ने इस में १८ पुराणों का सार रख दिया है, वेद-ब्राह्मण-उपनिषत्-आदि का नवनीत निकाल कर पृथक् रख दिया है। साथ ही में १+८ के संकलनरूप ९ भावों के सम्बन्ध को व्यक्त करता हुआ यह ग्रन्थ यह भी सिद्ध कर रहा है कि "मैंने इतिहास के साथ साथ नवफल

विश्वेश्वर का भी निरूपण किया है, एवं यही निरूपण गीता द्वारा उपबृंहित हुआ है। सचमुच इस उपबृंहण में श्रीकृष्ण कृष्णद्वैपायन से भी आगे बढ़ गए हैं। स्वयं व्यास ने अपने मुख से कृष्ण का महत्व स्वीकार किया है। प्रत्येक आर्यसन्तान से हम आग्रह करेंगे कि वह अपना वास्तविक स्वरूप परिचय प्राप्त करने के लिए, अपने घर की अमूल्य निधि का उपयोग करने के लिए आद्योपान्त इस ग्रन्थ का अपने जीवन में कम से कम एक बार अवश्य अवश्य अध्ययन करले महाभारत की अलौकिकता, ज्ञान—विज्ञानप्रतिपादकता, अपूर्वता, ए पूर्णता निम्न लिखित वचनो से स्पष्ट सिद्ध हो रही है—

पुराणसंहिताः पुण्याः कथा धर्म्मार्थसंश्रिताः।
इतिवृत्तं नरेन्द्राणामृषीणां च महात्मनाम् ॥१॥ म० आदि० १।१६)।
उवाच स महातेजा ब्राह्मणं परमेष्ठिनम् ॥
कृतं मयेदं भगवान् काव्यं परमपूजितम् ॥२॥
ब्रह्मन्! वेदरहस्यं च यच्चान्यत् स्थापितं मया॥
साङ्गोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया ॥३॥
इतिहासपुराणानामुन्मेषं निर्मितं च यत् ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च त्रिविधं कालसंज्ञितम् ॥४॥
जरामृत्युभयव्याधिभावाभावविनिश्चयः ॥
विविधस्य च धर्म्मस्य ह्याश्रमाणां च लक्षणम् ॥५॥
चातुर्वर्ण्यविधानं च पुराणानां च कृत्स्नशः ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य पृथिव्याश्चन्द्रसूर्ययोः ॥६॥
ग्रहनक्षत्रताराणां प्रमाणं च युगैः सह ॥
ऋचो यजूंषि सामानि वेदाध्यात्मं तथैव च ॥७॥
न्यायशिक्षाचिकित्सा च दानं पाशुपतं तथा ॥
हेतुनैव समं जन्म दिव्यमानुषसंज्ञितम् ॥८॥

तीर्थानां चैव पुण्यानां देशानां चैव कीर्त्तनम् ॥
नदीनां पर्वतानां च वनानां सागरस्य च ॥९॥
पुराणां चैव दिव्यानां कल्पानां युद्धकौशलम् ॥
वाक्यजातिविशेषाश्च लोकयात्राक्रमश्च यः ॥१०॥
यच्चापि सर्वगं वस्तु तच्चैव प्रतिपादितम् ॥
परं न लेखकः कश्चित्–एतस्य भुवि विद्यते ॥११॥
"यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित्" (प.आ १।६१-७-श्लोक)।
अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्म्मशास्त्रमिदं महत् ॥
कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ॥१२॥
यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः ॥
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥१३॥ (म.स.प.संग्रह)।

विद्याओं के सम्बन्ध में युगो की चर्चा करते हुए हमने साध्ययुग के अनन्तर देवयुग की सत्ता बतलाई है। देवयुग की सभ्यता का आरम्भ काल ही आर्यइतिहास का आरम्भ काल है। महाभारत ने अपने इतिहास का आरम्भ इसी देवयुग से किया है। देवयुग से आरम्भ कर महाभारत पर्य्यन्त इतिहास का सिलसिलेवार निरूपण करना ही महाभारत का मुख्य उद्देश्य है। और अपने इस उद्देश्य मे महाभारत सर्वात्मना सफल हुआ है।

आर्यराजवंश को हम अपने ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर सूर्य्यवंश, चन्द्रवंश, अग्निवंश भेद से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। देवयुगकाल में देवलोक में (स्वर्ग में) आदित्य-सूर्य इत्यादि नामों से प्रसिद्ध इन्द्र, धाता, भग, पूषा, अर्य्यमा, त्वष्टा, वरुण, अंशु, विवस्वान्, सविता, विष्णु, मित्र, ये १२ देवजातिएं सुप्रसिद्ध थीं। इन १२ सूर्य्यों, किंवा आदित्यो में विवस्वान् नाम की जाति को विशेष गौरव प्राप्त था। इसी जातिविशेष के पुरुषो को आगे जाकर भारतवर्ष का साम्राज्य मिला था। इन्हीं विवस्वानों में से प्रबल प्रतापी स्वयम्भू

ब्रह्मा के मानसपुत्र* स्वायम्भुव नाम के विवस्वान् आदित्य सूर्य्यवंश के आदि प्रवर्त्तक हुए। इस स्वायम्भुव विवस्वान् मनु के श्रद्धादेव एवं यम नाम के दो औरसपुत्र उत्पन्न हुए। यही श्रद्धादेव ब्राह्मणादि ग्रन्थों में श्रद्धादेव नाम से प्रसिद्ध हुए—"श्रद्धादेवो वै मनुः" (शत. ब्रा.१।१।४।१४), एवं पुराणों में श्राद्धदेव नाम से व्यवहृत हुए। जिस प्रकार वैदिक "वक्षु" नदी पाठदोषों से "चक्षु" रूप में परिणत हो गई है, एवमेव श्रद्धादेव शब्द भी संशोधक के भ्रम से श्राद्धदेव रूप में परिणत हो गया है। स्वयम्भूब्रह्मा की अनुज्ञा से, एवं साथ ही में श्रद्धादेव के ज्येष्ठपुत्र होने से न्यायतः श्रद्धादेव को ही "मनु" बनाया गया। "मनु" किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है, अपितु भारतीय प्रजा पर शासन करने वाले सम्राट् की आधिकारिकी संज्ञा ही मनु है। इसी मनु के सम्बन्ध से भारतीय प्रजा मनुष्य, किंवा मानव नाम से प्रसिद्ध हुई, यह भी निःसदिग्ध विषय है। श्रद्धादेव को मनु बनाया गया, इसका तात्पर्य यही हुआ कि भारतवर्ष के सम्राट् श्रद्धादेव ही बनें। विवस्वान् के पुत्र होने के कारण यही "वैवस्वतमनु" नाम से प्रसिद्ध हुए। 'राजा" शब्द का पहिला आविष्कार वैवस्वत के लिए ही हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। यही भारत वर्ष के पहिले सम्राट् हुए। जिस प्रकार स्वायम्भुव विवस्वान् के जेष्ठपुत्र श्रद्धादेव मनुष्य प्रजा के शासक थे, एवमेव विवस्वान् के कनिष्ठपुत्र, अतएव वैवस्वत नाम से ही प्रसिद्ध यम पितृप्रजा के शासक बनाए गए, जैसा कि निम्नलिखित वाजिश्रुति से स्पष्ट है—

> "मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विशः(प्रजा)। तऽइमऽआसतऽइस श्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति। यमो वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य पितरो विशः, तऽइमऽआसतऽइति स्थविरा उपसमेता भवन्ति" (शत.ब्रा.१३।३।३-६कं.)। इति॥

मानव समाज की सुव्यवस्था के लिए भगवान् स्वयम्भू ब्रह्माने (जिन्होंनें कि कैलाश पर्वत् को अपनी आवासभूमि बनाया था) वेद—लोक—प्रजा—धर्म्म इन चारों को सुव्यवस्थित

* यही स्वयम्भू देवयुग के प्रथम व्यवस्थापक थे। यह योग्य व्यक्तियों को अपना दत्तक-पुत्र बना लेते थे। वे ही दत्तक पुत्र पुराणेतिहास में "मानसपुत्र" नाम से प्रसिद्ध हैं। भृगु वरुण के औरसपुत्र थे, परन्तु यही आगे जाकर ब्रह्मा के मानसपुत्र कहलाने लगे।

किया । असुरत्रिलोकी से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है । देवत्रिलोकी में रहने वाली प्रजा के पांच वर्ग बनाए । वे हीं पांचों वर्ग ऋषि, पितर, देवता, देवयोनि, मनुष्य नाम से प्रसिद्ध हुए ।

१—ऋषि

प्राकृतिक प्राणतत्त्व को ऋषि कहा जाता है । यही प्राणतत्त्व सृष्टि का मूलप्रवर्तक है —(देखिए शत.ब्रा. ६।१।१) । यही ऋषिप्राण "विरूपास इद् ऋषयस्त इद् गम्भीरवेपसः" (ऋक्सं० १० । ६२।५।) के अनुसार अनन्त प्रकार के हैं । वसिष्ठ, विश्वामित्र, कश्यप, भृगु, अङ्गिरा, नारद, बालखिल्या, सनक सनन्दन, सनत्कुमार, जमदग्नि, बृहस्पति, आदि आप जितनें भी नाम सुनते हैं, वे सब प्राणात्मक ऋषि हैं, सृष्टिप्रवर्त्तक मौलिक तत्त्व हैं । जिन जिन पुरुषपुङ्गवोंने अपने चिरकालिक तपोयोग से जिन जिन प्राणात्मक ऋषियों की परीक्षा कर वि[illegible] उनके द्वारा अपूर्व विज्ञानों का आविष्कार किया, वे पुरुष उन उन ऋषिप्राणों के नाम से ही प्रसिद्ध हुए यह मनुष्य ऋषि प्राणऋषियों के द्रष्टा (परीक्षक) थे, एवं सर्वतन्त्रस्वतन्त्र थे । पृथवी (भारतवर्ष), अन्तरिक्ष स्वर्ग तीनो लोको मे स्वतन्त्ररूप से विचरण करते हुए, यथाभिरुचि तीनो लोको में अपने आश्रम बनाते हुए विद्या एव तपोयोग से लोककल्याण करते रहना ही इनका मुख्य कर्म्म था ।

विद्यातारतम्य से इन ऋषियों के ब्रह्म—ऋषि—देव—ब्राह्मण—विप्र यह पाच अवान्तर विभाग थे । ब्राह्मणकुल में जन्ममात्र लेने वाले जात्योपजीवी ब्राह्मण विप्र कहलाते थे । इनकी समाज में विशेष प्रतिष्ठा न थी । जो ब्राह्मण शास्त्रों के परिज्ञाता थे, वे ब्राह्मण ही कहलाते थे । केवल शास्त्र पढ लेना, एवं अध्ययनाध्यापनवृत्ति में आरूढ रहना ही इनका मुख्य कर्म्म था । जो ब्राह्मण शास्त्रज्ञान के साथ साथ ही प्राकृतिक प्राणदेवताओं के आधार पर देवयजनरूप यज्ञकर्म्म में रत रहते थे, यज्ञों के आधार पर अनावृष्टि, दुरकाल, महामारी आदि प्राकृतिक आक्रमणो से प्रजा की रक्षा किया करते थे, ऐसे कर्मठ याज्ञिक ब्राह्मण ही "देव"

नाम से प्रसिद्ध थे। यही वर्ग भूसुर-भूदेव आदि नामों से प्रसिद्ध था। इन्हीं ब्राह्मणदेवों के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—

*द्वया वै देवाः। देवा अहैव देवाः (प्राकृतिका नित्यदेवाः)।
अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रूवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः" (शत. ब्रा. २।२ ६)।

इन मौलिक प्राकृतिक प्राणतत्त्वों में से एक एक दो दो प्राणों की परीक्षा कर उसका साक्षात करने वाले ब्राह्मण ऋषि नाम से सम्बोधित होते थे। यही मन्त्रद्रष्टा भी कहलाते थे। जैसा कि—"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो वभूवुः" इत्यादि से स्पष्ट है। ऐसे अनेक ऋषि जिस एक महापुरुष की अध्यक्षता में प्राणपरीक्षा किया करते थे, वही कुलपति "ब्रह्मा" नाम से प्रसिद्ध होते थे, यही ब्रह्मपर्षत् के अध्यक्ष माने जाते थे। देवयुग में ऐसे कई ब्रह्मा थे। १० तो प्रधान ही ब्रह्मपर्षदे थीं, जिनका कि निरूपण विस्तरभिया प्रकृत में नहीं किया जासकता। इसी ब्रह्मपदवी को लक्ष्य में रखकर पुराणों में "दश ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः" यह कहा गया है। इसी प्राक्तन ब्रह्मविभाग का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"उद्दालको हारुणिः उदीच्यान्वृतो धावयाञ्चकार। तस्य निष्क उपाहित आस। एतद्ध स्म वै तत् पूर्वेषां वृतानां धावयतामेकधनमुपाहितं भवति। उ(भ)यवल्हाय विभ्यतां तान् होदीच्यानां ब्राह्मणान् भीर्विवेद। कौरुपाञ्चालो वा अयं ब्रह्मा ब्रह्मपुत्रः" (शत० ब्रा० ११।४।१)।

इन पांचों श्रेणियों में से ब्रह्मपर्षत् का अध्यक्ष कुलपति ब्रह्मवर्ग, प्राणपरीक्षक ऋषिवर्ग यह दो तो सर्वथा स्वतन्त्र थे। केवल स्वयम्भू का ही शासन इन पर चल सकता था। इन पर भारतीय राजाओं का कोई प्रभुत्व न था। यही नहीं, अपितु भारतीय राजाओ पर एक

* अथ हैते मनुष्यदेवाः, ये ब्राह्मणाः (षड् ब्रा०१।२।)।
एते वै देवा अहुतादो, यद् ब्राह्मणाः। (गो०ब्रा०उ० १।६।)।

प्रकार से ये शासन करते थे। जब जब भारतीय राजा धर्म्मनीति से विमुख होते थे, तब तब ही यह दोनों वर्ग इनका दमन कर देते थे। ब्रह्मबल सदा क्षत्रबल पर विजय प्राप्त करता था। महाराज वेन इन्हीं ऋषियों द्वारा सिंहासन से च्युत कर दिए गए थे। इन्द्राणी की कामना करने वाले नहुष को इन्हीं ऋषियो के दण्ड का शिकार होना पड़ा था। यज्ञकर्माधिष्ठाता देववर्ग, शास्त्रनिष्ठ ब्राह्मणवर्ग इन दोनों पर चन्द्रमा का आधिपत्य था। चन्द्रमा अत्रिमहर्षि के औरस पुत्र थे, अतएव जात्या ब्राह्मण थे। स्वयम्भूने इन्हे उत्तरदिशा का दिक्पाल बनाया, ओषधि एव देव-ब्राह्मणों का लोकपाल बनाया। भारतीय कर्मठ भूदेव, एव शास्त्रनिष्ठ ब्राह्मण दोनो को चन्द्रमा के शासन में चलना पड़ता था। भारतीय इतर राजाओं का इन पर कोई शासन न था, जैसा कि-"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। यह चारों ही वर्ग श्रोत्रिय थे। चारो ही वैवस्वतमनु के शासन से पृथक् थे। पांचवा यथाजात, अतएव अश्रोत्रियवर्ग मनु की प्रजा थी। क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-अवरवर्णादि भारतीय इतर अश्रोत्रिय गृहमेधी मनुष्यों पर जैसे मनु का शासन था, एवमेव इन अश्रोत्रिय गृहमेधी विप्रो को भी मनु के शासन से ही शासित रहना पड़ता था, यह पाचों ही एक प्रकार से भारतवर्षीयवर्ग थे।

ऋषिवर्गा:-(१)

१-१-ब्रह्मवर्गः——→कुलपतिः-ब्रह्मपर्षदध्यक्षः(ब्रह्मा)		स्वतन्त्राः (स्वयम्भूरध्यक्षः)
२-२-ऋषिवर्गः——→प्राणपरीक्षकः......(ऋषिः)		
३-१-देववर्गः——→यज्ञकर्म्मसञ्चालकः . (देवः)		चन्द्रेण शासिताः
४-२-ब्राह्मणवर्गः——→शास्त्रेषु पारङ्गतः.... ब्राह्मणः)		
५-१-विप्रवर्गः——→यथाजातो जात्योपजीवी (विप्रः)		मनुप्रजाः

२—पितरः

मौलिक प्राण को हमनें ऋषि कहा है। इसी ऋषिप्राण का नाम यजुस्तत्त्व है। यजु में यत्-जू दो विभाग हैं। यत् गतितत्त्व है, यही प्राण है। जू स्थितितत्त्व है, यही वाक् है। प्राण

ऋषि के व्यापार से वाक् ही द्रुत होकर अप्स्वरूप में परिणत होजाती है। यही ऋषिप्राण की यौगिक अवस्था है। अनेक मौलिक (ऋषि) प्राणों के रासायनिक संयोग से उत्पन्न होने वाला यौगिक आप्यप्राण, किंवा सौम्यप्राण ही पितर है। ऋषि से सर्वप्रथम इस सौम्यप्राण रूप पितर का ही विकास होता है। यही पितरप्राण मैथुनीसृष्टि का मूलप्रवर्तक है, शुक्र ही इस की प्रतिष्ठा है। सात पीढी तक एक पितर प्राण का वितान होता है, इसी आधार पर "सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्"-"सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते" यह कहा जाता है। इस पितरप्राण के नान्दीमुख, पार्वण, अश्रुमुख भेद से तीन वर्ग हैं। इन्हीं के आगे जाकर अग्निष्वात्ता, सोमसत्, वर्हिषत्, आज्यपा, सोमपा, हविर्भुक् सुकाली आदि अनेक भेद हो जाते हैं। इन सब विषयों के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है। इस सम्बन्ध में विशेष जिज्ञासा रखने वालों को "श्राद्धविज्ञान" नामक ग्रन्थ ही देखना चाहिए। प्रकृत में हमें केवल यही बतलाना है कि मनुष्यों में से जिन मनुष्यों के अन्तरात्मा में इतर प्राणों की अपेक्षा पितरप्राण विशेषरूप से विकसित था, वे ही मनुष्य देवयुग में "पितर" नाम से प्रसिद्ध थे। यह एक स्वतन्त्र जाति थी। यही पितृलोक आज दिन "मङ्गोलिया" नाम से प्रसिद्ध है। इस पितर प्रजापर स्वायम्भुव विवस्वान् के कनिष्ठपुत्र वैवस्वत यम का शासन था।

३—देवाः

ऋषि से पितर प्राण का विकास हुआ। यह पितर प्राण स्नेह-तेजो भेद से दो भागों में विभक्त हुआ। स्नेहतत्त्व भृगु कहलाया, तेजस्तत्त्व अङ्गिरा कहलाया। भृगु की अवस्थाविशेषरूप दाह्य सोम के सम्बन्ध से अङ्गिरोऽग्नि ही प्रज्वलित होकर सूर्य्यरूप में परिणत हुआ। इस सोमाग्निमय ज्योतिर्घन सौरप्राण का नाम ही "देवता" हुआ। यह देवप्राण ही आगे जाकर ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य प्रजापति-वषट्कार भेद से ३३ विभागों में परिणत हुआ। यही ३३ प्राकृतिक नित्य प्राणदेवता कहलाए। जिन मनुष्यों के अन्तरात्मा में जिस प्राणदेवता का विकास था, वे उसी नाम से प्रसिद्ध हुए। जिस युग में स्वयम्भू के द्वारा यह अपूर्व अ-

न्वेषण होकर पृथिवी पर मनुष्यों में ही देवव्यवस्था प्रतिष्ठित हुई, वही युग देवयुग नाम से व्यवहृत हुआ, जिसका कि दिग्दर्शन पूर्वप्रकरणों में कराया जाचुका है। हिमालयपर्वत की द्रोणियों से उस पार (४७॥ अंक्षांशा से ६० पर्यन्त) का स्थान स्वर्गलोक कहलाया, जैसा कि "उत्तरे हिमवत् पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते" इत्यादि भारतवचनों से स्पष्ट है। इसी स्वर्गलोक में यह जाति निवास करती थी। १२ आदित्यों में से इन्द्र नाम की प्रसिद्ध देवजाति के व्यक्तिविशेष (इन्द्र) ही समय समय पर स्वर्गाध्यक्ष बनाए जाते थे। इन्द्र किसी व्यक्ति नाम नहीं है, अपितु जाति का नाम है। यही इन्द्र शब्द आगे जाकर स्वर्गाध्यक्षपदवी में निरूढ हो गया है। यह इन्द्र स्वर्ग के "स्वाराट्" शासक थे।

४—देवयोनयः

विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, ये ९ जातिए अन्तरिक्षलोक में निवास करतीं थीं। इन्हे हीं देवयोनि एव तिर्यक्गति कहा जाता था। जिस पर्वत से (शर्यणावतसे*) इरावती (रावी) नदी निकलती है, उस से आगे (उत्तर की ओर), एव हिमालय से इधर इधर का सारा प्रान्त इन की आवासभूमि थी। सुप्रसिद्ध **नन्दनवन, वैभ्राजवन, काननवन,** उमावन, स्कन्दवन आदि महावन इसी अन्तरिक्षलोकमें थे। इस प्रजा के शासक **वायुदेवता** थे।

५—मनुष्याः

अश्रोत्रिय **विप्र** नाम के **ब्राह्मण**, त्रिविध **क्षत्रिय**, भलन्दन के वशज **वैश्य**, ४ **शूद्र**, अन्त्यज, **अन्त्यावसायी** भेद से मनुष्यप्रजा ६ भागो में विभक्त थी। इसी पर श्रद्धादेव नाम के वैवस्वत मनु का शासन था। **मानवधर्म्मशास्त्र** इस प्रजा का शासनसूत्र था। यह धर्म्मसूत्र केवल भारतीय मनुष्यप्रजा का ही नियन्त्रण कर सकता था। श्रोत्रिय चारो ब्राह्मणवर्ग, देवयोनिवर्ग,

---

*यही शर्य्यणावत आज के एटलस् मे "शिवालक" नाम से प्रसिद्ध है।

देववर्ग, इस नियन्त्रण से बाहर थे। इसीलिए तो अन्तरिक्ष में रहने वाले गन्धर्वों के अध्यक्ष चन्द्रमाने गुरुपत्नी तारा के साथ गान्धर्वविवाह करना अनुचित न समझा था।

———o———
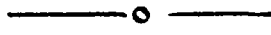
इन पांचों विभागों के शास्ता, अतएव विराट् नाम से प्रसिद्ध भगवान् स्वयम्भू ब्रह्मा, एवं उत्तरदिशा में निरक्ष से ठीक सामने भद्रगिरि एवं चन्द्रगिरि नाम के दोनों पर्वतों के मध्य में निवास करने वाले भगवान् विष्णु थे। भारतीय प्रजा पर जब कोई सङ्कट आता था तो यह राजा की शरण में जाती थी, राजा यदि अपने को असमर्थ पाता था तो वह भारतीय देव-ऋषि आदि की शरण में जाता था। ये देवताओं का आश्रय लेते थे। देवता असमर्थ होते हुए ब्रह्मा के पास जाते थे। ब्रह्मा विष्णु से परामर्श कर सब कुछ व्यवस्थित कर देते थे। यह थी उस युग की शासनप्रणाली ! सुसमृद्ध वैभव !! अपूर्व अभ्युदय !!! देवयुग से आरम्भ कर महाभारत काल से लगभग १५००० वर्ष पूर्व तक यह व्यवस्था सुव्यवस्थित रूप से चलती रही। आगे जाकर हमारे चरित नायक चन्द्रमा की कृपा से (ताराहरण प्रसङ्ग से) देवबल नष्टप्राय हो गया, असुरो द्वारा यज्ञसाधक सोमवृक्ष (सोमवल्ली) छिन्न भिन्न कर दिया गया। सम्पूर्ण देवत्रिलोकी पर असुरों ने आधिपत्य कर लिया।

१—ऋषयः (त्रैलोक्यविचरणशीलाः सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः)।
२—पितरः (........................यमो वैवस्वतः शासकः)।
३—देवाः (स्वर्गलोकस्थाः ....इन्द्रः शासकः)।
४—देवयोनयः (अन्तरिक्षलोकस्थाः........वायुः शासकः)।
५—मनुष्याः (पृथिवीलोकस्थाः—भारतीयाः—श्रद्धादेवो मनुः शासकः)।

उक्त निदर्शन से प्रकृत में हमें केवल यही कहना है कि वैवस्वतमनु(श्रद्धादेव) स्वायम्भुव विवस्वान् नामक सूर्य्य के पुत्र थे। यह भारतवर्ष के सम्राट् अवश्य बन गये। परन्तु स्थायीरूप से इन्होंने भारतवर्ष में कभी निवास न किया। यह जीवन पर्य्यन्त अपनी जन्मभूमि

उत्तर कुरुक्षेत्र (स्वर्गलोक-देवलोक) में ही रहे । इन्होंने अपनी भारतीय प्रजा के शासन के लिए अपने पुत्रों को ही नियत किया । इनके इक्ष्वाकु,नृग, धृष्ट,शर्य्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, नाभानेदिष्ट, करूप, पृषध्र, सुद्युम्न नाम के १० पुत्र थे, एवं *"इला" नाम की एक कन्या थी। यह जेष्ठपुत्र इक्ष्वाकु से भी वडी थी । क्योंकि यह १० सों ही विवस्वान् सूर्य्य के पौत्र (पोते) थे, अत एव ये, एवं इनके वंशधर सूर्य्यवंशी क्षत्रिय कहलाए । इसी दृष्टि से वैवस्वत मनु (श्राद्धदेव) को ही सूर्य्यवंश का मूलपुरुष माना जा सकता है साथही में भारतवर्ष में रहकर साम्राज्य सञ्चालन करने वाले पहिले मनु इक्ष्वाकु ही हुए । इसीलिए-"इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः" (रघुवंश) इत्यादि के अनुसार इक्ष्वाकु भी सूर्य्यवंश के प्रवर्त्तक माने गए हैं । वैवस्वतमनु ने अपने ज्येष्ठपुत्र इक्ष्वाकु को भारतवर्ष का मनु वनाते हुए यह आदेश दिया कि 'तुम न्यायपूर्वक आपस में भारतवर्ष का विभाग करलो" । आज्ञानुसार वैवस्वत के दिवंगत होने पर इक्ष्वाकु ने दायादधर्म से भ-

* श्री जयदेव विद्यालङ्कारने "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" नामका एक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखा है । अवश्य ही कितनें ही अंशो में आप इस प्रयत्न में सफल भी हुए हैं । परन्तु हमें यह कहते हुए दुःख होता है कि कई एक ऐतिहासिक सत्य घटनाओं के सम्बन्ध में आपने भी वे ही उद्गार प्रकट किए हैं, जैसे कि आर्यसाहित्य से परिचय न रखने वाले कतिपय पाश्चात्य विद्वान् पौराणिक आख्यानो को कल्पना वतलाया करते हैं । जिस इला का आख्यान स्वयं वेद मे निरूपित है, उसी के सम्बन्ध में लेखक महोदयने अपने ये विचार प्रकट किये हैं कि "एक ऊटपटांग कहानी प्रसिद्ध है कि मनु की लड़की इला थी, जिसने सोम (चन्द्रमा) के बेटे बुध से समागम कर पुरूरवा को जन्म दिया था । यह कहानी केवल ऐल शब्द की व्याख्या करने को गढ़ी गई दीखती है" (भा० इ० रू० खं० २अ. ३पृ. (२८) । इस सम्बन्ध में हम जयदेवजी को दो० नहीं देते। वैदिक साहित्य के अध्ययन की कमी से साथ ही में पश्चिमी विद्वानों की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से भारतीय विद्वानों का यह कर्त्तव्यसा वन गया है कि वे भारतीय संस्कृति के पक्षपाती वनते हुए भी संगदोष के प्रवाह में पड़कर उनकी हां में हां मिलाने में ही अपना गौरव समझने लगते हैं । यह प्रवृत्ति हमारे लिए वडी ही घातक है । हमें स्वतन्त्र होकर निष्पक्षपात बन कर अपने ग्रन्थो के आधार पर अपने इतिहास का अन्वेषण करना पड़ेगा । तभी हम सत्य निर्णय प्राप्त करने मे समर्थ हो सकेंगे ।

नुसार भरतखण्ड को १० भागों में विभक्त किया, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

प्रविष्टे तु मनौ तात! दिवाकरतनुं तदा।
दशधा तत्र तत क्षेत्रमकरोत् पृथिवीं मनुः॥(शि०पु उमासं०३६अ.)।

इक्ष्वाकु चूंकि सम्राट् थे, एवं श्रद्धादेव के ज्येष्ठपुत्र थे, अतएव आगे जाकर यह भी मनुनाम से ही प्रसिद्ध हुए। पिता के आदेशानुसार भूलोक को विभक्त कर इक्ष्वाकुने गङ्गा से पूर्व अयोध्या नाम की राजधानी स्थापित की। यही सूर्यवंशी राजाओं की पहिली, प्रधान एवं श्रेष्ठ राजधानी कहलाई।

इक्ष्वाकु के अतिरिक्त शेष ९ भ्राताओने अपने अपने स्वतन्त्र माण्डलिक राज्य स्थापित किए। इस प्रकार सूर्यवंश आगे जाकर कई शाखाओं में विभक्त हो गया। इन सब में इक्ष्वाकु-वंशज बड़े ही प्रतापी हुए। इक्ष्वाकु के अनेक पुत्रों में से ज्येष्ठपुत्र विकुक्षि को अयोध्या का राज्य मिला। विकुक्षि के सुप्रसिद्ध ककुत्स्थ नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। इनके सम्बन्ध से इक्ष्वाकुवंशज काकुत्स्थ नाम से भी प्रसिद्ध हुए, जैसा कि "काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम्"(रघुवंश इत्यादि से स्पष्ट है।

इक्ष्वाकु के कनिष्ठपुत्र इतिहास प्रसिद्ध महाराज "निमि" थे इनमें और इनके बड़े भाई में किसी कारण विशेष से वैमनस्य होगया, फलत. निमि अयोध्या छोड़ कर मौनव्रत धारण कर निकल गए। अब तक इन के कुलपुरोहित वसिष्ठ ही थे, परन्तु निमि ने राज्य छोड़ते समय रहुगण गोतम को अपना पुरोहित बनाया, इन्हे साथ लेकर यह निकल पड़े। अन्ततोगत्वा अयोध्या और वैशाली के मध्य में जलप्लावित भूमि को यज्ञप्रक्रिया द्वारा सुखा कर वहीं इन्हो ने अपना नया राज्य स्थापित किया। यहां आकर इन्होने अपना मौनव्रत तोड़ा। इनके राज्य की अन्तिम सीमा "सदानीरा" नाम की प्रसिद्ध नदी हुई। यही निमि कोमलविदेहो के मूलपुरुष माने गए। वसिष्ठशाप से इन का शरीर जल गया। आगे आकर मन्थनप्रक्रिया द्वारा इन्हें जीवित किया गया। मन्थनप्रक्रिया से उत्पन्न होते के कारण ही निमि का यह रूपान्तर 'मिथि" नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इस मिथि राजा के वशज ही माथव कहलाए। यही माथव शब्द आगे जाकर मैथिल रूप में परिणत हो गया-(देखिए शत० ब्रा० १ । ४ । १ । १ ।)। महाराज मिथि के सम्बन्ध से ही यह नगरी "मिथिला" नाम से प्रसिद्ध हुई, एव यही वंश जनक नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी वश में जगन्माता जानकी का प्रादुर्भाव हुआ , एव इनके साथ अयोध्या नरेश दशरथ के पुत्र भगवान् रामचन्द्र का विवाह हुआ। यह ध्यान में रखने की बात है कि,उस युग में राजाओं के वैवाहिक सम्बन्ध पुरोहितो के गोत्रो से होते थे। अयोध्या के पुरोहित का, एव मिथिला के पुरोहित का गोत्र मिला कर ही यह विवाह संपन्न हुआ था। अन्यथा यह विवाह अमर्यादित था। कारण इक्ष्वाकुवंशज विकुक्षि की शाखा में उत्पन्न दशरथ, एव इक्ष्वाकुवंशज निमि की शाखा में उत्पन्न विदेह जनक सगोत्रबन्धु थे। अस्तु. इसी निमिवश में आगे जाकर सीरध्वज, उग्रसेन. जनदेव, धर्म्मध्वज. विदेह आदि कई महापुरुष उत्पन्न हुए । इनमें विदेह जनक याज्ञवल्क्य के शिष्य थे, एवं इनके समय में ब्रह्मविद्या का बड़ा प्रचार था, जैसा कि याज्ञवल्क्य निर्मित शतपथब्राह्मणोक्त विदेह-याज्ञवल्क्यसंवादो से स्पष्ट है। प्रसङ्गोपात्त निमिवंश का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब पुनः विकुक्षिवश की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता ।

वैवस्वत मनु से आरम्भ कर महाभारत कालीन महाराज सुमित्र पर्यन्त सूर्य्यवश (विकुक्षिवश, किंवा ककुत्स्थवंश) अक्षुण्ण बना रहा । इतने समय में १६४ पीढ़योंनें अयोध्या में निर्विघ्न राज्य किया। इतिहास प्रसिद्ध महाराज युवनाश्व यौवनाश्व मान्धाता, सत्यवादी हरिश्चन्द्र, सगर. अंशुमान, भगीरथ, ऋतुपर्ण, दिलीप, रघु, अज, दशरथ, भगवान् राम, कुश, आदि कई एक महापुरुषोंनें इसी वंश को सुशोभित किया । विवस्वान् से ६४ वीं पीढी में भगवान् रामचन्द्र का अवतार हुआ । एव विवस्वान् से १६४ वीं पीढ़ी में महाराज सुमित्र ने अयोध्या की गद्दी को सुशोभित किया। यही सूर्यवंश के अन्तिम राजा थे। यह महाभारत युद्ध में शामिल हुए थे। इस युग में कुरुवंश सुसमृद्ध था, अतएव सुमित्र को भी इनके अनुशासन में चलना पड़ता था। सुमित्रवशजो के द्वारा ही आगे जाकर लिच्छविवंश की स्थापना

हुई। इसी वंश में गोतमबुद्ध ने जन्म लिया। वस यहां आकर सूर्य्यवंश अपने उच्चासन से गिर गया। आर्यराजाओं के सुप्रसिद्ध सूर्य्यवंश का यही संक्षिप्त इतिवृत्त है।

चन्द्रवंश २—

पूर्व में बतलाया जा चुका है कि वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु आदि १०. पुत्र थे, एवं इला नाम की सर्वज्येष्ठ एक कन्या थी। यद्यपि मानवधर्म्मशास्त्र के अनुसार पिता की सम्पत्ति पर कन्या का कोई अधिकार नहीं माना जासकता, वर्त्तमान हिन्दुलॉ (Hindu LAW) भी इसी पक्ष का समर्थन करता है। वर्तमान कानून के महापण्डित, प्रीवीकोंसिल के जज माननीय स्व० श्रीमुल्लासाहिबने[A] कई युक्तियों से पूर्व सिद्धान्त को ही हिन्दुधर्म्म के अनुकूल माना है। तथापि श्रद्धादेव की विशेष प्रीतिभाजना होने के कारण इसे भी दायाद में भूखण्ड दिया गया। चूंकि इला स्त्री थी, अतएव यह राज्यप्रबन्ध में असमर्थ थी। अतएव इक्ष्वाकु की अनुमति से सबसे कनिष्ठ भ्राता सुद्युम्न ने इला का राज्यभार अपने हाथ में रक्खा। B.भरतखण्ड के मध्य में सुप्रसिद्ध सिन्धुनद से पश्चिम बाल्हीक नगर

A देखिए-Hindu Law by Right Honourable Sir Dinshab Fradunji Mulla, K T. C.I. E. M. A. L.L D (Edition (1936) Page 38)।

B आज हमनें अपने बुद्धिदोष से भारतीय इतिहास से अपरिचित रहते हुए, साथ ही में पश्चिमी विद्वानो के द्वारा लिखे गए कल्पित ऐतिहासिक ग्रन्थों को वेदवाक्य मानते हुए इस छोटे से हिन्दुस्तान को ही भरतखण्ड, किंवा भारतवर्ष मानने की भयङ्कर भूल कर रक्खी है। हमें हमारा ऐतिहासिक, भौगोलिक निरूपण यह बतलाता है कि "भारतवर्ष की पूर्वी सीमा यलोसी (YelowSea-चीन का पीतसमुद्र, जिसे कि आज पीलासागर भी कहा जाता है, एवं जिसे प्रशान्तमहासागर भी कह सकते हैं) है। पश्चिमी सीमा रेड्सी (Red Sea-रक्तसमुद्र, किंवा लालसागर, दूसरी दृष्टि से पौराणिक महासागर, जिसे कि मेडिट्रेनियेन्सी Mede Teromcn Sea कहा जाता है) है।

दक्षिण सीमा निरक्ष देश (लङ्का) है। आज यह लङ्का समुद्रगर्भ में विलीन है। यद्यपि आज सीलोन को लङ्का बतलाया जारहा है, परन्तु भारतीय भुवनकोश के अनुसार यह मत सर्वथा भ्रान्तपूर्ण है। भारतीय द्वीपगणना में सिंहलद्वीप की पृथक् गणना हुई है। यही द्वीप प-

में (जोकि वाल्हीक आज वलख नाम से प्रसिद्ध है) सुद्युम्न का निवास था, ऐसा प्रतीत होता है। इला

राणों में ताम्रपर्णी किंवा ताम्रपर्णी नाम से भी प्रसिद्ध है। ताम्रपर्णी ही विगड़ कर आज "टापूरोवेन" रूप मे परिणत हो गया है

टापूरोवेन शब्द के आधार पर यह भी कल्पना की गई है कि "यहीं स्थान लङ्का था। लङ्केश रावण के निवास के कारण ही यह टापूरोवेन (रावण के रहने के टापू) कह लाया है। "रावण टापू" ही "टापू रावण" वन कर आज "टापूरोवेन" वन गया है"। कहना न होगा कि इस कल्पना में भी कोई तथ्य नहीं है। यह शब्द "टापूरावण" का अपभ्रंश नहीं है, अपितु "ताम्रपर्णी" का ही अपभ्रंश है। अथवा लङ्केश रावण ने अपने विहार के लिए सिंहलद्वीप में स्थान बना लिया हो, और इसी सम्बन्ध से यह स्थान "टापूरावण" किंवा टापूरोवेन कहलाने लग गया हो, यह भी सम्भव है। परन्तु केवल इसी सम्भावना से सिंहलद्वीप को लङ्का मान लेना अशुद्ध है, जब कि लङ्काद्वीप की सिंहलद्वीप से पृथक् गणना हुई है। इसके अतिरिक्त बारह कारण ऐसे और है, जिनसे सिंहल (सीलोन) कभी लङ्का नहीं माना जासकता। अस्तु. वक्तव्यांश यही है कि जो लङ्का आज समुद्र में विलीन है. वही भारतवर्ष की दक्षिण सीमा मानी गई है।

उत्तरसीमा शर्य्यणावत पर्वत (जो कि आज दिन शिवालक नाम से प्रसिद्ध है, एवं जिससे इरावती-रावी-नदी निकलती है) है। यह सीमा, किंवा सीमाविभाजक शर्य्यणावत पर्वत निरक्ष देश से लग भग ३७॥ अक्षांश पर है। ईरान (आर्य्यायण), अर्वस्तान, काबुल (कुभा), कन्धार (गन्धार), वलख (वाल्हीक, जो कि देवयुग मे वरुण की राजधानी थी), बुखारा (पुष्कर, जो कि ब्रह्मा की निवास भूमि थी) आदि सव प्रान्त भारतवर्ष के अवयव हैं, भारतवर्ष की मौरूसी जायदाद (पैत्रिक सम्पत्ति) है। हमने अपनी मूर्खता से आज अपनी यह सारी सम्पित्ति आततायियो के हाथों समर्पण कर दी है, और करते जारहे हैं। भारतवर्ष की इसी सीमाचतुष्टयी का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं।

१—"एतत्तु भारतं वर्षं चतुःसंस्थानसंज्ञितम् ॥
दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः ॥१॥
हिमवानुत्तरेणास्य कार्म्मुकस्य यथा गुणः ॥"(मार्कण्डेयपु० ५४अ०)।

२—"आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ॥
तयोरेवान्तरं गिर्य्योरार्य्यावर्त्तं प्रचक्षते ॥" (मनुः २।२२।)।

को दायाद में जो प्रान्त मिला, वही *प्रतिष्ठानपुर नाम से प्रसिद्ध हुआ। सुद्युम्न इला के राज्य प्रबन्ध के लिए आगे जाकर यहीं बस गए। इसीलिए पुराणने प्रतिष्ठानपुर को कहीं सुद्युम्न की राजधानी बतलाया है, एवं कहीं इला की राजधानी बतलाया है।

जिस प्रकार ऐश्वर्य सम्बन्ध में स्वयम्भू ब्रह्मा के विश्वसन् आदि कई मानसपुत्र थे, एवमेव विद्या के सम्बन्ध में भी इन्होंने कई ऋषियो को अपना मानसपुत्र बनाया था। इन मानसपुत्रो में (विद्यापुत्रो में) मरीचि, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु यह ६ पुत्र भी बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

ब्रह्मणो मानसाः पुत्रा विदिताः षण्महर्षयः ॥
मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ॥१॥
अत्रेस्तु बहवः पुत्राः श्रूयन्ते मनुजाधिप !
सर्वे वेदविदः सिद्धाः शान्तात्मानो महर्षयः ॥२॥ (म० आ. प. ६६ अ.)

उक्त ६ ओं मानसपुत्रों में से भारतवर्षनिवासी अत्रि तीसरे थे, अतएव यह अत्रि नाम से प्रसिद्ध हुए जैसा कि "अहं तृतीय इत्यर्थस्त मादत्रिः स कीर्त्यते" (ब्रह्माण्डपु०—उ० ४।४५) इत्यादि वचन से स्पष्ट है। यह अत्रि प्राणविध अत्रि के द्रष्टा (परीक्षक—आविष्कारक) थे, अतएव यह भी अत्रि नाम से ही प्रसिद्ध हुए। ब्रह्मा की ओर से सब से पहले

---

* प्रतिष्ठानपुर के सम्बन्ध मे पश्चिमी विद्वानों ने अनेक भ्रान्तिएं फैला रक्खीं है। फलस्वरूप तदनुयायी भारतीय इतिहासवेत्ता भी इसी भ्रान्ति का अनुसरण करते दिखलाई देरहे हैं। कितनें हीं महानुभाव प्रयाग के समीप प्रतिष्ठानपुर की सत्ता बतलाते हैं। कितनें हीं दण्डकारण्य मे प्रतिष्ठानपुर की सत्ता सिद्ध करने में व्यग्र हैं। कितनें हीं के मतानुसार हस्तिनापुर के समीप ही कहीं प्रतिष्ठानपुर का होना सिद्ध है। कहना न होगा कि यह सभी मत भ्रान्ति पूर्ण हैं। वस्तुतः सिन्धुनद से पश्चिम, सिन्धुप्रान्त से ५ कोश पश्चिम के फासले पर आर्य्यायण नाम से प्रसिद्ध पश्चिम भारतवर्ष मे ही प्रतिष्ठानपुर था। इस विषय का विशद विवेचन श्रीगुरुप्रणीत "अत्रिख्याति" नाम के ग्रन्थ के इलाप्रकरण में देखना चाहिए।

अत्रि ही वेदप्रचार के लिए नियत किए गए थे यह अत्रि शब्द आगे जाकर वंशपरम्परा में निरूढ हो गया। देवयुग में आत्रेय ब्रह्मपर्षत् के क्रमशः भौमअत्रि, सांख्यअत्रि नाम के दो अत्रि कुलपति बनें। पहिले कुलपतिने पारदर्शकताप्रतिबन्धक चन्द्रग्रहणाधिष्ठाता भूमिगत अत्रिप्राण की पूर्ण परीक्षा कर ग्रहणविधा का सर्वप्रथम आविष्कार किया। अतएव ये भौमात्रि नाम से प्रसिद्ध हुए। इन्हीं भौमात्रि से महासती अनसूया के गर्भ से चन्द्रमा का जन्म हुआ। दूसरे साख्यात्रि ने उत्तरध्रुव मण्डलस्थ नाक्षत्रिक अत्रिप्राण की परीक्षा की। जिस प्रकार भौम-अत्रि से चन्द्रमा उत्पन्न हुए, एवमेव साख्यअत्रि के शांखायन उत्पन्न हुए। यह बड़ा ही अ-धार्मिक हुआ। सांख्यने बहुत उपदेश दिया, परन्तु इनका यह उपदेश सर्वथा व्यर्थ गया फलतः निराश हो साख्यने सिन्धुदेश में देवनिकाय नाम के पर्वत में (जोकि पर्वत 'सुलेमान' नाम से प्रसिद्ध है) निवास कर लिया। इधर तत्पुत्र शाखायन एवं तद्वंशधर धर्मच्युत होते हुए यवनवंश के (ग्रीकवंश के) आदि प्रवर्त्तक बन गए। इस प्रकार साख्यअत्रि का वंश उच्छिन्न-प्राय हो गया।

भौमअत्रिपुत्र चन्द्रमा सोमवल्ली की रक्षा के लिए गन्धर्वों के राजा बनाए गए एवं उत्तर दिशा के दिक्पाल बनाए गए। यह ब्राह्मण होकर राजा बने, अतएव तत्समय में यह राजा नाम से ही लोक में प्रसिद्ध हुए। इनकी स्त्री रोहिणी थी। चन्द्रमा से तारा के गर्भ में बुध का जन्म हुआ, एवं यह रौहिणेय नाम से प्रसिद्ध हुआ। चूँकि यह राजा के पुत्र थे, अतएव ये राजपुत्र नाम से भी प्रसिद्ध हुए। अतएव तद्वंशधर राजपुत्र नाम से व्यवहृत हुए। यही राजपुत्रशब्द आगे जाकर "राजपूत" रूपमें परिणत हो गया। इस तात्त्विक घटना को न जानने के कारण कितने हीं पश्चिमी विद्वान् भारतीय क्षत्रियवंश की समालोचना करते हुए कहने लगते हैं कि "राजपूत क्षत्रिय नहीं हैं, क्षत्रियो के वर्णसंकर हैं। तभी तो इन्हें राजा न कह कर राजपूत कहा जाता है"। सचमुच अपने वास्तविक इतिहास से वञ्चित रहने के कारण न मालूम ऐसे ऐसे कितनें मिथ्या आक्षेपो का हमें शिकार बनना पड़ रहा है।

राजपुत्र रौहिणेय बुध के साथ ही वैवस्वत् पुत्री इला का विवाह हुआ। चूंकि राज्य

इला का था, अतएव तत्सम्बन्ध से यह वंश "ऐल" कहलाया। बुध से इला के गर्भ में सुप्रसिद्ध प्रतापी 'पुरुरवा" उत्पन्न हुए। पुरुरवा के पिता बुध के साथ गन्धर्वों का अधिक सम्पर्क था। कारण चन्द्रमा गन्धर्वों के सम्राट् थे, एवं यहीं अप्सराओं का निवास था। अतएव उर्वशी जाति में उत्पन्न होने वाली, अतएव उर्वशी नाम से प्रसिद्ध एक अप्सरा का बुधपुत्र पुरुरवा के साथ सम्बन्ध हो गया। इन के सम्बन्ध से महाराज "आयु" उत्पन्न हुए। भौमात्रि ब्रह्मा के मानस पुत्र थे, चन्द्रमा अत्रि के औरसपुत्र थे, एवं बुध भौमात्रि के औरस पुत्र थे। इस दृष्टि से ब्रह्मा-अत्रि–चन्द्रमा–बुध यह चारो ही चन्द्रवंश के मूलपुरुष माने जासकते हैं। अत्रि-चन्द्रमा–बुध तीनो मनुष्य थे, परन्तु इन का निवास भारतवर्ष में न रहा। यह मनुष्य न कहला कर देवता ही कहलाए। जिस प्रकार सूर्य्यवंश में से भारतवर्ष के पहिले सम्राट् इक्ष्वाकु थे, एवमेव इस चन्द्रवश के प्रथम सम्राट् महाराज पुरुरवा ही हुए। चूँकि ये इला की सन्तान थे, अतएव तद्वंशधर ऐलप्रकृति नाम से व्यवहृत हुए, जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

> ब्रह्मा चात्रिश्चन्द्र एवं बुधश्चैते देवाश्चन्द्रवंशादिभूताः ।
> यद्यप्येते मानवाः किन्तु तेऽस्थुः स्वर्गे नैते भारतोर्वी मनुष्याः ॥१॥
> ब्रह्मादीनां बुधान्तानां न मनुष्यत्वमिष्यते ।
> ततोऽग्रे चन्द्रवंशोयमैलप्रकृतिरुच्यते ॥२॥ (श्रीगुरुप्रणीत अत्रिख्याति)।

उक्त ऐतिहासिकविवेचन से पाठको को विदित हो गया होगा कि भाई का वंश (इक्ष्वाकुवंश) भारतवर्ष में सूर्य्यवंश कहलाया, एवं बहिन का वंश (इलावंश) चन्द्रवंश नाम से प्रसिद्ध हुआ। हमारे इतिहास के चरितनायक कौरव-पाण्डव भी इसी चन्द्रवंश में उत्पन्न हुए थे, अतएव इन्हे–"सोमकाः" नाम से सम्बोधित किया है, जैसा की द्वैपायन कहते हैं—

> कथं युयुधिरे वीराः कुरु-पाण्डवसोमकाः ।
> पार्थिवाः सुमहात्मानो नानादेशसमागताः (म०भी०म १।१) ।

हा तो इतिहासक्रम पर दृष्टि डालिए। पूर्व में कहा जाचुका है कि बुध एवं इला के सम-

न्वय से पुरुरवा, एव पुरुरवा से आयु उत्पन्न हुए। आयु से सुप्रसिद्ध नहुष उत्पन्न हुए। भार-तीय राजाओं में ये ही एकमात्र ऐसे भाग्यशाली राजा थे, जिन्हें कि कुछ समय के लिए स्वर्ग का शासक पद (इन्द्रपद) मिला। महाराज नहुष के परम प्रतापी चक्रवर्त्ती ययाति उत्पन्न हुए। चन्द्रवंशियो में पहिले चक्रवर्त्ती सम्राट् ययाति ही हुए। भारतवर्ष में चन्द्रवंश का विशेष वि-कास ययाति से ही आरम्भ हुआ, अतः आगे जाकर ययाति भी चन्द्रवंश के मूलपुरुष मान जानें लगे। ययाति के परम प्रतापी यदु, पुरू, तुर्वसु, अणु द्रुह्यु नाम के पाच पुत्र उत्पन्न हुए। इन पाचों के कारण चन्द्रवंश अनेक शाखाओं में विभक्त होता हुआ सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त होगया। यद्यपि न्यायतः पाचों में से राज्याधिकारी ज्येष्ठपुत्र यदु ही थे, परन्तु पिता (ययाति) की वैषयिकतृप्ति के लिए आयुप्रदान न करने के कारण यदु राज्याधिकार से वञ्चित कर दिए गये इसी यदु से आगे जाकर सुप्रसिद्ध यादववंश का विकास हुआ, जो कि चन्द्र-वंश की ही एक शाखा मानी जाती है। भगवान् कृष्ण के अवतार से यह वंश धन्य बन गया। पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करने वाले कनिष्ठ पुत्र पुरूने पिता को अपनी युवावस्था समर्पित करने से राज्यसिंहासन प्राप्त किया। शेष तुर्वसु–अणु–द्रुह्यु तीनो भाइयोंनें अपनें अ-पनें स्वतन्त्र माण्डलिक राज्य स्थापित किए। इस प्रकार पुरू ही चन्द्रवश की मूलगद्दी के सर्वे सर्वा रह गए। इसीलिए इनके वंशधर पौरव नाम से प्रसिद्ध हुए। इसी पुरुवंश में आगे जाकर इतिहास प्रसिद्ध दुष्यन्त उत्पन्न हुए। कुछ समय के लिए पुरुवश शिथिल पडगया था। परन्तु वीर दुष्यन्त ने फिर पौरववंश को एकवार चमका दिया। तव से दुष्यन्त भी कुरुवश के आदि पुरुष, एव पौरवो के वंशनायक माने जाने लगे। जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

पौरवाणां वंशकरो दुश्यन्तो नाम वीर्य्यवान्।
पृथिव्याश्चतुरायाः गोप्ता भरतसत्त!॥१॥ (म०भा०आ०६८ अ०)।

दुष्यन्त से शकुन्तला के गर्भ में सुप्रसिद्ध यशोमूर्त्ति दौष्यन्ति भरत उत्पन्न हुए। ये कीर्त्ति पराक्रम में अपने पिता से भी आगे बढ गए। यही नहीं, आगे जाकर कुरुवश इन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्वय भगवान् ने गीता में स्थान स्थान पर भरतसत्तम! भारत! भरत-

र्षभ ! इत्यादि नामों से अर्जुन को सम्बोधित करते हुए भरत को श्वासन प्रदान किया है ॥ * पुराण के एकदेशी मतानुसार तो भरत के सम्बन्ध से ही यह मनुष्यलोक भारतवर्ष कहलाया है । स्वयं व्यासद्वारा लिखित ऐतिहासिक ग्रन्थ भी भरत के सम्बन्ध से ही " महाभारत " कहलाया है । इसी भरत का यशोगान करते हुए व्यास कहते हैं—

दुष्यन्तस्तु ततो राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ॥
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत ॥१॥
स राजा चक्रवर्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् ॥

*-वस्तुतः इस देश का भारतवर्ष नाम देवयुग में ही प्रसिद्ध हो गया था । देवयुग में पृथिवीलोक के शवसोनपात् भारत नाम के अग्नि थे-(देखिए ऋक्सं० ४ । २५ । ४ ।) । इन्हीं के सम्बन्ध से यह लोक भारतवर्ष कहलाया । भरत के नाम से जो पुराणने भारतवर्ष नाम की उत्पत्ति वतलाई है, वह अर्थवादमात्र है । केवल भरत की कीर्त्ति का वखान करने के लिए ही ऐसा मान लिया गया है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि दौष्यन्ति भरत के अतिरिक्त अग्नीध्र के पौत्र एवं नाभ के पुत्र एक अन्य भरत के सम्बन्ध से भी भारतवर्ष शब्द की उत्पत्ति मानी गई है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

१—आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत सुतो द्विज !
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ॥१॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ ।
तस्माच्च भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ॥२॥
नाभेः पुत्रश्च ऋषभ ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ॥ (स्का०मा०कौ० ३७अ०)।
२—तं सुरोधाच्च दुष्यन्तो दुष्यन्ताद् भरतोऽभवत ।
शकुन्तलायां तु वली यस्य नाम्ना तु भारताः ॥ (अग्नि-२७८ अ०)।

इन दोनो मतों का समन्वय हम अर्थवाद पर ही कर सकते हैं । इस विषय का विशद विवेचन पुराणरहस्यादि अन्य ग्रन्थों मे द्रष्टव्य है ।

भरताद्भारतीकीर्त्तिर्येनेदं भारतं कुलम् ॥ ॥ (म भा.आदिप.७४ अ.)।

इसी सुप्रसिद्ध भरतवश में आगे जाकर महाराज कुरू उत्पन्न हुए। यह भी अपने युग में यशस्वी हुए। फलस्वरूप आगे का वश इन्हीं के नाम से (कुरुवश नाम से) प्रसिद्ध हुआ। द्वापरयुग के अन्त मे इसी कुरुवश में महाराज प्रतीप से शान्तनु का जन्म हुआ। यहीं से हमारे गीतासम्बन्धी इतिहास का मूलस्रोत प्रवाहित होता है। शान्तनु से गङ्गा के गर्भ में देवमूर्त्ति, किंवा वसुमूर्त्ति देवव्रत उत्पन्न हुए। धीवरकन्या मत्स्यगंधा को अपनी माता (पिता शान्तनु की धर्म्मपत्नी) बनाने के सम्बन्ध में '**न हम आजन्म विवाह करेंगे, एव न सिंहासन पर बैठेंगे**" यह भयङ्कर प्रतिज्ञा करते हुए यही देवव्रत "भीष्म" नाम से प्रसिद्ध हुए। यही महापुरुष आगे जाकर '**कुरुकुल वृद्धपितामह**" नाम से सम्बोधित हुए।

शान्तनु से मत्स्यगधा के गर्भ में (जो कि आगे जाकर "सत्यवती" नाम से प्रसिद्ध हुई) चित्राङ्गद एव विचित्रवीर्य्य नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए शान्तनु की मृत्यु के थोड़े समय पीछे ही राज्य के उत्तराधिकारी चित्राङ्गद गन्धर्वों के हाथ से मारे गए। फलतः कनिष्ठ भ्राता विचित्रवीर्य्य को सिंहासन पर बैठा कर स्वय भीष्मपितामह राज्यव्यवस्था का सञ्चलन करने लगे। जब विचित्रवीर्य्य विवाह के योग्य हुए तो भीष्म काशी पहुँचे, एव स्वयवर से अम्बा अम्बालिका-अम्बिका नाम का तीनों कन्याओं का अपहरण कर हस्तिनापुर आपहुँचे। इन तीनो मे अम्बा के—"मै अपने मन में महाराज शाल्व का वरण कर चुकी हूँ" यह कहने पर धर्ममूर्त्ति भीष्म ने उसे सादर विदा कर दिया, एव शेष दोनों कन्याओं का विचित्रवीर्य्य के साथ विवाह कर दिया। दुर्भाग्यवश क्षयरोग से ग्रस्त होते हुए विचित्रवीर्य्य अल्पकाल में ही मृत्यु के ग्रास बन गए। कुरुवश एकबार फिर अन्धकार में पड गया।

महात्मा भीष्म एव राजमाता सत्यवती इस दैवीआपत्ति से बडे चिन्तित हुए। अन्त में सत्यवती के परामर्श से भीष्म को इस घोर आपत्ति काल में कुरुवश की रक्षा के लिए नियोगविधि का आश्रय लेना पड़ा। भारतवृत्तवेत्ताओ को यह विदित है कि इसी सत्यवती के गर्भ से कन्या अवस्था में (नौका चलाते समय) पराशर द्वारा भगवान् व्यास का आविर्भाव हुआ

था। व्यास ने माता सत्यवती को वरदान दिया था कि "यदि तुम पर कभी कोई विपत्ति आवे तो उस समय मेरा स्मरण करना"। फलत: इस विपत्ति काल में व्यासदेव का स्मरण किया गया। व्यास उपस्थित हुए। सारी परिस्थिति इन के सम्मुख रक्खी गई। सम्बन्ध मर्य्यादा के अनुसार व्यास अम्बिका एवं अम्बालिका के देवर होते थे, एवं आपत्ति में वंशरक्षा के लिए देवर से नियोग विधि द्वारा पुत्रोत्पन्न करना मानवधर्मशास्त्र से भी अनुमोदित है। (देखिए मनु ९। ७०)। आज उसी आपद्धर्म्म को लक्ष्य में रख कर माता की आज्ञा से व्यास नियोगविधि में प्रवृत्त हुए। सतत तपोयोग में प्रवृत्त रहने के कारण व्यास का शरीर महाभयावह हो रहा था। नियोगविधि में प्रवृत्त जेठी वहू अम्बिका इन का रूप देख कर डर गई, उसने भय से नेत्र बन्द कर लिए। परिणाम स्वरूप कालान्तर में इसके अन्धा पुत्र उत्पन्न हुआ, जोकि धृतराष्ट्र नाम से प्रसिद्ध हुए।

व्यास ने कह दिया था कि नेत्र वन्द करने के कारण इसके अन्ध सन्तान होगी। ऐसी परिस्थिति में काम अधूरा ही रहा। क्योंकि शास्त्र के अनुसार अन्धा व्यक्ति राज्यसिंहासन का अधिकारी नहीं वन सकता। इस विप्रतिपत्ति को दूर करने के लिए छोटी वहू नियोगविधिमें प्रवृत्त हुई। उसने आंखे तो वन्द न कीं, परन्तु भय से उसका शरीर पीला पड़ गया। व्यास ने कह दिया कि इस के भी जो सन्तान होगी, वह जन्म से ही पाण्डुवर्ण, एवं रोगग्रस्त रहेगी। दोनो सन्तानों से निराश हो सत्यवती ने अम्बिका को फिर एक वार प्रोत्साहित किया। उसने वहां तो स्वीकार कर लिया, परन्तु समय पर स्वय न जाकर दासी को अपने वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत कर भेज दिया। दासी व्यासदेव से अणुमात्र भी त्रस्त न हुई। फलस्वरूप व्यास ने वरप्रदान किया कि इसके परम धार्मिक, सर्वगुण सम्पन्न, परम बुद्धिमान, एवं परम भागवत पुत्र उत्पन्न होगा। वही दासीपुत्र विदुर नाम से प्रसिद्ध हुए।

यद्यपि धृतराष्ट्र वड़े थे, परन्तु अन्ध होने कारण इन्हें राज्यसिंहासन से वञ्चित होना पड़ा। एवं विदुर भी दासीपुत्र होने से राज्य के अधिकारी न वन सके। राज्य मिला पाण्डु को। यहीं धृतराष्ट्र के चर्म्मचक्षु के साथ साथ विज्ञानचक्षु पर भी पर्दा पड़ गया पाण्डु के प्रति सदा के लिए इनके हृदय में द्वेष का वीज वपन होगया। यही वीज कालान्तर में महा-

भारत संग्राम रूप से पुष्पित एवं पल्लवित हुआ।। धृतराष्ट्र को थोड़ी बहुत आशा यह थी कि यदि मेरे पहिले सन्तान हुई तो उसे राज्य मिल जायगा। परन्तु जब उन्होंनें यह सुना कि "कुन्ती के गर्भ से देवताओ के आह्वान से पांच पुत्र उत्पन्न हो गए हैं" तो इन की रही सही आशा पर भी पानी फिर गया। समय आने पर धृतराष्ट्र के भी महासती गाधारी के गर्भ १०० पुत्र उत्पन्न हुए। पाण्डुपुत्र पाण्डव कहलाए, धृतराष्ट्र पुत्र कौरव कहलाए।

दुर्योधन बड़ा कुटिल नीतिज्ञ था। उसने अपने आपको "कौरव" नाम से प्रसिद्ध किया। इस से प्रजा में वह यह बीजारोपण करना चाहता था कि धृतराष्ट्र कुरुवंश में ज्येष्ट हैं एवं हम उन्हीं की सन्तान हैं। फलतः कुरुवश के पैत्रिक राज्य के अधिकारी एकमात्र हम हीं हैं। इसी दुरभिसन्धि में पड़ कर अपने मातुल शकुनि के कुचक्र का सहारा लेते हुए दुर्योधन ने धर्म्मात्मा पाण्डुपुत्रों के साथ क्या क्या अत्याचार किए, यह सर्वविदित है। १४ वर्ष तक वनवास का कष्ट सहने के अनन्तर युधिष्ठिर सबान्धव वापस लौटे। परन्तु इतना लम्बा समय पा कर दुर्योधन पूरी तरह सभल चुका था। अर्थप्रलोभन से उसने अपने सामन्त राजाओं को मुट्ठी में कर लिया था। दूसरो की बात तो जाने दीजिए, भीष्म जैसे तटस्थ व्यक्ति भी इस अर्थनीति के शिकार बन चुके थे। उस समय की राज्यव्यवस्था देख कर दांतों तले अंगुली दबा लेना पड़ता है। यदि दुर्योधन में जरा भी धर्म्मबुद्धि होती तो निःसन्देह वह अपने इस बुद्धि-कौशल से कुरुवंश को कई शताब्दियों के लिए दृढमूल बना सकता था।

दुर्योधन के शासन काल में कुरुसाम्राज्य प्रमुख-पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण इन पांच प्रान्तों में विभक्त था। इन पाचो में प्रमुखप्रान्त "गजाह्वय" (हस्तिनापुर) नाम से प्रसिद्ध था। भगवान् कृष्ण एव व्यास द्वारा बसाए गए इन्द्रप्रस्थ (देहली) से ६० कोस उत्तर गङ्गा के समीप हस्तिनापुर था। आज यह राजधानी गङ्गा के उदर में समा गई है। इस स्थान पर आज दो चार मल्लाहों के घर मात्र अवशिष्ट हैं। यहीं किसी समय कुरुराज्य की प्रधान राजधानी थी। हस्तिनापुर से उत्तर का प्रान्त कुरुजाङ्गल नाम से, पूर्व का प्रान्त कुरुपाञ्चाल नाम से, पश्चिम का प्रान्त कुरुक्षेत्र नाम से, एव दक्षिण का प्रान्त खाण्डववन नाम

से प्रसिद्ध था। इन पांचो प्रान्तो की समष्टि ही कुरुसाम्राज्य था, इस के सम्राट् धृतराष्ट्र थे, एवं प्रान्ताधीश (गवर्नर) क्रमशः दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा थे। कुरुक्षेत्र में कर्ण की राजधानी "अङ्ग" देश था।

१—हस्तिनापुर—प्रमुखराजधानी		दुर्योधन	(प्रान्ताधीश)	।
२—कुरुपाञ्चाल—हस्तिनापुर से पूर्व		द्रोण	(,,)	।
३—कुरुक्षेत्र —	,,	पश्चिम कर्ण	(,,)	।
४—कुरुजाङ्गल—	,,	उत्तर भीष्म	(,,)	।
५—खाण्डव —	,,	दक्षिण अश्वत्थामा	(,,)	।

हिमालय प्रान्त से जो हाथी पकड़ कर लाए जाते थे, उन्हे एक स्थान पर रक्खा जाता था। वहा उन जंगली हाथियो को पालतू बनाया जाता था। वही ग्राम "हस्तिनापुर" (हाथियों का ग्राम) नाम से प्रसिद्ध हुआ। जंगली हाथियों को अनेक प्रलोभनों में डाल कर हाथियों को पकड़नें वाले "आ—आ—दग—द।" इस प्रकार के विचित्र भाषणों से हिमालय से घेरघार कर हाथियो को यहां लाया करते थे, दूसरे शब्दो में प्रलोभनो द्वारा हाथी इस ग्राम में बुलाए जाते थे, अतएव यह ग्राम—"आहूयन्ते गजा यत्र" इस निर्वचन के अनुसार **गजाह्वय** नाम से प्रसिद्ध हुआ। महाभारत में हस्तिनापुर के स्थान में स्थान स्थान पर "**गजाह्वय**" शब्द का ही प्रयोग हुआ है। गजाह्वय इस का प्राचीन नाम था, यही आगे जाकर हस्तिनांपुर रूप में परिणत हुआ, एवं कालान्तर में मकार की विलुप्ति हो जाने से यही हस्तिनापुर नाम से प्रसिद्ध हो गया। इन्द्रप्रस्थ यमुना के किनारे था तो यह हस्तिनापुर गङ्गातट पर था। कुरु महाराज से पहिले इन भरतवंशियो की राजधानी आर्य्यायण (ईरान—पश्चिमभारत) प्रान्तान्तर्गत **महोदय** नाम का शहर था। जब कुरु के समय में इन का अधिक विकास हुआ तो इन्होनें पूर्वीय भारत वर्ष में उक्त हस्तिनापुर प्रदेश में ही अपनी नवीन राजधानी बनाई। इस स्थान के हाथियो को हटा कर इन के लिए एक स्वतन्त्र ग्राम बनाया गया। वही ग्राम "**इभ्यग्राम**" (हाथियों का ग्राम) नाम से प्रसिद्ध हुआ—(देखिए छान्दोग्यउ० विज्ञानभाष्य ३।६।१।)। इस प्रकार हस्तिनापुर

एक सुसमृद्ध राज्य होगया। यह राज्य २२ कोटि (करोड) को रियासत मानी जाती थी सचमुच लोकवैभव की दृष्टि से यह भारतवर्ष का पूर्ण अभ्युदय काल था।

महाभारतकाल भारतवर्ष का समुन्नतिकाल भी कहा जासकता है, एवं पतनकाल भी। परम राजनीतिज्ञ महात्मा विदुर, परम धर्म्मात्मा सत्यवादी युधिष्ठिर, वीराग्रणी अर्जुन, भीष्मप्रतिज्ञ, विदितवेदितव्य, बालब्रह्मचारी, कृष्णतत्ववेत्ता देवव्रत, आचार्य द्रोण, पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्ण. इत्यादि भारत की दिव्यविभूतिए उसी युग में विद्यमान थीं। एवं साथ ही में स्वार्थ की चरम सीमा पर पहुँचने वाला कुटिल नीतिज्ञ दुर्योधन, सतीत्व का अपमान करने वाला दुःशासन. अपनी कुटिल नीतियों से भारत के समृद्ध वैभव का नाश करवाने वाला दुर्म्मति शकुनि आदि आसुरी विभूतिएं भी उसी युग में वर्तमान थीं। कौरव-पाण्डवों का संग्राम क्या था, देवासुर संग्राम था। यही संग्राम भारतवैभव के नाश का कारण बना। यद्यपि अधर्म्मानुगामी कौरवों के पास ११ अक्षौहिणी सेना थी, इधर धर्म्मात्मा पाण्डवो के पास ७ अक्षौहिणी ही सेना थी। फिर भी धर्म्म के प्रभाव से विजयश्री पाण्डवो को ही मिली। १८ अक्षौहिणी सेना के संघर्ष में जय लाभ पाण्डवों को ही हुआ। इसी प्रतिद्वन्द्वीभाव को सूचित करने के लिए व्यास ने इस ग्रन्थ के १८ पर्व बनाए।

यह पाठकों को विदित है कि ११ अक्षौहिणी सेना को अपने अधिकार में रखने वाले कुटिल नीतिज्ञ दुर्योधन सदा अशान्त रहे, इधर केवल ७ अक्षौहिणी के अधिपति धर्म्म नीतिज्ञ युधिष्ठर सदा शान्त रहे, । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए व्यासदेव ने आरम्भ के ११ पर्वों तक तो अशान्तिभाव को प्रधानता दी है, एवं १२ वें से १८ पर्व तक शान्तिभाव को प्रधान रक्खा है। १२ वा पर्व शान्तिपर्व है। कुरुवंश में जो कुछ उत्पात होना चाहिए था, इस से पहिले पहिले हो चुका है। इस से आगे धर्म्मराज युधिष्ठिर के शान्तिमय धर्म्मयुग का ही आरम्भ होता है। इस प्रकार ११–७ के संघर्ष में जय के अधिकारी युधिष्ठर ही बन जाते हैं। यही सूचित करने के लिए इस ग्रन्थ का नाम "जय" रक्खा गया है।

संख्याविज्ञान के अनुसार जकार ८ संख्या का, यकार १ संख्या का वाचक है।

"अङ्कानां वामतो गतिः" के अनुसार ८१ ही १८ हैं। यही पर्वरहस्य है। इस जयलाभ के मूलस्तम्भ हैं- भगवान् कृष्ण। यदि भगवान् अर्जुन को उपदेश न देते तो पाण्डुवंश की इतिश्री हो चुकी थी। विजयलाभ का एकमात्र श्रेय गीता को ही है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर व्यासने गीता के १८ अध्याय रखते हुए यह सूचित किया है कि १८ अक्षौहिणी सेना के संघर्ष में इस गीतोपदेश से ही, दूसरे शब्दो में गीता के १८ अध्यायों में प्रतिपादित बुद्धियोग के बल पर ही पाण्डव १८ संख्या से अभिनीत जयलाभ करने में समर्थ हुए।

हम कह चुके हैं कि महाभारतयुद्ध से पहिले भारत पूर्ण समृद्ध था। इसका सब से बड़ा प्रमाण १८ अक्षौहिणी सेना है। जिस राष्ट्र में बात की बात में इतनी सेना एक स्थानपर खड़ी हो जाय, उस राष्ट्र के वैभव का क्या कहना है। पाठकों के अनुमान के लिए हम प्रसङ्गोपात्त अक्षौहिणी का स्वरूप संक्षेप से उद्धृत कर देते हैं।

राज्य की प्रधान अङ्गभूता सेना पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी, अक्षौहिणी भेद से नो भागों में विभक्त मानी गई है। १रथ, १गज, ५ पैदल योद्धा, ३ घोड़े यह सब मिलकर एक पत्ति है। ऐसी तीन पत्तियों की समष्टि (३रथ, ३गज, १५योद्धा, ९घोड़े) एक सेनामुख है। ऐसे तीन सेनामुखो का समुदाय (९रथ, ९गज, ४५योद्धा, २७ घोड़े, एक गुल्म है। ऐसे तीन गुल्मों की समष्टि (२७ रथ, २७गज, १३५, योद्धा ८१ घोड़े) एक गण है। ऐसे तीन गण मिल कर (८१रथ, ८१गज, ४०५ योद्धा, २४३घोड़े) एक वाहिनी है। ऐसी तीन वाहनियो की (२४३रथ, २४३गज, १२१५, योद्धा, ७२९ घोड़े) एक पृतना है। ऐसी तीन पृतनाए (७२९रथ, ७२९गज, ३६४५योद्धा, २१८७ घोड़े) एक चमू है। ऐसी तीन चमू की (२१८७ रथ, २१८७ गज, १०९३५योद्धा, ६५६१ घोड़े) एक अनीकिनी है। ऐसा १० अनीकिनी मिल कर एक अक्षौहिणी कहलाती है।

उक्त क्रम से एक अक्षौहिणी सेना में क्रमशः २१८७० (इक्कीस हजार, आठ सौ, सत्तर) रथ, २१८७० (इक्कीस हजार, आठ सौ, सत्तर) गज, १०९३५० (एक लाख, नौ हजार, तीन सौ, पचास) पैदल योद्धा, एवं ६५६१० (पैंसठ हजार, छस्सौ, दस) घोड़े हो जाते

है । पैदल सेना के अतिरिक्त प्रत्येक रथ, प्रत्येक गज, एवं प्रत्येक अश्व के साथ एक एक रथारोही योद्धा, गजारोही योद्धा, अश्वारोही योद्धा का समावेश और कीजिए । इस क्रम से पदाति योद्धाओं के (पैदल सेना के) अतिरिक्त २१८७० रथारोही योद्धा २१८७० गजारोही योद्धा, एवं ६५६१० अश्वारोही योद्धा और हो जाते हैं । इस-प्रकार अक्षौहिणी के सम्पूर्ण योद्धाओं का निम्न लिखित क्रम हमारे सामने उपस्थित होता है—

१–पत्ति———१ रथ, १ गज, ५ योद्धा, ३ घोड़े ।
२–सेनामुख——३ रथ, ३ गज, १५ योद्धा, ९ घोड़े ।
३–गुल्म———९ रथ, ९ गज, ४५ योद्धा, २७ घोड़े ।
४–गण———२७ रथ, २७ गज, १३५ योद्धा, ८१ घोड़े ।
५–वाहिनी——८१ रथ, ८१ गज, ४०५ योद्धा, २४३ घोड़े ।
६–पृतना——२४३ रथ, २४३ गज, १२१५ योद्धा, ७२९ घोड़े ।
७–चमू———७२९ रथ, ७२९ गज, ३६४५ योद्धा, २१८७ घोड़े ।
८–अनीकिनी—२१८७ रथ, २१८७ गज १०९३५ योद्धा, ६५६१ घोड़े ।
९–अक्षौहिणी—२१८७ रथ, २१८७ गज, १०९३५० योद्धा, ६५६१० घोड़े ।

———०———

१—रथारोही योद्धा—२१८७० (इक्कीस हजार आठ सौ सत्तर)
२—गजारोही योद्धा—२१८७० (,,)
३—अश्वारोही योद्धा—६५६१० (पैंसठ हजार छस्सौ दस)
५—पदातियोद्धा——१०९३५०(एक लाख नौ हजार तीनसौ पचास)

१—अक्षौहिणी—२१८७०० (दो लाख अठारह हजार सात सौ योद्धा)

यह तो उस जनसंख्या का विचार हुआ, जो शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध के लिए सन्नद्ध खड़ी थी। इस जनसंख्या के अतिरिक्त युद्धभूमि में परिकरवर्ग भी अपने प्राणों को हथेली में लिए उपस्थित रहता है। प्रत्येक रथ के लिए एक एक सारथी का होना आवश्यक है। प्रत्येक हाथी के लिए एक एक गजवाहक (महावत) अपेक्षित है। प्रत्येक अश्व के लिए एक एक अश्वपरिचारक (सईस) आवश्यक है। वाहकों के अतिरिक्त रथ एवं हाथियों की सँभाल पर एक एक रथपरिचारक, एवं एक एक गजपरिचारक भी आवश्यक है चिकित्सकवर्ग, कोशप्रबन्धकवर्ग, अन्नवाहकवर्ग, गुप्तचरवर्ग, योद्धाओं का भृत्यवर्ग, शस्त्रास्त्रप्रबन्धकवर्ग, धूम्रास्त्रसंचालकवर्ग, आदि आदि परिकरवर्गों की गणना पृथक् है दो लाख सेना के लिए इस परिकरवर्ग की संख्या भी २५ हजार से कम नहीं मानी जासकती। इस प्रकार एक अक्षौहिणी सेना की जनसंख्या का विचार करने पर निम्न लिखित क्रम हमारे सामने आता है।

१—युद्ध करने वाले योद्धा—२१८७००
२—रथवाहक (सारथी)—२१८७०
३—गजवाहक (महावत)—२१८७०
४—रथपरिचारक——२१८७०
५—गजपरिचारक——२१८७०
६—अश्वपरिचारक——६५६१०
७—परिकरवर्ग———२५०००

—तीन लाख छियानवें हजार सात सौ नव्वे

अक्षौहिणी सेना की जनसंख्या ३९६७९०

इस संख्या को १८ से गुणित कीजिए। कौरव-पाण्डव संग्राम में ८६४२२२०— (सत्तासीलाख बयालीस हजार दोसौ बीस) जन संख्या हो जाती है। जनसंख्या के अतिरिक्त जिस संग्राम में ३९३६६० (तीन लाख तिरानवे हजार छस्सौ साठ हाथी हो, ३९३६६० (तीन लाख तिरानवे हजार छस्सौ साठ) रथ हो, एवं ११८०९८० (ग्यारह लाख अस्सी हजार

नौसौ अस्सी) घोड़े हों, उस संग्राम की, एवं साथ ही में उस युग की समृद्धि का क्या वर्णन किया जासकता है।

दोनों ओर से जब सैन्य संग्रह हो रहा था, उस समय अन्तिम बार शान्ति की चेष्टा के लिए भगवान् कृष्ण शान्ति के दूत बनकर हस्तिनापुर आए भगवान् ने साम–दाम–दण्ड–भेद से दुर्योधन को बहुत समझाया। परन्तु 'हम पांच ग्राम तो क्या बिना युद्ध के सूचिका भर भूमि भी देने के लिये तय्यार नहीं है" यह उत्तर मिला। स्वयं व्यासने पुत्रमोहगर्त्त में पतित धृतराष्ट्र को युद्ध रोकने के लिए प्रेरित किया, परन्तु सारा परिश्रम व्यर्थ गया। भारत के भाल में जो कुछ होना लिखाथा, दोनों ओर से उसी की तय्यारिए होने लगीं। व्यासदेव के—"यदि तुम युद्ध देखना चाहो तो हम तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान कर सकते है" यह कहने पर धृतराष्ट्र ने कहा कि भगवन्! मै इन आंखो से अपने वंश का क्षय नहीं देखना चाहता। आप किसी ऐसे व्यक्ति का प्रबन्ध कर दीजिए, जो मुझे युद्ध की प्रत्येक घटना सविस्तर बतलाया करे। व्यास ने सञ्जय को दिव्यदृष्टि प्रदान की, एवं उन्हे इस कार्य के लिए नियत किया। कुरुक्षेत्र के मैदान में एक ओर ११ अक्षौहिणी सेना, दूसरी ओर ७ अक्षौहिणी सेना मोर्चा बांध कर खड़ी होगई। जब युद्ध के लिए सारी सामग्री उपस्थित हो गई तो धृतराष्ट्र संजय से पूंछने लगे—

धर्म्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय!

——*०*——

बहिरङ्गपरीक्षात्मक–प्रथमखण्ड समाप्त

१

मुद्रक—
श्री बालचन्द्र इलेक्ट्रिक प्रेस,
किशनपोल बाजार,
जयपुर सीटी।